

## शुद्धाशुद्धपात्रका

| पुटम् | पङ्क्ति | अशुद्धम्          | शुद्धम्            |
|-------|---------|-------------------|--------------------|
| 1V    | ५       | तनेय              | तेनेय              |
| "     | १३      | भवेयु             | भूयासु             |
| "     | १५      | दुग               | शृङ्ग              |
| २     | १७      | क्षरीरलभ          | क्षरीरलाभ          |
| ३     | ९       | मुखमाधत्व         | मुखसाधनत्व         |
| "     | ११      | दु खभाव           | दु साभाव           |
| "     | २९      | धर्म              | धर्म               |
| ४     | २३      | ततश्चोपरति        | ततस्ततश्चोपरति     |
| ५     | १९      | परादर्शन          | पारदर्शन           |
| ६     | ८       | समीहितात्मा       | समाहितात्मा        |
| "     | २२      | अस्तीमन्          | अस्तीतिमन्         |
| ७     | ११      | बन्धुरानमता       | बन्धुरानमता        |
| "     | "       | दशन्तो            | दशन्तो             |
| ८     | "       | चिदानन्द          | चिदानन्द           |
| ९     | ९       | प्रत्यातिरस्त्वृत | प्रत्यमातिरस्त्वृत |
| "     | १३      | च्छन्ग            | च्छतग              |
| १०    | ९       | अन्त्या           | आन्त्या            |
| १३    | १०      | समीहितात्मा       | समाहितात्मा        |
| "     | १४      | अखण्डकार          | अखण्डाकार          |
| १५    | १६      | रामादिष्टक        | रामादिपद्व         |
| "     | २४      | मिष्यव            | मिष्येत्पेव        |
| १६    | २१      | यतिनोर्जन         | यतिनोर्जुन         |
| १७    | १       | सोमममृता          | सोमममृता           |
| "     | ४       | आमृता             | अमृता              |
| १९    | १       | सर्वे             | सर्वे              |
| २०    | १४      | प्रगात्मत्वेन     | प्रागात्मत्वेन     |
| २१    | १५      | तीव्रवैराग्य      | तीव्रवैराग्य       |
| "     | १७      | वैराग्य           | वैराग्ये           |
| "     | २४      | माह               | माह                |
| २१    | २८      | सत्त्विवन्        | सत्त्विवन्         |
| २२    | २       | सत्त्विवन्        | गत्त्विवन्         |

| पुटम् | पङ्क्ति | अशुद्धम्      | शुद्धम्       |
|-------|---------|---------------|---------------|
| २०    | २७      | भ्रन्ति       | भ्रान्ति      |
| २४    | ७       | विशेषणानां    | विशेषणाना     |
| २५    | १५      | भवाब्धो       | भवाब्धो       |
| २६    | २१      | तापमाक्षो     | तापमोक्षा     |
| २९    | ६       | गिजेत्यर्घं   | मिञ्जेत्यर्थं |
| ३२    | २६      | योगी          | योगी          |
| ३३    | २५      | भवन्मुखात्    | भवन्मुखान्    |
| ३५    | ७       | सार्यं        | सार्यं        |
| "     | २०      | समुद्धता      | समुद्धृता     |
| ३७    | १३      | त्यय          | त्ययं         |
| "     | २६      | शक्नुयात्     | शक्नुयान्     |
| ३९    | २०      | इति           | इति           |
| ४३    | २६      | यथात्म्य      | याथात्म्य     |
| ४४    | ११      | सपुणो         | मुपुप्तौ      |
| "     | २२      | अविद्यादि-ष्ठ | अविद्यादि     |
| ४५    | ६       | क्षीर्मा      | क्षीर्मा      |
| "     | २८      | उदीयते        | उदीयते        |
| "     | '       | अविहित        | अवहित         |
| ४६    | १८      | सर्व          | सर्व          |
| ४८    | २१      | रक्त्         | रक्त्         |
| ४९    | ११      | मिलितान       | मिलितानि      |
| "     | १२      | क्षभो         | क्षभो         |
| ५०    | १७      | श्रेयो        | श्रेयो        |
| "     | २०      | वध्या         | वुद्धपा       |
| ५१    | २१      | मरणान्त       | मरणान्त       |
| ५३    | १०      | तन्           | तान्          |
| ५४    | २४      | तोषा          | तेषा          |
| ५५    | १२      | दुरात्यज      | दुरात्यज      |
| ५७    | ७       | तदात्म्य      | तादात्म्य     |
| "     | २२      | नृवनपति       | ननुवनयति      |
| "     | २३      | पची           | पञ्ची         |
| ६०    | ९       | पूव           | पूव           |
| "     | २०      | ज्ञान         | ज्ञानु        |

| पुटम् | पङ्क्ति | अशुद्धम्         | शुद्धम्           |
|-------|---------|------------------|-------------------|
| ६१    | १       | घाण              | घ्राण             |
| "     | १२      | कर्तुं           | कर्तुं            |
| ६३    | १६      | समती             | सम्भवती           |
| ६४    | १४      | उपादिनीयत्वात्   | उपपादनीयत्वात्    |
| ६५    | २८      | दर्शयतु          | दर्शयितु          |
| ६६    | २३      | स्वप्न           | स्वप्ने           |
| ६७    | ११      | स्वभाविक         | स्वाभाविक         |
| ६८    | २०      | तादात्म्यभिमानेन | तादात्म्याभिमानेन |
| ६९    | १२      | भोक्तृत्वे       | भोक्तृत्वे        |
| ७४    | १३      | सृष्टिरेषि       | सृष्टेरपि         |
| ७५    | ७       | नोदक             | मोदक              |
| "     | १३      | योजकत्वभावाच्च   | योजकत्वाभावाच्च   |
| ७६    | २४      | भन्त्या          | भ्रान्त्या        |
| ७७    | २१      | किञ्च            | विचित्र           |
| ७८    | ७       | विधातक           | विधातक            |
| "     | १८      | सत्ताराय         | समाराय            |
| ७९    | ९       | मिनिष्टा         | मिष्टा            |
| "     | २५      | जान्याग्या       | जान्याग्या        |
| ८०    | १४      | वृच्छ            | वृच्छ             |
| "     | १९      | उपहृत्           | उपहृत             |
| ८१    | "       | म्यामन           | भ्यमन             |
| ८३    | २       | व्यत्यातु        | व्युत्थातु        |
| "     | २२      | साधारण्य         | साधारण्य          |
| ८४    | १०      | प्रत्यह          | प्रत्याह          |
| ८५    | १४      | प्रवीधे          | प्रबोधे           |
| "     | "       | गर्व             | गर्व              |
| ८६    | १       | नित्यमह          | नित्यमह           |
| "     | ४       | नस्तदात्म्या     | नस्तादात्म्या     |
| ८८    | ५       | कीटना            | कीटाना            |
| ९०    | २८      | कृतीनि           | शृतीनि            |
| ९१    | १८      | वचम्य            | वचम्य             |
| ९३    | १       | वरोनास्यव        | वरोनास्यव         |
| ९५    | १३      | वरीनी            | वरोनी             |

| पुटम् | पङ्क्ति | अनुद्धम्     | शुद्धम्      |
|-------|---------|--------------|--------------|
| २२    | २७      | अन्ति        | आन्ति        |
| २४    | ७       | विशपणानां    | विशपणाना     |
| २५    | १५      | भवाब्धौ      | भवाब्धौ      |
| २६    | २१      | सापमाक्षौ    | सापमाक्षौ    |
| २९    | ६       | किञ्चेत्यर्थ | किञ्चेत्यर्थ |
| ३२    | २६      | योगी         | योगी         |
| ३३    | २५      | भवन्मुखात्   | भवन्मुखात्   |
| ३५    | ७       | माय          | माय          |
| ,     | २०      | समुद्धृता    | समुद्धृता    |
| ३७    | १३      | त्यय         | त्यय         |
| "     | २६      | शक्नुयात्    | शक्नुयात्    |
| ३९    | २०      | इति          | इति          |
| ४३    | २६      | यथात्म्य     | याथात्म्य    |
| ४४    | ११      | नपुंजी       | मुपुंजी      |
| "     | २२      | अविद्यादिभू  | अविद्यादि    |
| ४५    | ६       | क्षीर्मा     | क्षीर्मा     |
| "     | २८      | उदीयते       | उदीयते       |
| ,     | ,       | अविहित       | अविहित       |
| ४६    | १८      | सर्व         | सर्व         |
| ४८    | २१      | रक्त         | रक्त         |
| ४९    | ११      | मिलितान      | मिलितानि     |
| ,     | १२      | नमो          | नमो          |
| ५०    | १७      | श्रयी        | श्रयो        |
| ,     | २०      | बध्मा        | बुद्धपा      |
| ५१    | २१      | मरणान्त      | मरणान्त      |
| ५३    | १०      | तन           | तान्         |
| ५४    | २४      | तोषा         | तेषा         |
| ५५    | १२      | दुरात्मज     | दुरात्मज     |
| ५७    | ७       | तदात्म्य     | तादात्म्य    |
| "     | २२      | नुवत्यति     | अनुवत्यति    |
| ,     | २३      | पत्नी        | पञ्ची        |
| ६०    | ९       | पूव          | पूव          |
|       | २०      | ज्ञात        | ज्ञानु       |

| पुटम् | पङ्क्ति | अशुद्धम्         | शुद्धम्           |
|-------|---------|------------------|-------------------|
| ६१    | १       | घाण              | घ्राण             |
| "     | १२      | वर्तु            | वर्तु             |
| ६३    | १६      | समती             | समवती             |
| ६४    | १४      | उपादिनीयत्वात्   | उपपादनीयत्वात्    |
| ६५    | २८      | दर्शयतु          | दर्शयितु          |
| ६६    | २३      | स्वप्न           | स्वप्ने           |
| ६७    | ११      | स्वभाविक         | स्वाभाविक         |
| ६८    | २०      | तादात्म्यभिमानेन | तादात्म्याभिमानेन |
| ६९    | १२      | भोक्तृत्वे       | भोक्तृत्वे        |
| ७४    | १३      | मृष्टिरेपि       | मृष्टेरपि         |
| ७५    | ७       | नोदक             | मोदक              |
| "     | १३      | योजकत्वभावाच्च   | योजकत्वाभावाच्च   |
| ७६    | २४      | भ्रन्त्या        | भ्रान्त्या        |
| ७७    | २१      | निच              | विचि              |
| ७८    | ७       | विधातव           | विधातक            |
| "     | १८      | ससाराय           | समाराय            |
| ७९    | ९       | मिनिष्टा         | मिष्टा            |
| "     | २५      | जान्थान्या       | जन्थान्या         |
| ८०    | १४      | वृच्छ            | वृच्छ             |
| "     | १९      | उपहत             | उपहत              |
| ८१    | "       | भ्यासनं          | भ्यासन            |
| ८३    | २       | व्यत्थानु        | व्युत्थानु        |
| "     | २२      | साधारण्य         | साधारण्य          |
| ८४    | १०      | प्रत्यह          | प्रत्याह          |
| ८५    | १४      | प्रवीधे          | प्रबोधे           |
| "     | "       | सर्व             | सर्व              |
| ८६    | १       | नित्यमह          | नित्यमह           |
| "     | ४       | नस्तदात्म्या     | नस्तदात्म्या      |
| ८८    | ५       | बोगना            | बोशना             |
| ९०    | २८      | वृत्तीनि         | प्रवृत्तीनि       |
| ९१    | १८      | पचम्य            | पचम्य             |
| ९३    | १       | वत्तगस्थव        | वत्तगस्थव         |
| ९५    | १३      | वरोती            | वरोती             |



॥ ओम् ॥

## प्रास्ताविकम्

लोकानविद्यान्धतमसात् उद्धर्तुमेव कृतावतारो भगवान्  
वासुदेव प्रपन्नायार्जुनाय “अध्यात्मविद्या विद्यानाम्” इत्यध्यात्म  
विद्यामेव सकलविद्यावरिष्ठा प्रत्यपादयत् । साचाध्यात्मविद्या  
वेदशिरोभिरूपनिषद्भिः प्रतिपत्तव्या । तत्र सदिहानाना  
पुरुषाणा सन्देहा वैयासिकशारीरकमीमासानिर्धारितन्यायैरेव  
परिहर्तव्या । उपनिषदा सारसग्रहभूता भगवद्गीता । उपनिषद  
ब्रह्मसूत्राणि, भगवद्गीता, इत्येतत्त्रय भगवान् शंकर परमहंस-  
परिव्राजकरूपधृक् प्रसन्नगभीरैः पदनिगुप्तं व्याख्याय औप-  
निषदमात्मतत्त्व स्फुटं प्राचीकशत् । उपनिषदाद्यर्थपरिशीलनेन  
समेपामेव आत्मतत्त्वावगमनं दुश्शकमिति मन्वानं श्रीशंकरा-  
चार्यं सुलभावगाहान् बहून् विवेकचूडामण्यादीन् प्रबन्धान्  
प्राणैपीत् । विवेकचूडामणिनामायं प्रबन्धः तेषु चूडामणिरिव  
प्रकाशमानः सर्वत्र प्रचुरप्रचुरः समुपलभ्यते । दुस्सहमप्यात्म-  
तत्त्वं करतलामलकवत् तत्र स्फुटीभवति । उपनिषद्भाष्यादिषु  
दुर्लभप्रवेशानामपि अत्र प्रवेशः सुलभः ।

एतादृशस्य ग्रन्थरत्नस्य यदि काचित् प्रामाणिकी व्याख्यापि  
स्यात् तर्हि हेमन् परमामोद इति परिकल्प्य अस्मदाचार्यपादा  
स्फुटप्रतिपत्तये गभीरावगाहाय च व्याख्या काचन व्यरचयन् ।  
व्याख्याया उत्तमत्वविषये नास्माभिः किञ्चिदपि वक्तव्यमस्ति ।  
श्रीचन्द्रशेखरभारतीतिप्रथितप्रातस्मरणीयनामधेया अस्म-  
दाचार्यपादा कृततपश्चर्या सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा शास्त्रोपदिष्टा-  
र्थानुष्ठाननिष्ठागरिष्ठा, अपरोक्षीकृतात्मतत्त्वा, जीवन्मुक्ता

अभूवन्नित्येतदेव व्याख्याया उत्कर्षबोधनायालम् । व्याख्याया  
अपरिपूर्तिं किञ्चिदिव मनस्तोदभावहति । व्याख्यापूरणाय  
आचार्यपादान् कदाचिद्वय प्रार्थयाम । “ वक्तव्या अत्रैव संगृहीता  
निदिध्यासनमन्तरा नाधुनान्यत्र चित्त व्यापृणोति ’ इति आशय-  
माविरकुर्वन् । तनयमपरिपूर्तिं न न्यूनतामावहतोति अस्माक  
मति ।

एतद्ग्रन्थमुद्रणविषये विशेषतः दर्शितश्रद्धान् विहित-  
सेवाश्च श्री एस् वकटश्वरार्यान् (चीफ् कास्ट् अकौन्ट्स्-  
आफीसर्, भारताधिशासनम्) तथा मुद्रणसशोधनादिषु वद्धा-  
दरान् पण्डितराजश्रीरामचन्द्रशास्त्रिणश्च भगवानुमाजानि  
श्रेयासि वितोर्यं परिपालयतु ।

ग्रन्थमिमं सम्यगधीत्य आत्मतत्त्वमधिगत्य सर्वेपि लोका  
कृतकृत्या भवेयु इत्याशास्महे ।

अभिनवविद्यातीर्थं

शुगगिरिजगद्गुरु श्रीचन्द्रशेखरभारती-  
स्वामिना करकमलसञ्जात ।



॥ श्री विवेकचूडामणिः सव्याख्यः ॥

कस्यैव शास्त्रेधिकारात् प्रथमं नरजन्मप्राप्तस्य कथनमुखेन शरीरव्यति-  
रिक्ता-त्मास्तित्वं तावद्धनयति जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमिति ।  
उक्तं च शारीरवभाष्ये 'शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी  
नावदित्वा आत्मनः परलोक-सम्बन्ध-मधिष्ठियते' इति । जन्तूनां जनन-  
शीलानां प्राणिनां नरजन्म भानुष्यकं दुर्लभमिति । तत्र एवेनैव श्रुतं जन्मसु  
प्राप्तव्येषु किल नरजन्म दुर्लभमिति वक्तुमशक्यं, शरीर-सम्बन्धस्यैव जन्म-  
शब्दार्थत्वात् । यदा चैकस्य जनेकशरीरयोगः तदा शरीर-व्यतिरिक्तत्व  
आत्मनः सूचितमेव । प्रसिद्धं खल्वनेकं कुसुमं युज्यमानं मूलं तेभ्योऽतिरिच्यत  
इति, जनेकानि वासांसि त्रयेण युगपद्वा परिदधच्छरीरं तेभ्यो भिद्यत इति च ।  
तथाच सुखहेतुशरीरप्राप्तये दुःखहेतु-शरीरनिवृत्तये च पुण्ये प्रवृत्तिः पापान्नि-  
वृत्तिश्च युज्यत इति, विधिनिषेधात्मक-कर्मशास्त्रे आस्तिकस्यैवाधिकारः ।  
एवं ज्ञानेन सकल-कर्म-निर्हरणार्थं मोक्षशास्त्रेऽपि । यदि शरीरमेवात्मा  
स्यात् तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यश्चोतव्यो नन्तव्यो  
निदिध्यासितव्यः" इत्यादि-दर्शन-साधन-विधानं कथमुपपद्येत ।  
"शुभैराप्नोति देवत्वं निगिद्धैर्नारकी तनुम् । उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां  
भानुष्यं लभतेऽजम्" इति चैकस्यैव शुभाशुभ-मिथकर्मभिः विजातीय-  
शरीरलभः दर्शयति । कथमन्यायां लोकप्रसिद्धं मुखदुःखादिवैचित्र्यमुपपद्यते ।  
यदि कर्मनिरपेक्ष ईश्वर एव काश्चित् प्राणिनः सुखिनः काश्चिदन्यादृशादच-  
सृजेत् वैपम्य-नैर्घृण्ये भजेत् । तथाचेद्वरत्वं हीयेत । तदुक्तं "वैपम्य-  
नैर्घृण्ये न सापेक्षात्वात् तथाहि दर्शयति "न कर्माविभागादिति चेन्नाना-  
दित्वात्" "उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति सूत्रे ईश्वरस्य कर्मसापेक्षात्वं  
समारम्भानादित्वं च । धर्मभूतं ससार एव अनादिश्चेत् तदाश्रयस्य  
ससारिणो अनादित्वं कैमुतिकन्यायसिद्धम् । तत् सिद्धमात्मनः शरीर-  
व्यतिरिक्तत्वम् । शरीरातिरिक्ता-त्मास्तित्ववाद्येवास्तित्वं इति । शास्त्र-  
व्यवहारनिदान-मास्तिक्यं इति जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमित्यनेन  
सूचितं । ततः पुस्तकं, स्त्रियां वेदेधिकाराभावात् । उपनिष-  
देक-समधि-गम्य आत्मा नैव ज्ञातुं शक्यत इत्यभिप्रायः । तत्रापि त्रैविजिकानां  
वेदाधिकार-रत्वेऽपि क्षत्रियवैय्ययो राज्यपरिपालन-कृत्यादिदृष्टाणां  
चित्तविक्षेप-हेतुभूतानां बाह्यव्यापाराणां सत्त्वादपेक्षेण आत्मविचार-  
दुर्घट इति "मुखजानामयधर्मं वैष्णवं लिङ्गधारणं । बाह्यजातोः-

जाताना नाय धर्मो विधीयते ।" इति स्मृत्यनुसारेण ऐदपर्येण ब्रह्म-  
विचार-साधन-सत्यासत्य अनवकाशात् एकस्मिन्नेव जन्मनि ब्रह्माधिगम  
तयोर्दुलभ इति द्योतनार्थं द्विजत्व उक्तं इत्यनुक्त्वा ततो विप्रतत्पुक्तम् ।  
" ब्राह्मणस्य तु देहोय नोपभोगाय कल्पते । इह क्लेशाय महते प्रेत्यानन्त  
सुखाय च " ॥ इति वसिष्ठस्मृत्या वेदविहित-प्रवृत्तिनिवृत्ति-धर्मानुष्ठानेन  
एकस्मिन्नेव जन्मनि ब्रह्माधिगतुं शक्यं ब्राह्मणेनेति भावः । अत एव तस्मा-  
द्वैदिकधर्ममार्गपरतत्पुक्तम् । न केवलं विप्रतया लब्धव्यं लभ्यते, अपितु ता  
लब्ध्वा तद्वृत्तधर्मानुष्ठानेनेति भावः । 'धर्मो विश्वस्य जगत  
प्रतिष्ठा' 'धर्मो पापमपनुदति' इति श्रुत्या धर्मस्यैव सुखसाधकत्वं  
दुःखहेतुपापनिवर्तकत्वं, तन्निवृत्त्या दुःखाभावहेतुत्वं चेति, सुखं मे भूमात्  
दुःखं मे माम्भूत् इति सकलजन-वामनाविषय-सुखदुःखभावरूप पुरुषार्थ-  
साधनत्वं तस्यैवति द्योतयितुं धरतीति धर्मं धियतेऽनेनेति वा धर्मं " इति  
व्युत्पत्त्याजगत्प्रतिष्ठाहेतुत्वं तस्य श्रुतिबोधितं सूचयितुं वैदिकधर्म-  
मार्गपरतत्पुक्त्या धर्ममार्गेत्युक्तं वैदिकधर्मं धर्मत्वेऽपि कर्मशब्देन  
विवक्षितार्थालाभात् । यदि धर्मव्यतिरिक्तं किञ्चित्सुखसाधनं दुःख-  
निवृत्तिसाधनं च स्यात् तत्साधनसंपादनेन सर्वो लोकः सर्वदापि सुखी,  
निवृत्तदुःखश्च स्यादेव । धर्मस्य तु अतीन्द्रियत्वेन शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्  
जनानां तज्ज्ञानस्य शास्त्रमन्तराऽसम्भवात् साधनालाभात् फलालाभ इति  
प्रतिपादयितुं शक्यते । तदुक्तं वैदिकेति । धर्मस्य लक्षणं "चोदना-  
लक्षणोऽर्थो धर्मः" इति जैमिनिमहर्षिणि सूत्रितं यत् वेदप्रमाणवत्त्वं  
तद्वैदिकेति विशेषणेनावगमितम् । नहि वेदं विना प्रमाणात्तरं धर्मविषये  
पदमाधातुमीष्टे तस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षस्य तत्राप्रसरत् । अत एव  
नानुमानं तत्र प्रसरति, प्रत्यक्षमूलकत्वादानुमानप्रवृत्तेः । अत एव वेद-  
व्यतिरिक्तशब्दोऽपि न तं बोधयितुं शक्यति प्रत्यक्षादिनायधारितस्यैवार्थस्य  
लोकिवशब्देन बोधयितुं शक्यत्वात् । स्मृतीनामपि पौरुषेयत्वेन  
पुराणां भ्रमप्रमादादिसम्भवेन वर्तुदोषनिवन्धनाप्रामाण्यकारणा  
अपौरुषेयतया दोषगणानागधितश्रुतिमूलकतयेव प्रामाण्यस्य यत्तद्व्यतया  
वेदव्यतिरिक्तस्य शब्दस्य धर्मोऽस्वतः अप्रामाण्यत्वात् । किञ्च स्मृतिवर्तारो  
वा अतीन्द्रियं धर्मं कथं व्यजानन् ? योगजसामर्थ्येनेति चेत्  
तत्सामर्थ्यं कथं तं सम्पादितम् ? धर्मानुष्ठानेनेति चेन्, न धर्मं कथं

ज्ञात ? अत एव “यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं, यो वै वेदाश्च ग्रहिणोति तस्मै” इति प्रथम सृज्यमानस्य हिरण्यगर्भस्यापि ईश्वरानुगृहीतवेद-मूलकमेव धर्मज्ञानमिति बोधयति श्रुति । वि वनतव्यमितरेणा । अतस्मुच्छ्रुत वैदिकेति । “अव्यक्षा वायुभक्षा” इतिवत् वेदैकभेदेन धर्मस्य बोधयति । अत्र धर्मशब्देन प्रवृत्तिधर्मं निवृत्तिधर्मश्च कथ्येते । उक्त हि गीताभाष्ये “द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्ति-लक्षणश्च” इति ॥

धर्म एव परम साधन नित्यसुखावाप्तौ नान्यदपेक्ष्यमस्तीति धर्म-मीमांसका, तान् कदाक्षयति मार्गेति । तेन परमपुरुषार्थ-साधनीभूत-ब्रह्मसाक्षात्कार साधनवेदान्त-विचारहेतुत्वेन सत्यासरूपनिवृत्तिधर्मस्य तत्साधनवैराग्य - हेतुभूत - चित्तशुद्धिहेतुत्वेन निष्कामकर्मनिष्ठान-रूप-प्रवृत्तिधर्मस्य च अपेक्षितत्व, न तु गाक्षान्निरतिशय मुक्तसाधनत्व तदुभयस्येति सूचितम् । तदुक्त भगवता बादरायणेन “द्वाविमावथ पन्थातौ यत्र वेदा प्रतिष्ठिता । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च प्रकीर्तितः” इति । तथाच ब्राह्मणेन उपनयनानन्तर “वेदो नित्य-मधीयता तदुदित कर्म स्वनुष्ठीयता, तेनेशस्य विधीयतामपचिति काम्य मतिस्त्यज्यता । पाषोष परिधूयता भवसुख दोषोनुसधीयता, आत्मच्छा ध्यवसीयता निजगृहात्तूर्ण विनियम्यताम् ॥ सग सत्यु विधीयता भगवतो भक्तिर्दृढाधीयता, शान्त्यादि परिचीयता दृढतर कर्माशु सत्यज्यताम्” ॥ इति सोपानपञ्चकोपदिष्टं रीत्या ईश्वरार्पणमुध्या कर्म कुर्यानेन चित्त शोधयित्वा विषयेभ्यो विरज्य कर्मेभ्य-स्समुपरमितव्य इत्येतद्वोधितम् । तदुक्त मोक्षधर्मेषु “नैतादृश ब्राह्मणस्यास्ति वित्त यथैवता समता सत्यता च । शील स्थितिर्दण्डनिधानमार्जव तत्तत्कोपरति नियाम्य” इति ॥ विद्वत्त्वमस्मात्पर । तत्र प्रवृत्तिधर्मविषये एव योजना । “यदेव विज्ञया नरोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव बोधयन्तर भवति” इति छान्दोग्यधृत्या त्रियमाण कर्म, तदगभूत-मन्त्रार्थज्ञानपुरस्सर क्रियते चेत् भूयसे फलार्थेति बोधित भवति । तदुक्त तत्रैव भाष्ये “दृष्ट हि लोके षणिकच्छत्रयो पञ्चरागमणिवित्रये षणिको विज्ञानाधिक्यात्फला-धिक्यमिति” । निवृत्तिधर्मविषये “सत्यस्य श्रवणं कुर्यात्” इति विधानात् सत्यासोत्तरकालिक-वेदान्तवाक्य - श्रवणजन्य - पराज्ञानवत्त्व

विद्वत्त्वम् । अस्मात्पर आत्मानात्मविवेचन । इदं ग्रथ एवोत्तरत्र स्पष्ट-  
यिष्यते । तेन मनन युक्तिभिः श्रुतार्थदृढीकरणार्थं-मनुचिन्तनरूप  
सशयभावनानिरासकमुक्तं भवति । ततः स्वनुभव, निदिध्यासनपूर्वक-  
ब्रह्मसाक्षात्कार कथितो भवति । अत एव स्वनुभव इत्युक्तं, विपरीत-  
भावना निवर्तकनिदिध्यासनाभावे श्रवणमननाभ्यां जायमानानुभव  
सौष्ठवं नाश्नुत इति । एतेन शुभेच्छा विचारणा तनुमानसा सत्त्वापत्ति-  
श्चेति ज्ञानभूमिकाचतुष्टयं कथितमासीत् । असंसक्तिं पदार्थाभावना  
तुर्यगात्र, ' ब्रह्मात्मना सस्थिति मुक्ति ' इत्यत्र सस्थितिशब्देन  
वासनाक्षयमनोनाश-सहस्रतस्वनुभवबोधकन व्यजिता । तेन सालोक्य  
सामीप्य-साहचर्य-सायुज्यानां मुख्यमुक्तित्वाभावश्च सूचितो भवति ।  
सगुणविषयकतया तेषां चतुर्णामपि निष्कृत्वात्, परिच्छेदत्रयानून्यत्व-  
रूपब्रह्मत्वस्य सगुणसम्भवात् । ब्रह्मात्मना सस्थिति कल्पित-सकल-  
विधोपाधिसयथ-विधुर-नित्यगुद-बुद्धमुक्त-प्रत्यगभिन्न-परिपूर्णस्वरूपेणाव-  
स्थान कैवल्यमेव मुक्तिः शतकोटिजन्मसु कृते पुण्यविना नो लभ्यते  
इत्यन्वयः ॥

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम् ।

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥३॥

लब्ध्वा कथञ्चित् नरजन्म दुर्लभं,

तत्रापि पुस्त्व श्रुतिपरादर्शनम् ।

यस्स्वात्ममुक्त्यं न यतते मूढधीः,

स आत्महा स्व विनिहत्यसद्ग्रहात् ॥४॥

इतः कोन्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।

दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥५॥

पठन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवता ।

आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्तिं न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेपि ॥६॥

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः ।

प्रवीति कर्मणो मुक्तेः अहेतुत्वं स्पष्टं यतः ॥७॥

ब्रह्मनिष्ठ " " अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान्द्यतवर्ष-मणुप्रमाणात् " इत्यादिश्रुतिभ्यः तादृशादेव गुरोः सशयभावनादि-विरहित शुद्धात्म-बोधस्य सभवात् । युक्तं होतुं, लोकेऽप्यस्माभिरदृष्टो मार्गः दृष्टतन्मार्गे किल बोधनीयः, स्वयमेव कथंचित्त्वोपि, सशयः दृष्टतत्त्वं किल निरसनीयो भवति । तत्र श्रुयजनक-संवादः प्रमाणम् । जन्मातरकृत-सुकृत-परिपाकवशात् स्वयं ज्ञातज्ञेयोपि पित्रानुशिष्टोपि महानुभविनो जनकस्य वैदेहस्य वचनात्किल ब्रह्मणि विधान्तमानसोऽभूच्छुक् इति हि यासिष्ठादो स्मर्यते । तथाच सद्रूपब्रह्माभिन्नत्वात् सद्रूपत्व-देशिकस्य । अत एव महत्त्व-विवेचितकोशपचकत्वात् अपरिच्छिन्नत्वम् । यद्वा शास्त्रोक्त-समस्त-सद्गुणमण्डितत्वं वक्ष्यते हि ' श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्म-विदुत्तमः । ब्रह्मेतु कद्यासिषु बधुररानमता सताम् ॥ ब्रह्मण्युपरतश्शान्तो निरिन्धन इवानलः " इत्यादिगुणजातम् । शिष्येभ्यो ज्ञानं दिशतीति देशिकः, त्रसमुपेत्य-यथाविधि उपसद्य तेन गुरुणा उपदिष्टो योऽयं ब्रह्मरूप-तत्प्राप्तिप्रकाररूपद्वय-तत्रैव सम्यगाहित आत्मा अन्तःकरणेन तावदशस्त्वं विमुक्त्यै प्रयतेत इत्यनेनमुक्तोच्छा विना तत्र प्रयत्नासभवात् मुमुक्षुत्व-ध्वनितम् ॥ उपदिष्टार्थसमाहितात्मेत्यनेन सततं ब्रह्मसमाहितमानसत्वस्य सर्वकर्मसत्यास-विनाऽसभवात् विवेकिना विरक्तेन स्वरूपतः सकल-नर्मसत्यासपुरस्सरं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसद्य सर्वदा ब्रह्मविचारं कर्तव्य-इत्युक्तं भवति ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं ससारवारिधौ ।

योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥९॥

सप्रहेणोक्तमर्थं सप्तभिः श्लोकेर्विवृणोति । तत्र मुक्त्यर्थं त्रिय-माणप्रयत्नस्य सम्यग्दर्शननिष्ठान्तत्वात्, मोक्षसाक्षात्साधनं सम्यग्दर्शन-निष्ठा तत्र मुख्यहेतुः परवैराग्यापरिपर्यायि योगारूढत्वं चाह अनेन श्लोकेन ॥ " यदा हि नेन्द्रियाण्येव न कर्मस्वनुपज्जते । सर्वसकलसत्यासीयोगा-रूढस्तदोच्यते " ॥ इति भगवद्वचनात् परवैराग्यपुरस्सर-सम्यग्दर्शन-निष्ठं ससारविघ्नपतितात्मोद्धरणं हेतुरिति भावः । " क्लेशादिपचन-तरणयुतं ध्रमाद्वयं दाराभजा-स्तथन-वन्धुजापाभियुक्तम् । ओर्वनिन्ध-निजरोप-भनगजालं, ससारमागरमतीत्य हरिं प्रजामि " ॥ समागमागर-

विशाल-करालकाल-ननग्रहग्रसन निग्रहविग्रहस्य। व्यग्रस्य रागनिचयोर्मिनि-  
 योदितस्य लक्ष्मीनृसिंह भयं देहि करावलयम् ॥ इत्यादिरीत्या  
 अविद्यातद्विलासस्वस्य मसारस्य सम्पगृह्णन् विना दुस्तरत्वात्  
 वारिधित्वेन रूपणम् । नहन्नात्मानं देहमात्मत्वेन मन्वानस्य  
 तस्मिन् जायमाने त्रियमाणे वा तद्गतधर्मं स्वस्मिन्नास्तीति विज्ञातुं  
 शक्यं, क्षुत्पिपासायुते वा प्राणे मुखिणि दुःखिनि वान्तकरणे ।  
 एवमविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां राततत्वात् कल्यादिपञ्चकस्य  
 तरगतयो रूपणं, भ्रम एव भ्रम अतस्मिन्स्वद्विरेव आवर्त इत्यादि  
 स्पष्टम् । अनाद्यविद्यावशात् अज्ञ कर्ता मनुष्योहम् ' इत्यादिरीत्या  
 स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरेषु अनात्मनु अहमिति स्वरूपाप्राप्त्या स्थितिरेव  
 ससारवारिधिमग्नत्वम् असंगसच्चिदानन्दस्वस्यात्मनः । तनापि गुप्युप्तौ  
 ससाराननुभवात् अविवेकिमतोरूपोपाधिमूलकत्वमेव वस्तव्यं ससारस्य ।  
 श्रूयते हि ' मन एव मनुष्याणां कारणं बध्नोक्षयोः । बधाय विषयामक्तं  
 मुक्त्यै निविषय स्मृतम् ' ॥ इति अतः विवेचनशून्यस्य मनसः शरीरादि  
 ससक्तत्वं आत्मनः ससारवारिधिमग्नत्वम् । अतः श्रवणमननादि-  
 शास्त्रीय-संस्कार-संस्कृतं मनो यदा भवति तदा भ्रमशून्य आत्मयाथात्म्य-  
 ज्ञानायाप्त्या भवतीति अविवेकिः मनः शास्त्रजन्यविवेकवता मनसा  
 उद्धरेत् अनात्मभ्योऽपनयत् । नयाच्च तस्मिन् पराङ्मुखत्वस्वाभाव्यात्  
 बाह्येषु शरीरादिषु सक्ते वस्तुतोऽसंगस्यापि लोहितस्फटिकवत् ससक्तस्यैव  
 भासमानस्य आत्मनः उपाधरनात्मरावन्धाभावे प्रत्यङ्मुखतयात्मन-  
 माश्रयस्थत्वे च आत्मा उद्धृत इव भवतीति भावः । ससारवारिधीं  
 मग्नमात्मानं योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया आत्मना उद्धरे-  
 दित्यन्वयः । योगारूढत्वं विशदयन्नेव श्रवणमनननिदिध्यासनानि  
 सन्मासोत्तरकालिकानि सम्यग्दर्शननिष्ठावाप्तिसाधनानि तावदाहं  
 सन्यस्येत्यादिना ।

सन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।

यत्प्रतापं पण्डितैर्धौरेकैः आत्माभ्यास उपस्थितैः ॥१०॥

सर्वकर्माणि सन्यस्य कर्मकाण्डोक्तानि स्वरूपतोपि परित्यज्य,  
 भवबन्धविमुक्तये सासारिकबन्धनिवृत्तिहेतुभूतसम्यग्दर्शननिष्ठायै, पण्डितैः

आत्मविषयकपरोक्षज्ञानवद्भिः, धीरे वशीकृतबुद्धिभिः “पराचि खानि  
 व्यतृणत् स्वयभू तस्मात् पराद पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीर  
 प्रत्यगात्मानमेक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ” इति श्रुते ॥ धिय रातीति  
 धीर, प्रधानभूता कार्यकरणसघातमध्ये बुद्धि वशयतीत्युक्ते इतरेन्द्रियजय  
 अर्थसिद्ध । एतेन शान्त्याद्युपेतत्वं सूचितं भवति । अत एव आत्माभ्यासे  
 “तच्चिन्तनं तत्त्वयनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनं । एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासे  
 विदुर्बुधा ” इत्यभियुक्तोक्तिरीत्या अनन्यव्यापारतया श्रुतार्थमनन-  
 तत्त्वयन-परस्पर-प्रबोधनरूप-ज्ञानकाण्डोक्तव्यापारेषु उगस्यते वर्तमानं,  
 विजातीयप्रत्ययतिरस्कृत-सजातीय-प्रत्यय-प्रवाहरूप-निदिध्यासनानुष्ठानेन  
 यत्यताम् इत्यन्वयः । एतादृशस्य पुनः सर्वसकल्पसंन्यासेन परवैराग्या-  
 परपर्याययोगारूढत्वं सिद्धमेव भवत्येवम् ॥ १० ॥ ननु “यावज्जीवमग्निहोत्र  
 जुहुयात् ” “यावज्जीव दशंपूर्णमासाभ्यां यजेत ” “अहरह-स्सध्या-  
 मुपासीत ” “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिज्ञोविषेच्छतम् समा ” इत्यादिश्रुतिभिः  
 यावज्जीव कर्मणः कर्तव्यत्वेन चोदितत्वात् सर्वकर्मसंन्यासे श्रुत्युल्लंघनं प्रस-  
 ज्येतेति चेत्, तासां श्रुतीनां अशुद्धचित्तविषयत्वात् । अत एव “एव त्वयि  
 नान्यघेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ” इतीशावास्यमन्त्रेण नरे नरमात्राभि-  
 मानिनि त्वयि इतः कर्मकरणात् अन्यथा अन्यो मार्गः कर्मलेपाभाव-  
 प्रयोजकः नास्तीत्युक्तम् । “न कर्मणा न प्रजया घनेन त्यागेनैके  
 अमृतत्वमानघु । संन्यासयोगाद्यतयश्शुद्धस्तत्वा ” ॥ “प्लवा ह्येते  
 अद्भुता यज्ञरूपा अप्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येभिनन्दन्ति  
 मूढा जराभृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ” “किमर्था वयमध्वेय्यामहे किमर्था  
 वयं यक्ष्यामहे ” इत्यादिना कर्मसंन्यासस्यापि विहितत्वात् निन्दितत्वाच्च  
 कर्मणः ॥ “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन  
 तपसाज्ज्ञाशयेन ” “योगिनः वरं कुर्वन्ति सगत्यक्त्वाऽऽत्मभुक्षये ” इत्यादि-  
 श्रुतिस्मृत्यर्थपर्यालोचनया विविदिषासाधनत्वं चित्तशुद्धिद्वारा तेषामव-  
 सीयते, ननु सार्वदिवत्वं । तथासति “यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रप्राजेत् ”  
 इत्यादि-संन्यासविधायक-वाक्यव्याख्योपापत्तेः, वर्मनिन्दानुपपत्तेश्च । “अतः  
 एवचाग्नीन्धनाघनपेक्षा ” “वर्मपेक्षा च यज्ञादिश्रुते-रश्वचत् ” इति न  
 सूत्राभ्यां अयमेवार्थो भण्यते । परमपुरुषार्थ-भूतमोक्षार्थत्वं नास्ति  
 कर्मणा, चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानवह्निगत्यमिति, तदिदमाह चित्तस्येति ।



चित्तस्य शुद्धये कर्म ननु वस्तूपलब्धय ।  
वस्तुसिद्धिविचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभि ॥११॥

स्पष्टोय ।

विचारस्य वस्तूपलब्धवद्भूतत्वं दृष्टान्तेन विशदयति सम्यगिति

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्वावधारणा ।

भ्रान्त्योदित महासर्पं भवदुःखविनाशिनी ॥१२॥

महाधारेपतिता रज्जु सप मवान पुरप विन्यत दीपानयनन  
मम्यग्विचाराय वस्तुतत्वं बुद्ध्या भयकम्पादिदुःखं जहातीति प्रतिद्वम ।  
तत्र रज्ज्वा भ्रान्त्या उदित यो महामप तदभव तत्प्रत्ययजन्यं यदुःखं  
तद्विनाशिनी सम्यग्विचारजन्या रज्जुतत्वावधृति । तद्वत् भ्रान्त्या जात  
यदभवदुःखं जन्ममरणप्रयोज्यदुःखं तद्विनाशिनी सम्यग्विचार प्रयोज्या  
तत्वावधारणा आत्मयाथात्म्यावधृति ब्रह्मसाक्षात्कार इति सर्वाणि  
प्रकृतोपयोग्यं दृष्टान्त ॥१२॥

आप्तोक्त्यनुसारेण त्रिमाणविचारस्यैव अथनिश्चयहस्तुत्वम  
नान्यस्य कमण इत्याह । अथस्यति ।

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारण हितोक्तिः ।

न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतं वा ॥१३॥

अज्ञानदोषवशात् स्वयंभ्रान्तस्य पुरपस्य आप्तोक्तिरूपावलम्बनाभाव  
भयकपाद्यनथमनुभवत स्वतो विचारे प्रवृत्तदुलभत्वात् विचारे हितोक्ति  
हेतुकता । हितत्वं च यथाथवक्तृत्वं यदि भ्रान्त पुरप हितोक्त्यनुसारेण  
विचारमविधाय स्नानं वा दानं वा प्राणायामशतं वा नम कुर्वति भ्रम  
निवर्तकापरोक्षप्रमाया अभावे अनथप्रयोजकं भ्रमानिवृत्तं कथं निवृत्ता  
नर्यो भवेदिति भावः । विचारश्च अथयाथात्म्य निश्चयानुकूलो मानसो  
व्यापारः । तथा च हितोक्तिमहस्तु विचारस्यैव अथप्रमाणहस्तुत्व भ्रमस्थल  
प्रत्यक्षसिद्धम् । तथासति प्रकृतेषु श्रुत्याचार्योपदेष्टानुसारेण आत्मविचार  
कृत्वा तदायात्म्य मपरोक्षीकृत्य अनात्माध्यासरूपं ससारादात्मानं मोक्षय  
दित्युपदेशः ॥१३॥

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः ।

उपाया देशकालाद्या सन्त्यस्या सहकारिण ॥१४॥

तत्तत्कर्मणि समर्थस्यैव तत्तत्कर्मफलभोक्तृत्व-सम्भवात् असमर्थस्य तदयोपात् बाह्यदेशकालादे सहकारित्वमात्र, आन्तरसामर्थ्यस्यैव फल-  
दायकत्वमित्याह । अधिकारिणमिति ।

कर्मणा तावत् दृष्टार्थत्वात् “यदाहवनीये जुहोति” “अश्वस्य पदे जुहोति” “प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत” “साय जुहोति” “प्रातर्जुहोति” “वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत” “वसन्ते ब्राह्मणो-  
ग्नीनादधीत” इत्यादिशास्त्रानुसारेण देशकालयोरप्यसाधारण-कारणत्व-  
मङ्गीकर्तव्यम् । यद्यपि ज्ञानस्यापि “यथाऽदृशं तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गधर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।” “इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीत् महती विनष्टि” इत्यादिश्रुत्यनुसारेण मन्युलोक-ब्रह्मलोकयोरेव ज्ञानभूमित्वं प्रतीयते, एव “ऋणत्रयमपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनापकृत्य मोक्ष तु सेवमानो व्रजत्यथ ।” ॥ ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्” इत्यादिप्रमाणानुसारेण ब्रह्मज्ञानान्तरंगभूत-सत्यासत्यापि कालो विधीयत इव प्रतिभाति । अथापि अमुद्विषितो राक्षसराजो विरोचन ब्रह्मलोकं गतोऽपि परमगुरुणा परमेष्ठिना उपदिष्टोऽपि नैवाग्रही-  
षात्मान । ‘ससारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदक्षया । प्रव्रजन्त्यवृत्तोद्वाहा पर वैराग्यमाश्रिता ।’ इति ‘यविवेतरया ब्रह्मचर्यदिब प्रव्रजेत्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्” इत्यादिप्रमाणं वक्ष्यमाण-  
वैराग्यादिसाधन-चतुष्टयमपक्षस्य देशकाली न विवक्षितौ इत्यभिप्रायेण तयोस्मह्वारित्वमुक्तम् ॥ अत एव “विद्वान् सत्यस्तवाह्यार्थमुत्-  
स्पृहस्सन्” इति विवेक-वैराग्ये ब्रह्मात्मनावस्थान-लक्षण-मोक्षसाक्षा-  
द्वेतु-भूतसाम्यदर्शननिष्ठार्यं मोक्षसाधनोपदेश-भूतसदन-गुरुस्सर-तदुप-  
दिष्टार्थमनन्तमाधाने हेतुवृत्ते । एतादृशमनन्तमाधानस्य क्षमदमोपगति-  
तितिक्षा-श्रद्धानामभावे अमभवात् मुक्तीच्छाभावे तदर्थं प्रयत्नामभवाच्च  
“अतो विमुच्ये” इत्याद्यल्लोके विवेक-वैराग्य-शमादिषट्कमुमुक्षुत्वाना  
जिज्ञासा-साधारण-हेतूना मूचनं कृतमेव । तथाच “तरति शोकयान्मनिन्”

“तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिषिच्छेत्” इत्यादिश्रुत्यनुसारेण शोकशब्दित-  
बन्धनायक सम्यग्ज्ञान मद्गुरुपदिष्टार्थ-विचारमन्तरा न वेनापि साधना-  
तरेणेति । इलोके ज्ञप्तामित्यस्य सिद्धावित्यर्थः ॥१४॥

अतो विचार कर्तव्य जिज्ञासोरात्मवस्तुन ।

समासाद्य दयामिधु गुरु ब्रह्मविदुत्तमम् ॥१५॥

अतः सर्वानर्थनिवर्तकनिर्णयहेतुत्वात् जिज्ञासो आत्मानं सम्यग्ज्ञातु-  
मिच्छो पुरपथ आत्मवस्तुन विचार कर्तव्यः । तत्र इतिकर्तव्यतामाह  
दयामिधु स्वयं कृतार्थत्वेन स्वस्य प्रयोजनाभावस्सिद्ध एव, इतरेपि मा  
दु खमनुभूयान्तिकरुणाया रामुद्र, आधारमित्यर्थः, जलराक्षिरिव जलाना,  
गुरुम्, “गुरुद्वन्द्वध्वारस्स्यात् ह्यद्वन्द्वनिरोधकः । अन्धकारनिरोधि-  
त्वात् गुरुरित्यभिधीयते” इति गुरुगीतोक्तरीत्या स्वोपदेशेन अज्ञानाख्य-  
ह्यार्वाङ्धकारहृत्कारमित्यर्थः । यथान्धकार प्रपञ्चमावृत्य तज्ज्ञानप्रति-  
दन्धको भवति एवमज्ञान आत्मानमावृत्य तत्स्पष्टभान-प्रतिदन्धक  
भवतीत्यन्धकारत्वमज्ञानस्य, अत एव तमइत्यादिशब्दैरमिलापरश्रुतौ  
“तमोह्यामीत्, तमसा गूह्यमग्ने” इत्यादौ । एतद्विशेषणद्वयं यत्र सम्भवति  
तमाह ब्रह्मविदुत्तममिति । ब्रह्म विदन्तीति ब्रह्मविदः तेषामुत्तम स्थित-  
प्रज्ञमित्यर्थः । अत्र श्रुतयः पूर्वमुदाहृताः । तत्समासादनं च “तमाराध्य  
गुरु भक्त्या ब्रह्म प्रथमसेवने” इति वक्ष्यमाणरीत्या “तद्विद्विप्रणिपातेन  
परिप्रदनेन सेवया” इति गीतोक्तरीत्या च तस्य स्वात्माभिमुखीकरणमिति ।  
अतो विमुक्तये इत्यष्टमश्लोकस्य इयद्भिः श्लोकैः विवृतिः कृता ॥१५॥

मेधावी पुरुषो विद्वान् ऊहापोहविचक्षणः ।

अधिकार्यात्मविद्याया उक्तलक्षणलक्षितः ॥१६॥

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः इत्युक्तमधिकारिणः प्रकृते  
कथयति मेधावीत्यादिना । “धीर्धारणावती मेधा” इति श्लोकात्  
श्रुतायंभारणक्षमवृद्धिमानुच्यते मेधाऽस्यास्तीति व्युत्पत्त्या मेधावीशब्देन ।  
विद्वानिति अधीत-काव्यसौश्रव्याकरण उच्यते । ऊहापोहविचक्षणः एतेन  
सर्व-मीमामा-मस्कृतबुद्धित्वं गम्यते । यदवाक्य प्रमाणज्ञ इति यावत् ।  
उक्तलक्षण-लक्षित इति अष्टमश्लोकादारभ्य पञ्चदशश्लोकमध्यपाति-

श्लोके समासव्यासाभ्या सूचितविवेक-वैराग्य-श्रमादिषट्क-मुमुक्षुत्वरूप-  
साधन-चतुष्टय-सपन्न इत्यर्थे । आत्मविद्यायामधिकारी आत्मविद्याफल-  
मोक्ष अनुभवितुमर्हतीत्यर्थे ॥१६॥

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिन ।

मुमुक्षोरेवहि ब्रह्मजिज्ञासा-योग्यता मता ॥१७॥

उक्तानि लक्षणानि स्फुटप्रतिपत्तये कोडीवृत्त्याह विवेकिन  
इति । यद्वा उक्त लक्षण जिज्ञासुत्वं ' अतोविचार कर्तव्यो जिज्ञासोरात्म-  
वस्तुन " इत्यन जिज्ञासुरेव मेधाविरवादि-विशेषणविशिष्ट आत्मविद्या-  
फलभाक्, इदानी जिज्ञासाया कस्याधिकार इति चेत् पूर्वं अष्टमश्लोके  
विद्वान् सन्त्यस्तवाह्यार्थ-मुखस्पृहस्तन् उपदिष्टार्थ-समोहितात्मा इति दशम-  
श्लोके धीरै इतिशब्दसूचितस्य साधनचतुष्टय-सपन्निविशिष्टस्य इत्याह ।  
विवेकिन इति । विवेकादिस्वरूप स्पष्टयिष्यते मूल एवोपरिष्ठात् ।  
ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा तत्रावगति-पर्यन्त  
ज्ञान सन्वाच्याया इच्छाया कर्म । अखण्डकारवृत्ति-प्रतिफलित चैतन्य  
जिज्ञासापद-लक्ष्यमाण-विचारस्य फलम् । साभान्यतो ब्रह्मज्ञानस्य  
विचारात्पूर्वमपि सत्वात् एतादृशमिष्ट संपादनीय चेत् " दद्यान्भावसर  
मिचित् कामादीना मनागपि । आमुप्तेरामृते बाल नयेद्वेदान्तचिन्तया "  
इत्युक्तरीत्या सार्वदिक-वेदान्तविचार आवश्यक । " देहात्मज्ञानवज्ज्ञान  
देहात्मज्ञानबाधक । आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छतपि मुच्यते " इत्युक्त-  
ज्ञानजनयितु स एव समर्थ ॥१७॥ एतादृश विचारजननी या इच्छा तत्र  
योग्यता विवेकादि-साधनयुतस्यैव नान्यस्येत्येवकारबोधितमर्थे अन्वयेन  
व्यतिरेकेण च स्पष्टयति । साधनानीति ।

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनोपिभि ।

येषु सत्सर्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति ॥१८॥

लोके यस्य तावत् कार्यत्वेनाभिमत-समानाधिकरणात्यन्ताभाव-  
प्रतियोगित्व स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगि-कार्यत्वाभिमत-सत्त्व  
वा तस्य तत्कारणत्व न सम्भवति । यथा षट्समानाधिकरणात्यन्ता-  
भावप्रतियोगिनी भूत्, मृत्समानाधिकरणात्यन्ताभाव-प्रतियोगिषट्कर्ता वा

सा पटवारणत्व नादनुते। अपितु मृतसत्त्वे घटसत्त्व मृदभावे घटाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकसहचारग्रहवशात् घटवारणत्व भजते। एव विवेकादि-  
चतुष्टयसत्त्व एव सति ब्रह्मणि नितरा स्थितिप्रयोजक-ब्रह्मजिज्ञासाया  
सम्भवात् तदभावे चामभवात् अन्यव्यतिरेक-सहचारग्रहाधीना तेषा  
विवेकादीना सन्निष्ठापरपर्याय-फलपर्यन्त-ब्रह्मजिज्ञासा-कारणत्वावगति  
इत्युक्तम्। मनोपिभि कथितानीति। तत्र मनोपित्व च श्रुतितात्पर्य-  
ज्ञानवत्त्व। श्रुत्यवलम्बनाभावे एतादृशाधिकारिविशेषणाना दुर्ज्ञानत्वात्।  
तादृशाश्च मनोपिण वादरायणप्रभृतय। ते किल “अथातो ब्रह्म-  
जिज्ञासा” इति सूत्रघटकायनब्देन साधनचतुष्टय-सम्पत्त्यनन्तर्यं सूत्रयन्त  
ब्रह्मजिज्ञासाधिकारिण-मेवविध सूत्रयामासु इति शारीरकमीमामाद्याधि-  
करण-तृतीयवर्णक-भाष्यादर्थतोऽवगम्यते। एतादृशविशेषणलभकश्रुतमस्तु,  
“यत्कृतक तदनित्य” इति न्यायवती “तद्यथेहकर्मचिनो लोक क्षीयते  
एवमेवामुन पुण्यचितो लोक क्षीयते” “यो वै भूमा तदमृतम् अतोऽन्यदात”  
“न जायते म्रियते वा विपश्चित्” इत्यादिश्रुति आत्मन नित्यत्व  
अनात्मन अनित्यत्व च बोधयतीतिविवेक-लम्बिका। “परोक्ष्य लोकां  
कर्मचितान् ग्राह्यो निर्वेदमायाघास्त्यकृत कृतेन” “न वा अरे पत्यु-  
कामायेत्यारभ्य आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रिय भवति” इत्यता श्रुति  
अनात्ममाने वैराग्यप्रतिपादिका। शान्तौ दान्त उपरतस्तिष्ठि-  
समाहितश्चन्द्राचितो भ्वाऽऽत्मन्येवात्मान पश्येत्’ इतिश्रुति अमादिपद-  
बोधयति। “न स पुनरावर्तते” इति श्रुति मोक्षस्य नित्यत्व वदन्ती  
तन्नेच्छामादधाति। उपनिषदामर्थवादत्व वदता कर्ममीमांसकाना मते  
एतासा स्वार्थे तात्पर्यनास्तीत्येव ज्ञानसम्भवात् ‘ब्रह्मजिज्ञासितव्यं तत्र  
च एतादृशविशेषणविशिष्टोधिकारीति” ज्ञानस्य दुर्लभत्वात् मनोपिभि  
कथितानीत्युक्तम्। तथाच प्रमाणान्तरानधिगत-कालत्रयावाध्य-परम-  
पुरपार्थ-स्वरूपब्रह्म-प्रतिपादकत्वा-दुपनिषदा तात्त्विकप्रामाण्यस्यात्रैव सम्भ-  
वात् तत्तद्वाक्य-समर्पित विवेकादिविशिष्टस्यैव “सोऽन्वेष्टव्यं स विजि-  
ज्ञासितव्य” इत्यादिवाक्यविहित जिज्ञासायोन्येतेति सर्वं चतुरस्रम् ॥१८॥  
तत्र विवेकिनो विरक्तस्येत्यादिना कथित विवेकादिव नमतो निर्दिशति  
आदावित्यादिना।

आदौ नित्यानित्य-वस्तु-विवेक परिगण्यते ।

इहामुन-फलभोग-विरागस्तदनन्तरम् ॥१९॥

शमादिषट्क-सपत्ति मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ॥

विवेकादौना मध्ये पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तर-हेतुत्वात् क्रम समाश्रित ।  
इदं नित्य इदमनित्यमिति जानान किल अनित्याद्विरज्येत । अत नित्या-  
नित्यवस्तुविवेकाभावे वैराग्य दुस्संपादमिति विवेकस्य वैराग्यहेतुत्वम् ।  
वैराग्यवत एव पुरुषस्य अन्तर्यंहि रिन्द्रिय-निरोधरूप-शान्ति-दान्ती ।  
तत्रापि निरुद्धान्त करणस्यैव बहिरिन्द्रिय-निरोधरूपदम मनस्सम्यग्धाभावे  
इतरेषामिन्द्रियाणा अकिञ्चित्करत्वात् । तर्हि शमोऽस्ति दमस्य स्वत-  
स्सिद्धत्वात् किमिति तस्य साधनकोटि-प्रविष्टत्वमिति चेत्, “ इन्द्रियाणि  
प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन ’ इति गीतोक्तरीत्या बाह्येन्द्रियनिरोधाभावे  
शमस्य दृढत्वाभावात् । जितेन्द्रियस्यैव उपरमशब्दित-सत्यास, तस्यैव  
शीतोष्णादि-द्वन्द्वसहिष्णुत्वरूपा तितिक्षा, तस्यैव बाह्यविशेषाभावात्  
अहृष्यदपयैषाव-स्थान लक्षण समाधान, एतादृशगुण-विशिष्टस्यैव “ ब्रह्मैक-  
मस्ति जगन्मिथ्ये ” त्पुपदिश्यमान-गुरुवेदान्तवाक्य-विश्रवासरूप-श्रद्धा इति  
शमादिषट्कमध्येपि पूर्वापरीभावे कारण सुवचम् । एतादृश किल  
पुरुषधीरेय मोक्षान्यन्न कामयते, तत्र विलम्ब च न सहत इति तीव्र-  
मुमुक्षावान् भवितुमर्हति इत्यभिप्रायेण, आदौ नित्यानित्येत्पाद्याह । तद-  
नन्तर इहामुनफलभोगविराग इति च । तेन विवेकानन्तर्यस्य वैराग्ये  
फयनेन “ तदुदित स्सहि यो यदनन्तर ” इति ग्यायेन विवेक-कार्यत्व  
वैराग्ये उक्तप्रायम् । तदनन्तरमिति उत्तरत्राप्यनुपज्यते वैराग्यानन्तर  
शमादिसपत्ति, तदनन्तर मुमुक्षुत्वमिति ॥१९॥

उक्तसाधनानि विवृणोति । ब्रह्मेत्यादिना ।

ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्येवरूपो विनिश्चय ।

सोऽयं नित्यानित्य-वस्तुविवेक समुदाहृत ॥२०॥

ब्रह्म नित्य जगदनित्यमिति निश्चयसत्त्वेपि दृढ वैराग्य न सम्भवति,  
अनित्यगुणस्पापि प्रायः काम्यमानत्वात् । जगन्मिथ्येत्युक्ते मिथ्याभूतायं  
येनापि न काम्यते । नहि स्वाप्तिन राज्य कामयन्ते राज्यकामपितारः ।

अत वैराग्यस्य नियतमुत्पत्तये ब्रह्म नित्य जगदनित्य मित्यनुक्त्वा ब्रह्म सत्य जगन्मित्येत्याह । विनिश्चय इति विशेषेण निश्चय इत्यर्थकेन निश्चयेऽप्राभाष्य ज्ञानानास्वदितत्वमुक्तं भवति । सोयमिति स विवेकिन इत्यत्र विवेकविशेषणत्वेनोक्तं, अथ आदौ नित्यानित्यवस्तु-विवेक इत्युक्तं इत्यर्थः । अस्त्येव ऐहिकामुष्मिन् फलभोगविरागहेतुत्व नियतमिति समुदाहृत इत्यत्र समित्युपमर्गेण द्योतितम् ॥२०१॥

विवेक निरूप्य वैराग्य निरूपयति । तद्वैराग्यमिति ।

तद्वैराग्य जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः ।

देहादि-ब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोग्यवस्तुनि ॥२११॥

ऐहिकदेहादि-भोग्यवस्तुन दर्शनं न आमुष्मिक दिव्यदेहादि-भोग्य-वस्तुन श्रवणेन, आदिपदेन दृष्टजातीयस्य श्रुतजातीयस्य अनुमानेन । अनुभूयमानं शरीरप्रभृति-ब्राह्ममानेन गतवपजीवि-ननुदश भुवनाधिपत्या-वच्छेदकं हिरण्यगर्भं शरीरपर्यन्तं सर्वस्मिन् भोग्यवस्तुनि अनित्य मिथ्याभूते या जुगुप्सा वदपोदृशपदार्थ-सम्बन्धो माभूदिति काकविष्टायामियासह्य-बुद्धिः तद्वैराग्यम् । गैत्य हि यत्ता प्रकृतिर्जलम् इतिवद्विषय प्राधान्यात् नपुमकनिर्देशः तदिति । स्वदेहागुचि गधनं न विरज्यत य पुमान् । वैराग्यधारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यताम् सततं प्रयाहमानं वृषभं अश्वं त्वरैर्गजं महिषं । हा कष्टं क्षुत्क्षामं श्रान्तेर्नो शक्यते वक्तुम् ' तद्यथह वमचितो लोक क्षीयते एवमवामुत्र पुण्यचितो लोक क्षीयते ' ' भूमनोन्यदार्तम् क्षीण पुण्य मयलोकं विशन्ति ' ' आग्रह्य भुवनाल्लोकः पुनरावर्तनोर्जनं ' सूतसहिताया यज्ञवैभवखण्डे सप्तदशो-ध्याय, सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारसंग्रहस्या ' कुक्षौ स्वमातुर्भलमनमध्य ' इत्यादिना ' पुण्यक्षये पुण्यकृतो नभश्चै निपात्यमानान् शिथिलीकृतागान् । गक्षनरूपेण दिवश्च्युतास्तान् विज्याय कोवा विरति न याति ' ' यथास्ति लोके गतितारतम्य ' इत्यन्तादिव श्लोका वैराग्यविषयजुसधया । मानुषदेहादे रोगालुपप्लुतत्व, पशवादीनामत्यन्तं पारतश्य मूलत्वादि, देवाना राक्षसादिपीडितत्व, शब्दादीना विषयाणां बहुविधानर्थप्रदत्व कुरगादिदृष्टान्तं अनुसन्दधानस्य सर्वानात्मसु जुगुप्सा मूलभेति भावः । एतच्च "शब्दादिभिः पञ्चभिरेवे" त्यादिना स्वयमुत्तरनस्पष्टगिष्यते ।

यद्यपि “अपाम सोमममृता अभूम” “अक्षयं ह वै चानुर्मास्पयाजिनस्मृकृतं भवति” इति श्रुत्यवलोकनेन कर्मफलस्यापि नित्यत्वं प्रतीयते । अथापि “यत्कृतकं तदनित्यं” इति न्यायसहकृत, तद्यथेह कर्मचितेत्यादिश्रुत्यनुसारेण आमृताक्षय्यपदयोः सकृच्चित्तार्थकत्वस्या-वश्यंबन्तव्यत्वात् न दोषः । उक्तं हि “आभूतसप्तद्वं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते” इति ॥२१३॥

शमस्वरूपं ब्रवीति विरज्येति ।

विरज्य विषयव्रातात् दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।

स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसश्शम उच्यते ॥२२३॥

आद्यन्तवत्त्व-बहुवित्तव्ययायाससाध्यत्व-परिणति-विरसत्वादि-दोषान् पुनः पुनः विषयेषु पश्यत पुरुषस्य तत्र वैराग्यं नियतमिति विषयदोषदर्शनं वैराग्यहेतुरिति । तस्मिंश्च वैराग्ये सति मनस्स्वलक्ष्ये सगुणे निर्गुणे वा नियतमवतिष्ठमानं निश्चलं निर्विकारं भवतीति मनोनियतावस्थारूप-शमस्य वैराग्यजन्यत्वमाह विरज्येति । तत्र त्वया उत्तरकालिकत्वस्य बोधनात् वैराग्यजन्यत्व बोधितं भवति ॥२२३॥

दमं निरूपयति विषयेभ्य इति ।

विषयेभ्य परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।

उभयोपामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ॥२३३॥

मनसं विषयविचार-सामर्थ्यसत्त्वात् स्वत एव विरज्येत्युक्तम् । बाह्येन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां ज्ञानकरणानां, बाष्पादीनां कर्मकरणानां च त्वतस्तत्र सामर्थ्याभावात् प्रग्रहस्थानीयेन मनसा अश्वस्थानीयानां बहिरिन्द्रियाणां शब्दाविरूप-विषयमार्गैः परावर्त्य पराश्रयग्रीवकृत्य स्व-स्वगोलके कर्णशष्पुली-वदनादि-देशेषु स्थापन उपरतव्यापारस्तामम्पादनं यत् स दमः परिकीर्तितः । मनसादीनां प्रग्रहादिरूपत्वं कटोपनिषदुक्तम् “आत्मानं रथिनं विद्धि परीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिविद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान्” इति । मार्गान्तिपर्यः ॥२३३॥

दमरूप-बहिरिन्द्रिय-निग्रहमाध्यानुपरतिमाह बाह्येति ।



वाह्यानालम्बन वृत्तेरेपोपरतिरुत्तमा ॥२४॥

तटाकोदनस्य तटाकछिद्रद्वारा निर्गत्य यथा क्षेत्राद्यात्मना परिणाम ,  
एवमन्तस्यस्य मनस श्रोत्रादिछिद्रद्वारा बहिरागत्य शब्दादिविषयाकारेण  
परिणामरूपा वृत्तिर्जायते । निगृहीतेषु च बहिरिन्द्रियेषु अन्तस्य मन  
न बाह्याकारेण परिणमत इति भाव ॥२४॥

यदा बाह्य नालम्बते चित्त तदा शीतोष्णादि-द्वन्द्वस्य अप्रतीय-  
मानत्वात् बर्मेकालादिवशात् तत्प्रसक्तावपि तत्सहनरूपा तितिक्षा  
मिदृशनीत्याह । सहनमिति ।

सहन सर्वदुःखाना अप्रतीकारपूर्वकम् ।

चिन्ताविलापरहित सा तितिक्षा निगद्यते ॥२५॥

कम्बलव्यजनादिभि रौत्यूष्ण्यादि-दुःखप्रतीकार लोकसिद्ध ।  
तादृश-सामग्र्यभावे विमग्नाभिर्दानं करणीयमिति चिन्ता, प्रलापश्च ।  
विचारसाधन-तितिक्षामास्तथात्व व्यावर्तयति अप्रतीकार-पूर्वक चिन्ता-  
विलापरहित यत्सहन सा तितिक्षेति । दुःखानां दुःखहेतु-शीतोष्णादीना-  
मित्यर्थः । चिन्ताविलापादि-सहितस्य मनस विचारस्य दूरापास्तत्वा-  
दिति भाव ॥२५॥

इदानीं वस्तूपलब्ध्यसाधारण-कारण श्रद्धा निरूपयति । शास्त्रस्येति ।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुध्यावधारणा ।

सा श्रद्धा कथिता सद्भि यया वस्तूपलभ्यते ॥२६॥

लोकेऽपि आप्तवाक्ये विश्वासाभावे नैव तदनुसारेण प्रवर्तते पुरुष  
विचारादौ । किमुतातोन्द्रिये शास्त्रार्थं, अतः सा परमकारण । उक्त  
हि गीताया “अश्रद्धधाना पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप । अप्राप्य मा  
निवर्तन्ते मृत्युससार-वर्त्मनि ।” इति । यस्तावत् शान्तो दान्त उपरत-  
स्ति तिशुश्च न एव “ब्रह्मैवमेव सत्यं तदेन त्व अन्यत्सर्वं मिथ्या ” इति  
गुरुणा वेदान्तैश्च बोध्यमानं वस्तु विश्वसिति इदमेवमवेति । नान्यन्तादृश-  
साधनहीन इति श्रद्धा तदनन्तर परिगणिता गुणवेदान्त-बान्धवविपयिणी ।  
शास्त्रं तत्त्वमस्यादिशास्त्रं गुरुवाक्यं तदनुसारि “नासित्वं ससारी किन्तु

नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव पर ब्रह्मैव अन्यत्तार्थं मिथ्या " इत्यादिवाक्य, तस्य, सत्य अवाधितार्थबोधक इतिबुद्ध्या, अवधारणा दृढविश्वास, यया वस्तुफलभ्यते सा श्रद्धा इति मद्भिः कथितेत्यन्वय ॥२६॥

एतादृश-श्रद्धावतएव समाधानं सम्यक्सिद्धमतीति तदनन्तरं समाधानं निरूपयति । सम्यगिति ।

सम्यगास्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्माणि सर्वदा ।

तत्समाधानमियुक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥२७॥

यद्यपि स्वलक्ष्ये नियतावस्थारूप-गमापेक्षया भेदो न लक्ष्यते इदंशे समाधाने, " तथापि मूढमूढं बोधदृष्ट्या विषयंभ्यो विरज्य स्वलक्ष्ये नियता-वस्था " इत्यनेन " यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यतत् आत्मन्येव यश नयेत् । " इति गीतोक्तरीत्या समावस्थाया प्रयत्न-विशेषोऽपेक्ष्यते सकल्प-विकल्पात्मकस्य मनसः स्थिरीकरणे । अत एवात्र अध्यवसायात्मिकाया बुद्धेः शुद्धे चन्द्राणि सम्यगास्थापनं सर्वदा इत्यनेन-सकल्प-विकल्प-विनिर्मुक्तत्वं अन्तःकरणस्य प्रवृत्ते कथितं भवति । अत एव मनश्शब्दं विद्याय निगंयात्मक-वृत्तिमद्बुद्धि-शब्दं प्रायोजि । तथापि शुद्धे ग्रहणीति निर्गुणं कथ्यते सर्वोपाधिनिर्मुक्तम् । शमनिरूपणावसरे स्वलक्ष्ये नियतावस्थेत्यनेन सगुणे नियतावस्थानेपि शान्तत्वं मनसो वक्तुं शक्यम् । शम इति साधनं कथ्यते, समाधानं तस्य फलं तस्यैव परिपाक इति यावत् । लोके बालका विशेषतो म्दन्ति चेत् तदिष्टं दत्त्वा समादधते जनाः, तद्वत् मनसो यद्येष्टं विषयमार्थं-सत्करणं न गमाधान-मित्याह न तु चित्तस्य लालनमिति । यथा " धुभाधुभाम्या मार्गाम्या पहन्ती वामनासरिम् । पौरयेणप्रयत्नेन योजनीया धुभे पथि " । अशुभेषु समाविष्टं धुभेत्वेपावतारयेत् । स्वमनःपुण्यायेन बलेन बलिना वरः । अशुभाञ्चालितं याति धुभः तस्मादधीतरत् । जल्लोस्त्रितं तु निगुप्तं तस्मात्तज्जालयेद्दलान् । समतासान्त्वनेनागु न द्रागिति धनेश्वरः । " पौरयेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालनम् " । इति वार्मिष्ठरीत्या चालनं लालनं वा शमादिसाधनत्वेन पूर्वमपेक्ष्यते । न तु पश्येभूतगमाधाना-वस्थाया, तदाभ्यासं विनापि शमादिमपादनशाले वृत्तप्रयत्नेनैव क्षीण-

वाह्यवासनस्य मनसः सगुणात्प्रच्यावनमात्रस्य निर्गुणे स्थापयितु-  
मपेक्षितत्वात् इति ॥२७॥

एतादृश-माधनगण-मण्डितस्यैव मुमुक्षुत्व सम्भवति नान्यस्येती-  
दानी मुमुक्षुत्वमाह अहकारादिति ।

अहकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञान-कल्पितान् ।

स्वस्वरूपावबोधेन मोक्षतुमिच्छा मुमुक्षुता ॥२८॥

“अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि । अहमित्यभिभावेन  
तिष्ठत्याभास-तेजसा । अहकारः स विज्ञेयः ” इत्युक्त्या चित्प्रतिफलतो-  
पेत-मन्तःकरण-अहकारः । यद्वा भोक्ता जीवोहकार आनन्दमयकोश-  
नामा, स्वात्मनिर्हणने “सुप्तिगतं भ्रुक्षलेन अभिमनुते सुखीभवामीति ।  
आनन्दकोशनामा सोहकारः कथं भवेदात्मा ” इत्युक्तत्वात् । तस्या-  
प्यज्ञानकल्पितत्वं मनोरूपोपाधिवशाद्विकास्त्वं च गौणं वक्तुं शक्यम् ।  
तथाच आनन्दकोश-प्रभृतिविज्ञानमय-मनोमय-प्राणमयाक्षमयास्तान् बन्धान्  
स्वरूपसाक्षात्कारात्प्रगारमत्वेन मन्यमानान् स्वस्वरूपावबोधेन मोक्ष-  
तु पुनस्तत्र यथाऽहन्ता न स्यात् तथा त्यक्तुं बाधितुमित्यर्थः । या इच्छा  
सा मुमुक्षुता । स्वस्वरूपावबोधे हि “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन  
कं पश्येत् ” इति श्रुत्या स्वव्यतिरिक्तस्य कस्यापि भानाभावेन कोश-  
पञ्चात्मक-बन्धनिवृत्तिरत्यन्तमिति भावः ॥२८॥

इयं तावत् मुमुक्षुता त्रिविधा मन्दा मध्यमा प्रवृद्धा चेति ।  
मोक्षस्य नित्यसुखरूपवैशिष्ट्यं सामागिक-वामना-वासितात् करणानां  
मोक्षेच्छैव दुर्लभा । अध्यात्मशास्त्र-श्रवणकाले जातासा न कार्यमादधाति ।  
यदा पुरुषः श्रवणानन्तर-जातविवेकेन विषयेषु सासारिकेषु दोषान् दर्श-  
यन् तत्र वैराग्यं लब्ध्वा विधिवत्स्वन्यस्य सर्वकर्मणि, विचारार्थं गृह्य-  
सदनादीं प्रवर्तते तदा, अध्यात्मशास्त्र-श्रवणकाले जाता सात्कालिकयैव  
मुमुक्षुता मन्देति नामार्हेव मध्यमत्वे प्राप्नोति । यथा यथा क्षीत्रं वैराग्यं  
मनश्चोपशान्तं समाधिस्मिति गुरुरवास्मिन्प्रसीदति “क्षिप्रमयं तरतु  
भवाच्चिर्मति ” तदा पुरुषः नित्यसुखरूप-मोक्षादन्यन्न वामयते तत्र विलम्ब-  
श्च न सह्य इति प्रवृद्ध-मुमुक्षुः मुत्स्याधिकारी भूत्वा क्षिप्रं लभते  
फलमित्याह । मन्देति ।

मन्दमध्यम-रूपापि वैराग्येण शमादिना ।

प्रसादेन गुरोस्सेय प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥२९॥

इत्य च मुमुक्षाया मोक्षेच्छारूपत्वेपि यदा सा प्रवृद्धा तदैवफल  
प्रभूत इत्यनेन तत्प्रवृद्धार्थ विषयवैराग्य-शमादिपद्व-गुरुप्रसादलाभार्थं  
प्रयत्न कर्तव्य पुरुषेणेत्युक्त भवति ॥२९॥

साधनचतुष्टयमध्ये द्वितीयतुरीयसत्त्वे सर्वं तन्नास्ति नान्यथेत्याह ।  
वैराग्यमिति ।

वैराग्य च मुमुक्षुत्व तीव्र यस्य तु विद्यते ।

तस्मिन्नेवाधेयन्त स्यु फलवन्त शमादय ॥३०॥

अथेवन्तश्शमादय इत्यत्र शमादयइत्यस्य शमादिशब्दा इत्यर्थ ।  
तस्मिन्पुरुषे शमादयस्सन्तीति व्यवहारस्साधक इति भाव । अय शान्तो  
दान्त इत्यादिशब्दभाक् तीव्रवैराग्यवान् तीव्रमुमुक्षुतावाञ्छेत्यर्थ तीव्र-  
मुमुक्षुत्वस्यैव शमादिफलत्वात् । यदि तीव्रमुमुक्षुत्व तदा साधन विना  
फलालाभात् कार्यात्कारणमनूमीयत इति शमादिमत्व तस्य सुबच ।  
एव शमादिमाधन तीव्रवैराग्य यदा तस्मिन्नायते, साधने सतिपालावश्य-  
भावात् शमादिमत्व तस्मिन्नवर्जनीयम् । इत्य च शमादिसाधने सति  
तीव्रवैराग्यशमादिफले च तीव्रमुमुक्षुत्वे स्वसाधन-फलमध्यवर्ति स्वय  
निरपवादमिति भाव । तीव्रवैराग्ये शमादिशब्दा अर्थवन्त, तीव्र-  
मुमुक्षुत्वे शमादय फलवन्त इति विभाग । शमादीना इतरान्त करण-  
निष्ठाना दुर्ज्ञानित्वात् कारणवायोभ्या अवगन्तव्यत्वमुक्तम् । स्वयमपि  
पुरषेण शास्त्रादिक समपादीति कथ ज्ञेय इत्युक्तौ पुष्पलकारणे तीव्र-  
वैराग्ये विदिष्टफले तीव्रमुमुक्षुत्वे च सति तथेति स्वस्मिन् परस्मिन्च  
कारणवार्थे आपके इति भाव । "कावस्य विष्टावदत्ताह्युद्धि-भोग्येषु  
सा तीव्रविरक्तिरिष्यते । विरक्तिनोद्यत्व-निदानमाहु भोग्येषु दोषेशनमेव  
सन्त." इति वैराग्ये तीव्रत्व तत्साधन च कथित सख्येदान्त-तिदान्त-  
सार-संग्रहे । मुमुक्षुत्वे तीव्रत्व प्रवृद्धत्वमेव । तत्तु प्रागभिहितम् ॥३०॥

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्व-मुमुक्षयो ।

मरो सल्लिखत्तश्च शमादेर्भाविमात्रता ॥३१॥

यत्र यस्मिन्पुरुषे एतयो विरक्तत्वमुमुक्षयो मन्दता तात्कालिकत्व  
मरो सलिवत्, निदाघसमये मरुभूमौ चण्डकिरणसपर्कं दूरस्थस्य तत्र  
जलमस्तीति भ्रान्तिर्भवति न जललाभे तत्र नैव पिपासानिवृत्तिः, प्रत्युत  
भ्रान्तस्य तत्र जलधिया जलार्थं गमनेन श्रमाधिक्यमेव, तद्वत्तीव्रवेराग्य-  
मुमुक्षत्वयो-रभावे मरुसलिलवत् श्रमादेस्तत्र भानमानता न श्रमादिफल  
तस्य, नापीतरं शान्त इत्यादिष्वर्द्ध-व्यवहिते च इति भावः ॥३१॥

एव सर्वेषां वेदान्तानां अद्वितीय-ब्रह्मणि प्रत्यगभिन्ने नित्य-  
शुद्धबुद्ध-मुक्त-स्वभावे सात्पर्यनिर्णयानुबूल-व्यापाररूप-श्रवणात्मक-ब्रह्म-  
विचाराधिकारिणो विशेषणानि विवेकादीनि निरूप्य आत्मसाक्षात्कार-  
साक्षात्साधनं भक्तिं पूर्वोक्तविचारसाध्यामाह । मोक्षेति ।

मोक्षकारण-सामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी ।

स्वस्वरूपानुरागधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥३२॥

स्वस्वरूपानुसधानमिति निदिध्यासनमुच्यते । तस्यैव साक्षात्कार  
प्रति साक्षात्साधनत्वात् । श्रुत्याचार्योपदेशेन स आत्मा तत्त्वमसीति  
श्रुतं योर्थं तव स्वरूपं ब्रह्म तदेव त्वमिति, तदनुसधानं तद्भावनाधारा  
विजातीय-प्रत्ययातिरिक्त-मजातीय-प्रत्यय-प्रवाहरूपा साक्षात्कारे असा-  
धारण कारणमिति भावः । श्रमादीनां विचारद्वारक-निदिध्यासनद्वारा  
कारणत्वं ज्ञाने, अस्य तु साक्षादिति भावः । अत एव मोक्षस्य कारण  
अभिव्यजकं यज्ज्ञानं तत्सामग्र्या तत्साधनसमुदायमध्ये भक्तिरेव गरीयसी  
साक्षात्कारणत्वादित्युक्तम् । सा च सामग्री विवेकादिनिदिध्या-  
सनान्ता ॥३२॥

अपरेया मतमाह ।

स्वात्मतत्त्वानु-सधानं भक्तिरित्यपरे जगु ॥३२॥

स्वात्मन स्वस्य जीवस्य तत्त्वानुसधानं । तस्य भावस्तत्त्वम्  
तत्त्वदवाच्यार्थत्वम् परमात्मत्वमित्यर्थः । तस्यानुसधानं, वास्तविकभेद-  
सत्वेऽपि अभेदेनोपामनं अहङ्ग्रहोपामनमिति यावत् । तत् भक्तिरिति  
अपरे जगु इति भेदबुद्धिपुरुस्सरायां भक्तिरूपाया अस्या मुख्यभक्तित्व  
नास्तीति सूचितम् ।

पूर्वोक्त-साधनसपन्नस्य कृत्यमाह । उक्तेति ।

उक्तसाधनसपन्न तत्त्वजिज्ञासुरात्मन ।

उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्वन्धविमोक्षणम् ॥३३॥

उक्तसाधनसपन्न उक्तानि विचारसाधनत्वेन कथितानि यानि विवेकादीनि साधनानि तैः सपन्नं युक्तं, पुमानिति शेषः । आत्मन स्वस्य तत्त्वज्ञातुमिच्छुः स्वयायात्म्यज्ञानकाम उपसीदेत् शरणं गच्छेत्, कः ? गुरुमुपदेशकम् । कीदृशम् ? प्राज्ञं, प्रकृष्टा निरतिशया ज्ञा अवगति प्रज्ञा ब्रह्मासाक्षात्कार "ब्रह्मात्मनोऽशोऽधितयो-रेकभावावगाहिनी । निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते" इति वक्ष्यमाणत्वात् । सास्यास्तीति प्रज्ञं स एव प्राज्ञः, तं ब्रह्मनिष्ठमित्यर्थः । तेन स्वस्य फलमाह । यस्मादादृशगुरोः सत्ताशात्, बन्धविमोक्षणं बन्धस्य अज्ञान-बाल्पतास्य अहंकारादिदेहान्तस्य विमोक्षणं विशेषेण परिन्याग इति । तादृशगुरुपसदने तदुपदेनजन्म-स्वस्याथात्म्यज्ञानेन बन्धनिवृत्तिरूपमोक्ष-स्तिष्ठति इति भावः ॥३४॥

तादृशं गुरुं लक्षयति, श्रोत्रिय इत्यादिना ।

श्रोत्रियोऽयुजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मविदुत्तमः ।

ब्रह्मण्युपरतश्शान्तो निरिन्धन इवानलः ॥३४॥

"श्रोत्रियश्छन्दोधीतः" इति पाणिनिनाऽनुशिष्टत्वात् अधीतोप-निपत्य इत्यर्थः । उपनिपदमधीत्य वृत्ततदर्थ-विचारस्यैव साक्षात्कार-हेतुत्वात् । अयुजिनः निष्पाप इत्यर्थः "नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो बापि प्रज्ञानेनैन-माप्नुयात्" इति श्रुतेः । तत्र कारणमाह अवामहत इति । कामेन विषयाग्न्या हतं कामहतं अभासितस्वस्वरूप इत्यर्थः । न कामहतं अवामहतं यस्तावत्स्व-रूप आनन्दं न जानाति स एव बहिरानन्दोस्तीति तं प्राप्तुं वदन्तित्यापमपि कुर्यात् । अस्य तावत् ब्रह्मवित्तमस्य साक्षात्त्रियमाण-स्वरूपानन्दत्वान् "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिना । रमवर्जं रमोप्यस्य परं दृष्ट्वा नियन्ते" इति गीतोक्तरीत्या निवृत्तरागत्वरूपकामहतं च मिथ्यत्वेनैवति निष्पापत्वं तस्मिन् । कामस्यैव पापहेतुवान् । तदुक्तम् गीतायु "अप

नमस्कार-सत्यादसवहन-तदुक्तकरणादीनि नैस्तमाराध्य ससेव्य, ऋज्व्या  
तया सेवया प्रसन्न स्वाभिमुख त अनुप्राप्य यथासमयनिर्देश तत्तन्निधौ यथा-  
विधि स्थित्वा आत्मन जातव्य यज्जिज्ञासित आत्मयाथात्म्यविषये  
तत्पृच्छेत् । भक्त्या प्रह्व प्रथमसेवनैराराध्य इत्यनेन आराधयितु-र्मनसि  
यचसि कायेच शुद्धस्वरूप-त्रिकरणशुद्धिर्हता ॥३६॥

भक्तिपुरस्सर-वार्चिकाराधन-प्रकार दयया दर्शयति भगवान्  
जिज्ञासुभ्य । स्वामिघ्नमस्ते इत्यादिना तया वदन्तमित्यन्तम् ।

स्वामिघ्नमस्ते नतलोकवन्धो कारुण्यसिन्धो पतित भवाद्व्यौ ।  
मामुद्धरात्मीय-कटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्य-सुधाभि-  
वृष्ट्या ॥३७॥

नतलोकवन्धो नताना कृतनतीना लोकाना जनाना वन्धु दुःख-  
मोचक तस्य सबुद्धौ नतलोकवन्धो, स्वामिन् प्रभो, ते तुभ्य नमः, प्रह्वीभाव  
अस्तिवति ज्ञेय । यतरन् नतलोक दुःखमोचक अतस्त्वा दुःखमुक्त्यै  
नमामीति भावः । तत्र हेतुमाह कारुण्यसिन्धो इति सबोधनेन । विद्वत्तमेतत्  
अहेतुक-दयासिद्धिरित्यत्र । स्वकीय दुःख निवेदयति भवाद्व्यो पतित,  
जन्मजरारोग-मरणानर्थ-सबुद्धे ससारसमुद्रे पतितमित्यर्थः । इदानीं  
तन्निवृत्तिं प्रार्थयते मामुद्धरेति । जन्मादि-वन्धनिर्मुक्तं कुर्वित्यर्थः । तत्र  
साधनं याचते आत्मीयकटाक्षदृष्ट्येति । स्वकीयलोचन-प्रान्तेनेत्यर्थः ।  
ब्रह्माक्षात्कार-निर्धूत-मवल-मलत्वं भवत पवित्र-कटाक्षपाते सवलपाप-  
निर्मुक्तोऽससार-भाग्यं तरामीति भावः । उक्तं हि "यस्यानुभवपर्यन्ता  
बुद्धिं सत्त्वे प्रवर्तते । तद्बुद्धि-गोचरास्सर्वे भुव्यन्ते सर्वत्रिरपि "   
इति । एतेन शिष्येण गुरोस्साक्षात्पुर न स्वैयमिति विनयप्रकारो दर्शितो  
भवति । किञ्च सम्पूर्णवलोकनं कटाक्षपात एव अतस्तत्कामयेत्यपि  
भावः । नित्यमुद-ग्रहानन्द-ममनस्य मनसि चक्षुःप्रान्तद्वारापूर्णतया मयि  
पाते सर्वथापि पूतं दुःखविमुक्तो भवेयमहम् इति भावः । यद्वा आत्मीय-  
कटाक्षदृष्ट्या स्वकीय-सान्प्रहमीक्षणनेत्यर्थः । ऋज्व्या स्वभावसरलया,  
सद्विरोपणेन यथा लोके अगाधजल्पितं ऋजु रज्जु यष्टि वा अवलम्ब्य  
उद्धृती भवति तथाह भवत्कटाक्ष-दीर्घदीर्घनवलम्ब्य ससारव्ये-रप्नुतो

भवामीति भाव व्यजित । सूर्यमण्डलाद्वा दीपाद्वा किरणा पुजीभूय  
 रज्जुवद्वथा निप्लामन्ति तथा चक्षुषोपि तेजस्वात् निप्लान्ता रश्मय  
 एतस्मिन् सत्रान्ता वृहानिष्ट-भनस्स्युवतत्वादेन-मुद्धरतीति भाव । अति-  
 कारण्यसुधाभिवृष्ट्या अत्यत कारण्य अतिकारण्य तदेव सुधा, सफलताप-  
 हारकत्वात् सुधति ह्यप्यते । सुधा नामामृत तस्या अभितो वृष्टि  
 मस्या दृष्ट्या सा अतिकारण्यसुधाभिवृष्टि तया अतिकारण्य-सुधाभि-  
 वृष्ट्या । अमृताभिवर्षणन पुरय जरामरणादि-वर्जितो भवतीति प्रसिद्ध ।  
 युद्धे मृता वानरा इन्द्रकारिणामृत-वर्षणन उज्जीविता इति रामायणे  
 प्रसिद्धम् । तादृशामृतस्यैव तथात्वे ग्रहानिष्ठानुकम्पा-मृतवर्षणदृष्टि  
 असंशुषित जरामरणादि-वर्जितत्वं दास्यतीति भाव ॥३७॥

स्वोद्धरणे विलम्ब-मसहिष्णु स्वकीयतीव्र-मुमुसुत्वं प्रकटीकरोति  
 दुर्वारिति ।

दुर्वार-ससार-दवाग्नितप्त दोधूयमान दुरदृष्टवातै ।  
 भीत प्रपन्न परिपाहि मृत्यो शरण्यमन्यददह न जाने ॥  
 ॥३८॥

ससार एव दवाग्नि सर्वदोष व्याप्य-तापहतत्वात् वनानल, स  
 भवदीय-सद्रूपदेशजनितज्ञान विना न वारयित शक्य इति दुर्वार वारयित  
 स्वयमशक्य इत्यर्थ । दुर्वारश्चामी ससारदवाग्नि तेन तप्तम् दग्ध,  
 यगानलस्य वातगहितत्वे बहुव्याप्य तापकत्वं प्रसिद्ध । तथा दुरदृष्टवातै  
 दुरदृष्टानि पापानि तान्येव वाता प्रतिकूलवायव तै दोधूयमान मुहुर्महु  
 वम्प्यमान, अनुकूलश्चेद्वात एनमन्यत्र नयत् प्रतिकूलस्तु वात अग्नौ  
 पातयति अग्नि वा अस्मिन् । एव दवाग्नि-तप्तस्य अमृतवर्षण तापमाक्षौ  
 भवतीत्यभिप्रायेण पूर्वं दृष्टे अतिकारण्यसुधाभिवृष्ट्येति विशेषण  
 दत्तम् । तत्र बहुव्रीहि-मवृत्त्वा दृष्ट्या कारणेन अतिकारण्यसुधाभि-  
 वृष्ट्या सुधाभिवर्षणेन इत्यपि वक्तुं शक्यते । तेन दवान्नितप्त मा  
 मृत्यो परिपाहीत्यन्वय । इत्थं च स्वकीय-वटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्या  
 मामुद्धरेति पूर्वमन्वय । तथा अतिकारण्यसुधाभिवर्षणन ममारदवाग्नि  
 तप्त मा मृत्यो परिपाहीत्युत्तरान्वय । मृत्यो-भीत, प्रपन्न शरणागत,  
 मा मृत्यो परिपाहीत्युभयान्वय । भवदनग्रहादात्मज्ञान सति मम



शरीरोत्पत्तिरूप-मरण नसंभवतीति भावः । “नतस्य प्राणा उत्तमन्ति  
अत्रैव समवनीयन्ते” इति श्रुते । तथाच “ध्रुव जन्म मृतस्य च” इत्युक्त-  
त्वात् मरणाभावे जन्माभावस्य सिद्धत्वात् जन्ममरण-प्रवाहरूपससारात्  
मुक्तो भवामि भवदनुग्रहे इति भावः । स्वस्यानन्यशरणत्व गुर्वाभिमुख्याय  
प्रयटयति शरण्यमन्य यदहं न जाने इति । भवदन्य शरण्य मद्रक्षक  
यत् यस्मात् अहं न जाने । अतोऽनन्यशरणोय नोदासितव्य इति भावः ।  
॥३८॥

दलोकद्वयेन भवादृशा सत्पुरुषाणा अस्मासु कठणा निर्व्याजैवेत्याह  
शान्ता इति ।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहित चरन्त ।  
तीर्णास्त्वय भीमभवार्षव जनानहेतुना न्यानुपि तारयन्त  
॥३९॥

अयं स्वभावस्त्वत् एव यत्पर-ध्रमापनोदप्रवण महात्मनाम् ।  
सुधाशुरेष स्वयमर्क-कर्कश-प्रभाभितप्ता-भवति क्षिति किल  
॥४०॥

वर्षासु वृष्टिवाधा, ग्रीष्मे तापः, शरदि प्रारम्भे सुखं, नमस्तद्वये  
कार्तिकान्तिम-भागस्य यमदष्टात्वकीर्तनात्, हेमन्त-शिशिरयो-दशौत्य,  
सुगन्धिकुसुमाकर वसन्तर्तु कात्स्व्येन लोकस्य सुखं जनयतीति वसन्त-  
वदित्युक्तम् तदा वर्ष-ताप-शैत्यरोगादीनामभावात् । स श्रुतुं यथा  
सुखमेव जनयति तथा लोकस्य सुखमेव तन्वाना शान्ता निर्विकार-  
मनस्का अत एव महान्तः, अपरिच्छिन्नब्रह्म-साक्षात्कारवन्तः, अत एव  
तादृशसद्ब्रह्माभेदेन सन्तः “ब्रह्मावित् ब्रह्मैव भवतीति श्रुते, स्वयं भोग  
भयकरं यं भवार्षवः ससारसागरं तं तीर्णा असत्सारिण इत्यर्थः ।  
स्वस्य आप्तवामत्येन प्रयोजनाभावात् अहेतुना हेतुं विना, अन्यानपि  
तारयन्त भवाम्भोधि-मग्नानिति भावः । हेतुं विना न च तेषां उत्तारणे  
प्रवृत्तिः निर्निमित्त-प्रवृत्त्यभावात् इति शब्दायामाह अयं स्वभाव इत्यादिना ।  
नहि स्वभावे कारणं गवेषणीयम् । नहि शर्करायां भाष्यं विनिमित्त-  
मिति प्रश्नो युज्यते तत्र तस्य स्वभावविवेकादित्यभिप्रायः । परध्रमाप-

नोदप्रवण परेषा यदथम दुःख तस्यापनोद निवारण तत्र प्रवण भावप्रधानो  
निर्देश प्रवणभाव प्रवणता सक्तता वेद्यग्रजमित्यर्थः । इति यत् अयं  
स्वभाव महात्मना स्वत एव । परप्रेरणादिन तत्र नापेक्ष्यत इत्यर्थः ।  
तत्र दृष्टान्तमाह सुधादुरित्यादिना । अर्क-चर्क-प्रभाभितप्ता अर्कस्य  
सूर्यस्य या कर्कशा तीक्ष्णा प्रभा प्रकाश तया अभित तप्ता क्षितिं भूमिं,  
सुधासु अमृतविरणश्चन्द्र एष प्रसिद्ध समीपवर्ती, स्वयं पराप्ररित  
अवति रक्षति, किलति प्रसिद्धा ॥४०॥

एव विनोतवेपथु तदनुसारिण्या वाचा तदभिप्रेयजितभक्तमात्र  
आतं अनन्यशरणोय सर्वथा रक्षणीय इत्यभिप्रायण स्वाभिमुख स्वात्मान  
सानुग्रहानुकम्पामृत वपिकटाक्षं पावयन्त देविकोत्तम स्वबन्धमोक्षकोप-  
देशाय धैर्येण प्रार्थयते । ब्रह्मानन्दत्यादिना ।

ब्रह्मानन्द-रसानुभूति-कलितै पूतै सुगीतै सितै  
युष्मद्वाक्कलशांज्जितै श्रुतिसुखै वाक्यामृतै सेचय ।

सतप्त भवतापदावदहन-ज्वालाभिरेन प्रभो

धन्यास्ते भवदीक्षण-क्षणगते पानीकृता स्वीकृता ॥४१॥

हे प्रभो सर्वज्ञात भवदीक्षणक्षणगते भवता यदीक्षण दमार्द्र-  
विलोकन, तस्य क्षणगते क्षणप्राप्ते, पानीकृता आस्पदीभूता, यद्वा  
भवता यदीक्षण नयन तस्य क्षणगते क्षणसंयोगस्य पानीकृता आश्रयी-  
भूता क्षणमान वा भवन्नपातलक्ष्या इति यावत् । अत एव स्वीकृता  
आत्मीयत्वेन वृत्ता ये पुरुषा ते धन्या कृतार्था । तस्मादहमपि  
भवकटाक्षेण पातिततमा पाविततमश्च धन्योस्मि । अतिक्षिप्र  
सामारिवाम्नि-ताप शिशगमिषु एष प्रार्थय इति सूचयति । " श्रेयसि  
केन तृप्यते " इति न्यायेन कटाक्षपान मा स्वीकृत भवताप दावदहन-  
ज्वालाभि भवस्य ताप भवताप, ससारलोक स एव दावदहन वनाग्नि,  
तज्ज्वालाभि सतप्त अत्यन्तदग्ध, एन पुरोवर्तिन, मा ब्रह्मानन्द एव रय  
इव आरबधत इति रस, तदनुभूतिकलितै तदनुभवमिश्रे, अत एव  
पूतै सकलकल्मष हारकत्वेन पवित्रं 'न हि ज्ञानन सद्गुण पवित्रमिह  
विद्यत " इति स्मृते । तादृगज्ञानवन् वाक्याना सकल-यापापहारक-

ज्ञानोपदेशरूपत्वेन पूतत्वम् । मुशीतं आन्तराणा व्याध्यात्मिका-धिदैविका-  
धिभौतिक तापाना नाशकत्वात् । सितं रजस्तमो-मार्गनिवर्तनद्वारा  
सत्त्वमार्गेक-प्रापकत्वेन निर्मलं । युष्मद्वाक्कलशोज्झितं युष्माक वाक्  
युष्मद्वाक्, वागिन्द्रिय तत्स्थान मुख वा स एव कलश घट ततो निर्गलन्ति  
वाक्यामृतानीति, तेन उज्झितं विसृष्टं, श्रुतिमुखै कर्णनिन्ददायकं,  
वाक्यामृतं वाक्यान्येवामृतानि तैरित्यर्थः । संचय मा सिचित्वर्थः । स्वार्थे  
णिच् । पूतत्वं मुशीतत्वं सितत्वं कलशोज्झितत्वं वाक्येष्वमृते चापिशिष्ट-  
मिति वाक्यान्यमृतत्वेन रूपितानि । पूतत्वे हेतु बह्मानन्द-रसानुभूति-  
कलितैरिति, भुतिसुखैरिति भवणकालेणि आनन्दकरैरित्यनेन तदर्थमनुसंधाय  
यद्यनुभवउत्पद्येत तादात्विक आनन्द किमु वस्तव्य इति भावः ॥४१॥

पूर्वं भीत प्रपन्न इत्यत्रोक्ता भीति स्पष्टयति सहसा स्वस्मिन्ननु-  
ग्रहसिद्ध्यर्थम् । कथमित्यादिना ।

कथ तरेय भवसिधुमेत का वा गतिर्मे कतमोस्त्युपाय ।

जाने न किञ्चित्कृपयाव मा प्रभो ससारदुःख-क्षतिमातनुष्व  
॥४२॥

एत बहुविध-दुर्वार-दुःसज्जालजटिल भवसिधु कथ तरेयम् । एवमेव  
यदि वर्तय मे कावा गति ? मया किं तावत्प्राप्य ? सर्वथा दुःखमेवेति  
भावः । अतः कतमोस्त्युपाय एतद्भवसिधु-तरणे कोवोपायोस्ति ?  
अहं तावत् किञ्चिदपि न जाने । मामय एव भीत परिपाहि । अथन  
स्पष्टम् प्रार्थयते ससारदुःख-क्षतिमातनुष्वेति । सासारिक-शोक समूल-  
घात जहीत्यर्थः ॥४२॥

इदानीं गुरो कर्तव्यमुपदिशति, तथेत्यादिना, श्लोकद्वयेन ।

तथावदन्त शरणागत स्व, ससारदावानल-तापतप्तम् ।

निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्र-दृष्ट्या दद्यादभीति सहसा

महात्मा ॥४३॥

विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे मुमुक्षवे साधु यथोक्त-  
कारिणे ।

प्रदान्तचित्ताय शयान्विताय तत्त्वोपदेश कृपयैव, कुर्यात्

॥४४॥

तथावदन्तमित्युक्त्वा वाग्यापारण तदीयाधिकारस्य आन्तरस्य  
सम्यग्ज्ञातु शक्यत्वात् अधिकारिण ज्ञात्वेव अभयदानोपदेगादिषु गुणैर्भ  
वत्वमिति द्योतितम् । ससारदावान्-तापतप्त स्व म्वात्मान शरणागत  
रक्षकत्वेन भत्वा प्राप्त वारुण्यरसाद्रदृष्ट्या निरीक्ष्य महात्मा अक्षुद्रबुद्धि,  
गुरु सहसाऽर्थात् दद्यादित्यनन शीता सहसा भोत्या मोचनीया इति  
व्यजित । अभयदानन निवृत्तभीतेरव पुरुषस्य उपदिष्टायग्रहणादौ  
सामर्थ्य समवर्तीति भाव । भीतस्य भय शक्तन बहुवा न स्थापनीय  
इति च सहसत्युक्तम् । भीतस्याभयदान प्रथमतः कृतव्यमित्युक्त्वा  
अधिकारानुसारण उपदेश अनन्तरकान्तिक इति बोधयति विद्वानि  
त्यादिना ।

स विद्वान् ब्रह्मवित्तमो देशिक उपमत्तिमीयुष विधिवत्समीप-  
गताय मुमुक्षवे मोक्ष कामयमानाय माधुयथोक्तवारिण सम्यग्विहितानु  
ष्ठान । एतेन सिष्टत्वमुक्तम् । नाविरतो दुश्चरितात् नागान्तो  
नासमाहित । नाशान्तमानमो वापि प्रज्ञाननैनमाप्नुयात् इत्युक्तत्वात् ।  
श्रोत्रिण्यव अवृजितत्व मोक्षकामव्यतिरिक्त-कामसूयत्वम् चक्षिष्य  
अवेक्षणीयमिति भाव । प्रशान्तचित्ताय देहादिद्रष्टव्यस्तभोग्यवस्तुना  
विरज्य स्वलक्ष्य नियतावस्थितमनस्काय शमांन्विताय निगृहीत-वहि  
रिन्द्रियाय एतेन शमादिषट्कमुक्त अधिकारिविशेषण । तस्मै वैराग्यादि  
गुणगणमण्डिताय तत्त्वोपदेश कृपया तदीयदुःखग्रहाणक्षत्र्या आप्तकामस्य  
स्पृहान्तराभावात् कृमिदेवैत्यवकारो मित्रकम् । अधिकारिणि-शब्ध  
भोदासितव्यम् पात्र दत्ता ब्रह्मविद्या लोकानुग्रहाय प्रतिष्ठिताभवतीति  
भाव । इत्येव सर्वानर्थ-श्रुतभूताविद्यानिवतक ब्रह्मविद्यापारम्पर्या बिच्छद  
स्वनिष्पन्नोपधन च उपदेशस्य च । तत्र गुरोर्निष्ठायादरूपेण प्रवरण  
प्रणयनम् मुलभतया तत्त्वस्य श्रोतृबुध्मारोहाय । अत एव किराग्या  
त्यारग्यायिका तत्र तत्र श्रुतिरपि । तेन गुरुलक्षण शिष्य-लक्षण प्रष्ट-याद्यगा  
सर्वे अगायारान् अस्माभि नातु शक्यते इति ॥४४॥

परमकारिणको गुरु शिष्येण वध तरस भवसिधुमत इत्यादिना  
दक्षिता भीति द्यतिनि निनागयिपुराह । माभष्टति ।

मामैष्ट विद्वस्तव नास्त्यपाय ससारसिधोस्तरणैस्त्युपाय ।  
येनैव याता यतयोस्य पार तमेव मार्ग तव निर्दिशामि  
॥४५॥

ह विद्वन् भवान मामैष्ट भवतो भय माभूदिति सहसा अभीतिर्दत्ता ।  
विद्वन्निति संबोधयन् विवेकादिक तपाद्य गुरुकृष्णा विना दुःखतरण  
नभवतीति मा प्राप्तस्त्व ज्ञातव्य जानीष एव इति सूचयति तादृशस्य  
तव साधुययोक्त कारिण नास्त्यपाय नहि कल्याणवृत्तकिञ्चित् दुर्गति  
तात गच्छति इति स्मृते । अतः कथं तरयम कावा गतिरिति मैव  
भयीरित्यर्थः । एव मा भैष्ट तव कल्याणकर्तुं अपायो नास्तीति तगाश्वास्य  
कतमोस्त्युपाय इत्यस्य उत्तरमाह ससारसिधोस्तरणैस्त्युपाय इति । तत्र  
सम्यग्विश्वासोत्पत्त्यर्थं तमुपाय सप्रमाणं वचयति । यनैव मार्गेण अस्य  
ससारसिधो पार अन्त पतय प्रयत्नशीला सन्यासिन याता तमेव मार्गं  
तव निर्दिशामि उपदिशामीत्यर्थः ॥४५॥

तादृशमार्ग-शुभ्रूपाया मौक्तिक्य सिध्यथ पुनरपि सामान्यरूपणैव  
उपाय निर्दिशति । अस्तीति ।

अस्त्युपायो महान्कश्चित् ससारभयनाशन ।  
तेन तीर्त्वा भवाम्भोधि परमानन्दमाप्स्यसि ॥४६॥

ससारभयनाशन महान् बह्वायस साध्यसाधनसाध्य कश्चि  
दुपायोस्ति, तेन वक्ष्यमाणोपायेन भवाम्भोधि दुस्तर ससारसागरं तीर्त्वा  
तन्मूलभूता अविद्या भक्त्वा परमानन्द निरवधिक शाश्वत सतोय आप्स्यसि  
लप्स्यसि इत्यर्थः । तेन दुःखनिवृत्तिरिव त्वया काम्यते भयोपदेक्ष्यमाणो-  
पायान् तु दुःखमप्यत्यत निवर्तते नित्यनिरतसयानन्दाधिर्भावश्च तत्र  
भवतीति शिष्य अत्यन्तमाप्यायित इति भावः ॥४६॥

तमुपायं विप्रपतो निर्दिशति । वेदान्तेति ।

वेदान्तार्थ-विचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।

तेनात्यतिक-ससारदुःखनाशो भवत्यनु ॥४७॥

वेदानामन्ता वेदान्ता उपनिषद तासां गौर्यं सद्विचारेण,  
उपक्रमोपसंहारादि पटिवच-सात्पर्यलिङ्गैः प्रतिपाद्यमानं सजातीय-

विजातीय-स्वगतभेदरहित नित्यशुद्ध-बुद्धभुक्त-स्वभाव परमात्मा तस्य विचारण ततिर्णयानुकूलमानस-व्यापारेण उत्तम ज्ञान ससयभावनाद्य-शब्दित ज्ञान निर्णय जायते । तेन निर्णयेन आत्यतिक-सगारदु खनाश स्वसमानाधिकरण-दु सप्रागभावसमानबालिक दु खनाश अनु तनिषया-नूपद भवति भविष्यतीत्यर्थ ॥४७॥

इदानीं तादृशनिर्णय-आधारण-हेतुनाह । यद्वेत्यादिना ।

श्रद्धाभक्ति-ध्यानयोगान् मुमुक्षो मुक्तंहेतून् वक्ति  
साक्षाच्छ्रुतेर्गी ।

योवा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात्  
॥४८॥

तत्र श्रद्धा-गुरुवेदान्त-वाक्यविश्वास आत्मस्य गुरुवाक्यस्यत्यादिना लक्षिता । भक्ति स्वस्वरूपानुसंधान निदिध्यासन । ध्यान, तत्र प्रत्ययैक-तानता ध्यान इति सूत्रित सम्यगास्थापन बुद्ध शुद्ध ब्रह्मणि भव-देति लक्षितम् समाधान । योग योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति सूत्रित । तत्र श्रद्धा सर्वत्र हतु । भक्तिध्यानयोगानां मध्ये उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वहेतुत्व । चित्तवृत्तिनिरोध समाधानस्य तस्मिन् श्रुताचार्योपदेशमनु-स्वरूपानुसंधानरूपनिदिध्यासनस्य सम्भवात् । यद्वा ध्ये चिन्तायामिति धातो मुक्तिभिरनुचिन्तनरूप मनन निदिध्यासन-आक्षात्कारणमुच्यते ध्यान-शब्देन, ज्ञानप्रतिबन्धक-मवलदुरित निवर्तक सगुणध्यान वा । अजोभय-त्रापि चित्तवाह्यवृत्ति निरोधरूप-योगस्य हेतुत्व अस्त्यव । यद्वा युज्यते सम्बध्यते आत्मसाक्षात्कारणानर्गति योग भक्तिश्चासौ योग ध्यान च त्वयोग इति भक्तियोग ध्यानयोग इति वा सवध । मुमुक्षो पुरुषस्य मुक्ते बन्धनिवृत्त, हनून् श्रुतेर्गी 'श्रद्धाभक्ति ध्यानयोगादवेहि' इति कंवरयोपनिषत् भाष्याद्भक्ति प्रत्यक्षश्रुतिरित्यथ । यद्वा मुक्ते मुक्तिहेतु ज्ञानस्य साक्षाद्वतून साक्षात्कारणातीति जवेहीति यदधटिता श्रुति वक्ति इति वा अन्वय । यो वै पुरुष एतेष्वेव श्रद्धाभक्ति ध्यानयोगेषु तिष्ठति श्रद्धालु भक्तिमान ध्याता योगी च सदा भवति, जमुष्य अदश्नन्द-प्रयोगेण तादृशाविवारिण दुर्लभत्व सूचयति अदसस्तु विप्रकृष्ट-

मित्युक्ते । तस्य अविद्याकल्पितात् अज्ञानमूलकात् देहवन्धात् अहकारादि-  
देहवन्धात्, मोक्ष निवृत्ति सिध्यत्येवेति शेषः । योवा इत्यत्र वै  
इत्यवधारणे, सजन्ते सम्बन्धनीयः । एतेष्वेवेत्यत्र अवधारण उक्त-  
साधनान्य-निष्ठत्व वारयति ॥४८॥

इदानीं गुरु सग्रहेण शिष्य प्रति ससृतिहेतु तन्निदान तन्निवृत्त्युपाय  
च सकारणमुपदिशति । अज्ञानयोगादिति ।

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव ह्यनात्मबन्धस्तत एव ससृति ।  
तयोविवेकोदित-बोधवह्नि अज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ॥४९॥

परमात्मनस्तव अज्ञानयोगात् अनाद्यविद्यासवन्धात्, अनात्मबन्ध  
अनात्मसु मूलसूक्ष्म-कारणशरीरेष्वात्मत्वबुद्धिः । तत एव जन्मजरामरण-  
मुक्तदुःखजडत्वादि-धर्माध्यासरूपा ससृतिः । तयो आत्मानात्मनो-  
यिवेकोदितबोधवह्नि विवेक भेदज्ञान तेन उदितां जात बोधवह्नि-  
साक्षात्काररूपाग्नि समूल अज्ञानरूपबीजोपेत अज्ञानकार्यं अहकारादि-  
देहान्तबन्ध तत्प्रयोज्य-जन्मजरामरणादिरूप-ससारं च प्रदहेत् प्रकर्षेण  
भस्मीभुर्यादित्यर्थः । तथाच ससृतिकारण अनात्मबन्ध, तत्र कारण  
तवाज्ञानयोग, तन्निवृत्त्युपाय परमात्मबोध तत्र कारण आत्मानात्म-  
विवेक इति सग्रहेणोक्तम् । तेन वेदान्तविचारजन्योत्तमज्ञानस्य ससारदुःख-  
नाशकत्वविषये उपपत्तिः प्रदक्षिता आज्ञानिकस्य यन्त्रस्य ज्ञानादेव  
निवृत्तिः नान्यत इति ॥४९॥

इत्थं गुरुमुत्तारविन्द-निर्गलित-वाक्सुधास्यन्दानन्दित शिष्य तन्मृग-  
बलश-निरर्गल-निर्गलद्वाक्य-वीर्यपारावारैः गाढ मिमिक्षु स्वरीय-सकल-  
सदेह-भजनाय तं प्रष्टुं विनयेन प्रार्थयते ।

शिष्य उवाच ।

कृपया श्रूयतां स्वामिन् प्रश्नीयं श्रित्यते मया ।

यदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतायं स्या भवान्मुग्धात् ॥५०॥

एतेन गुरुसन्निधावनिवेद्य प्रश्नो न कृतव्य इति शिष्यधर्मो बाधितः ।  
यस्य उत्तरं यदुत्तरं । तत्र प्रश्नोऽप्यत्रियते मयत्यनुक्त्वा प्रथमं कृपया  
श्रूयतामिति प्राथनोत्तरं तदुक्त्या गुरोः स्वस्मिन् दयामिबृद्धयः मानसमादव  
क्षिप्रजिज्ञासुत्वं च सूचितम् । भवमुत्पाच्छ्रुत्वेत्यननं स्वस्य अनयश्चरणत्वं  
गमितम् ॥५०॥

पृच्छति । कोनामिति ।

को नाम वन्ध कथमेव आगत  
कथं प्रतिष्ठास्य यथ विमोक्षः ।

कोसावनात्मा परमं क आत्मा  
तयोर्विवेक कथमतदुच्यताम् ॥५१॥

प्रथमं वधस्वरूपं पृच्छति कोनाम वन्ध इति तस्मिन् शास्त्रे तन्निवृत्तिं  
मुक्तेन उपायान् सुकरेति । तत्र कारणं पृच्छति कथमेव आगत इति  
तस्य स्थितौ हतुं पृच्छति कथं प्रतिष्ठास्यति अस्य वधस्य प्रतिष्ठा विरक्त्या  
स्थितिः कथं कृतं वनं हतुं नति यावत् । विमोक्षं निवृत्तिः । गुरुणा  
परमात्मनस्तवानात्मवध इत्युक्तत्वात् कोसावनात्मा परम आत्मा कः ?  
तयोर्विवेकोदितेत्युक्तत्वात् तयोः अनात्मपरमात्मनो विवेकः भवग्रहः  
कथं जायते एतत्सर्व उच्यतां दयया विस्तरण उच्यतामिति भावः ।  
यद्यपि श्रीचरणसंग्रहोक्त्या परमात्मनो न अज्ञानयोगात् अनात्मवधः  
इत्युक्त्या कथमेव आगत इति विचिञ्ज्ञातमिव तयोर्विवेकोदित  
बोधवह्निं राजानकाय समल प्रदहदित्यननं कथं विमोक्ष इत्यपि विचिञ्ज्ञात  
मिव अथापि बन्धः शब्दमानश्रवणन विचिञ्ज्ञाताथम्यापि विस्तरण  
तन्निरावाधनिर्णयाथ वधस्वरूपस्य तत्स्थितिर्हो आत्मनात्मविवेकस्य  
च सुतरामज्ञातत्वात् एतत्सर्वं भगवच्छावयित्वा कृताथयितव्यं दीन  
दीनोऽप्येव जन इति भावः ॥५१॥

अनया प्रश्नवचन्या पूर्वज्ञातत्रिवरणशुद्ध्या च ब्रह्मविद्यायामुक्तमार्गं  
नारिणं मत्वा ब्रह्मविचारं यदिति तस्य प्रवेगाथ इत्यथेति । ब्रह्म  
विदुस्तमनमहात्मना इत्याधित स्वर्गनोगतं सर्वं दुःखं दूरीकृत्य विचारी  
त्वमना एतपर्येण परमात्मानं विचार्य यदिति वृत्ताय स्यादिति भावः ।



श्री गुरुवाच ।

श्रीयुतश्चासौ गुरुश्च श्रीगुरु, “ऋचस्सामानि यजूषि, सा' हि श्रीरमृता सताम्” इति श्रुत्या ऋगादीनां शब्दरूपाणामेव अमृतसपद्रूपत्वे सत्त्वयैदान्तान् तत्प्रतिपाद्यमर्थं च साक्षात्कृतवतो गुरोश्श्रीमत्वे पि यक्तव्यम् ? सूर्यादि-सकल-सेजोभानहेतुभूतब्रह्मतेजसा सम्पन्न इत्यर्थः । तादृशं शिष्यान्तराग्नकारनिरोधकं श्रीगुरुः शिष्येण पृष्टस्य उत्तरमुवाच ।

आदौ तन्मनोविकासार्थं श्लाघते । धन्योसीति ।

धन्योसि कृतकृत्योसि पावित ते कुलं त्वया ।

यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मोभवितुमिच्छसि ॥५२॥

धन्यं धनाहं, “न सलुं धनत्वं जातिं यस्य यदिष्टं तदेव तस्य धनं । तत्तद्विषयं पामराणां आकिञ्चन्यं धनं विदुषाम्” इत्युक्तरीत्या विद्वद्भिः धनत्वेन सम्मतवैराग्यादिभाग्य-भागसौख्यं । तत्र हेतुः कृतकृत्योसीति, शास्त्रविहित-कर्मानुष्ठानेन शुद्धचित्तोसीत्यर्थं तदभावे ससारे वैराग्या-नुत्पत्तेः । कृतानि कृत्यानि शास्त्रविहितानि येन स्वकर्णाश्रितोचितानि कर्माणि साध्वनुष्ठाय चित्तं सशोध्य जाततीव्रवैराग्यं मुमुक्षुरसि । त्वया एतादृशेन ते कुलं वशं, सर्वोपि पावितम् पवित्रीकृतं । उक्तं हि “कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वभरा पुष्पवती चतेन । अपार-राज्जित्युत्त-सागरेस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेत्” इति “स्नातं तेन समस्ततीर्थ-सलिले सर्वापि दत्तावनी, यज्ञानां च सहस्रमिष्टमविला देवाश्च संपूजिता । ससाराच्च समुद्रता-स्वपितर-स्त्रैलोक्यपूज्योप्यसौ, यस्या यद्वाविचारणे क्षण-मपि स्पर्धे मनं प्राप्नुयात्” इति च । यद्यपीदानीं तस्य ज्ञानं न जानं, अद्यापि गुरुपदेन श्रवण-ममनन्तरमेव उत्तमाधिवाचित्यान् न जानमानो भवति । “परिपक्वमते मृच्छतु जनयेदात्मधियं श्रुतेर्वचं” इति माधवीयनाकरविजये श्रीमदाचार्योक्तेः । “अत्यन्तवैराग्येन समाधिः” इत्यत्रैव यद्यप्यभाष्येन च । शिष्यमेव ब्रह्मविष्णोर्नमनस्तो भूत्वा कुलं भुवः च पावयिष्यतीति भावः । “न विषयभोगोभाग्यं, योग्यं मनुष्यं जन्तुमात्रमपि । ब्रह्मेन्द्रादमृग्यं भाग्यं विषयेषु वैराग्यम्” इति वैराग्य-भाष्यत्वेन महापुष्पातिशयान् इदानीमपि तस्य वशपावयितुमगम्येव ।

तत्र हेतु स्पष्टयति यद्यस्मात् वारणात् अविद्याबन्धमुच्यते अविद्या-  
प्रयोज्याहकारादि-देहान्तबन्धपरित्यागेन, ब्रह्मीभवितु ब्रह्मस्वरूपेणैव वर्तितु  
इच्छसि तस्मादिति अनेन तीव्रवैराग्यानन्तर-कार्त्तिक-तीव्रमुमुक्षा उक्ता ।  
एतादृश अस्मिन्नेव जन्मनि पर ब्रह्म साक्षात्कृत्य कुल जगच्च पविन-  
यिष्यतीत्यभिप्राय । ननु ब्रह्मीभवितुमित्यत्र “अभूततद्भावे चिद्वि-  
द्वत्पनुशासनानुसारेण अभूत पूर्वमस्थित ब्रह्मभाव पञ्चाङ्गविष्यतीति  
प्रतीयते, तर्हि ब्रह्मभावस्य आगन्तुकत्वान् तद्रूपस्य मोक्षस्या व्यनित्यत्व-  
मिति चेन्न, यद्यपि ब्रह्मैव जीवरूपेण वर्तते इति सर्वदा ब्रह्मभाव इष्ट एव  
वर्तते, अथापि इदानीमज्ञातत्वात् अज्ञातत्व-ज्ञानत्ववृत्त-विशेषमाश्रित्य ब्रह्मी-  
भवितुमिति चित्र-प्रत्ययप्रयोग इति मन्तव्यम् । इदानी-मज्ञानवशात् अब्रह्म-  
रूपेण ब्रह्मण एव सत स्थितिः, ज्ञानानन्तर तु ब्रह्मात्मनैवावस्थानमित्या-  
शयः । एतेन ब्रह्मभावस्या-गन्तुकत्वशङ्का परागता ॥५२॥

तत्र प्रथमतः सर्वेषां भवयन्त्र विमुक्त्यर्थं प्रवृत्तिसिद्धये तस्या विमुक्ते  
स्वस्वमानलभ्यत्व लोकानुजिघृक्षया उपदिशति गुरु । तत्र जनाजडासीना  
भूत्वा ईश्वरानुग्रहलब्ध जन्म व्यर्थयित्वा दुःखपरंपरा मानुभूवन्निर्त्यभि-  
प्रायेण । ऋणमोचनेति ।

ऋणमोचनकर्तारः पितुस्सन्ति मुतादयः ।

बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कञ्चन ॥५३॥

लोके तावत् पुत्रपौत्रादयः पितुः ऋणमोचनकर्तारः सन्ति । ऋणात्  
शास्त्रीयात् लौकिकाद्वा मोचयन्ति पुनःप्राप्त्या तदावधानुपालनेन अर्थ-  
समर्पणेन वा । बन्धमोचनकर्ता तु अनात्माह्वारादि-देहान्तबन्धमोचयिता  
तु स्वस्मादन्यो न कञ्चन, स्वस्य अन्तःकरणाद्यनात्मनि वर्तमानाध्यास  
स्वेनैव निवर्तनीयः नान्यस्तत्र प्रभुरित्यर्थः ॥५३॥

स्वीयतद्विषयक-प्रत्यक्षप्रमाणाएव स्वीयतद्विषयक-प्रत्यक्षप्रमणिवर्तक-  
त्वात् । यदि पिता मृदान्वधारे पतिता रज्जु सर्पं मत्वा विभक्तिः, तत्पुत्रः ता  
रज्जु साक्षात्पुत्रं त्रिपि पितुः साक्षात्कारमन्तरा ननु द्वयं निवर्तयितुमीष्टः,  
तद्वत् स्वानुभवसिद्धो बन्धः स्वैवैव निवर्तनीयः नान्येनेत्यमुभयं बहुभिर्दुष्टान्तैः  
ब्रह्मयन्त्याचार्याः, दृढनिश्चितैतदर्थं सहसा प्रवर्तन्ता जना मन्यन्मुक्तय  
इति । मस्तर्केति ।

मस्तकन्यस्तभारादे दुःखमन्यैर्निवार्यते ।

क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ॥५४॥

मस्तके न्यस्त भार यस्य, आदिपदेन शृङ्खलादि-निगडित-  
कारचरणादि तस्य दुःख अन्यैर्निवार्यते भाराद्यस्थापनादिना शृङ्खलादि-  
मोचनेन वा । क्षुधादिकृतदुःखं स्वेन विना केनचिदन्येन न निवार्यत इत्यर्थः ।  
नहान्यस्मिन् पुत्रादौ भुजाने वारि पिवति वा पितु क्षुत्पिपासा-निवृत्ति-  
दृष्ट्वा ॥५४॥

दृष्टान्तान्तरमाह । पथ्यमिति ।

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।

आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ॥५५॥

येन रोगिणा पथ्य सेव्यते औषधसेवा च क्रियते तस्यैवारोग्यसिद्धि-  
दृष्ट्वा । अन्येन पथ्यमौषधसेवा च क्रियते । चेत् अन्यरीयरोगनिवृत्ति-  
न दृष्टेत्यर्थः । पथ्यमौषधसेवा चेति द्वयवयवेन दृढतरसाधनचतुष्टय-  
संपत्तिं वेदान्तश्रवणं च ज्ञानहेतुरिति व्यजितम् ॥५५॥

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा स्वेनैव वेद्यं न तु पण्डितेन ।

चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषं ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ॥५६॥

स्फुटं निर्मलं सदायत्वाद्यनाम्यदिता यो बोधः श्रवणमनन-  
निदिध्यासनजातः साक्षात्कारः तेन वस्तु-स्वरूपं आत्मरूपवस्तुभाषात्म्य-  
परमात्मभिन्नत्वमिति भावः । स्वेनैव वेद्यं विषयीकृतं व्यम् नतु स्वभिन्नेन  
येनचित्पण्डितेन वेद्यं । श्रुत्वामदेवादयः परं ब्रह्म साक्षात्पुण्यं मुक्ता-  
यभूवुः । तेन इतरेषां हि जातमिति भावः । तत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह  
तापवारणाह्लादजनन-चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषं ज्ञातव्यम् । अन्यैः चक्षु-  
र्हीनैः अवगम्यते किम् ? यद्वा चक्षुष्मद्भिरप्यन्यैः स्वभिन्नैरवगम्यते चेत्  
एतदीयतापं हरति वा एतमाह्लादयति वा चन्द्रमस्य ? तद्वदिन्यर्थः  
॥५६॥

श्लेषप्रतिष्ठापाद्यादिनाम् अन्यो मोक्षयितुं शक्नुवान् ज्ञानादि-  
मिदं न्यमित्वाह । अविद्येति ।

अविद्यानाम-कर्मदिपाक्षवन्ध विमोचितु ।

पञ्चशतनुयाद्विनात्मान कल्पकोटिशतैरपि ॥५७॥

पूवपूवस्य उत्तरात्तरहतुत्व स्वस्वरूपाज्ञानात् बाह्यपु काम तत्  
कर्मणि प्रवृत्ति नहि मध्यमाक्षान्कारा किंचित्कामयते कृतात्मनस्त्वितैव  
रात्रे प्रविशेयन्ति कामा रसाप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तत इत्यादि  
श्रुतिस्मृतिभ्यः । कामाभावे कर्म कुत ? यद्यद्वि कुस्त जन्तु तत्तत्त्वा  
नस्य चैष्टित इति स्मृत । तथाच अज्ञानाघाघमाघग रूपपाशप्रयुक्त  
बन्ध अनात्मध्यास विमोचित आत्ममाक्षात्कारेण विना यवन कल्प  
कोटिशतैरपि कल्पात्ता कोटय तेषा क्षनानि तैरपि आत्मान विना कोदा  
शक्नुयादित्यथ । अतीतानन्तरश्लोकोक्तरीत्या स्वस्वरूपस्य स्वेनैव  
माक्षात्कृतव्यक्त्वात् न विना अज्ञानानिवृत्तौ कामकर्मदि नैव निवृत्तिरिति  
भाव । आदिपदेन जन्मजरामरणमुख दुःखादिपरिग्रह ॥५७॥

इदानीं वदतु शान्नाणि इत्यनोक्तरीत्या गुरुशिष्यसंवाद  
रूपस्मिन् अथ तमेव विदित्वा तिमुर्युमति नाय पथा विद्यतेऽज्ज्ञाय  
ज्ञानादेव तु बंधन्यम इत्यादिश्रुत्यनुसारण ब्रह्मात्मैकत्वबोधव्यति  
रिक्तस्य मोक्षहेतुत्व व्यागधति । न योगनति ।

न योगेन न सारयन कर्मणा नो न विद्यया ।

ब्रह्मात्मैकत्वबोधन मोक्षस्सिध्यति नान्यथा ॥५८॥

मोक्ष ब्रह्मस्वरूपणावस्थान-लक्षणमोक्ष ब्रह्मात्मैकत्वबोधन ब्रह्म  
न आत्मा न ब्रह्मात्मानौ तयोरेकत्वमभेद तदबोध तत्माक्षात्कार तेन  
सिध्यति अभिव्यज्यते ॥ नायथा अन्यत्र प्रकारेण न सिध्यतीत्यथ ।  
तदेव विजदयति योगेन मोक्षो न सिध्यति योगशास्त्रजन्मज्ञानन भेद  
विषयण चित्तवृत्तिनिरोध रूपयोगेन वा मोक्षो न भवतीत्यथ । एव  
सारयन कर्मिल्लमहर्षिप्रणीत सारयशास्त्रबन्धज्ञानन वा नानात्मविषयण  
मोक्षो न सिध्यति । कर्मणा पूर्वकाण्डविहित-यज्ञादिवचना न सिध्यति ।  
न विद्ययति उपनिषद्विहितयापि विद्यया मणुषोपासनया कंवतरूपमोक्षो न  
सिध्यतीति । तत्र योगसारय शास्त्रनञ्ज यज्ञानस्य भेदविषयत्वात् यदाह  
नैव एतस्मिन्नुदरमंतर कुस्ते । अथ तस्य भय भवति इति अभयप्रापकत्व

मेव नास्ति । “ नास्त्यकृत कृतेन, अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन ” इत्यादि-  
श्रुतिभ्य नित्यमोक्षाभिव्यञ्जकत्वं कर्मण नास्त्यवगम्यते । नित्यत्व  
च मोक्षस्य “ न स पुनरावर्तते ” इति श्रुत्यावगम्यते, स ब्रह्मलोके गत  
सगुणोपासक पुरुष पुनर्नावर्तते न सत्तासीभवति, जन्मभाङ्गं भवतीत्यर्थः ।  
तत्र कारणं मुक्तत्वमेष । तच्च ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमेव । तथाच ब्रह्मण  
“ यो वै भूमा तदमृत ” “ मत्स्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ” “ नित्यो नित्याना ”  
इत्यादिश्रुतिश्रुतेभ्य नित्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् तत्स्वरूपमोक्षस्यापि  
नित्यत्वम् । उक्तं च शास्त्रान्तिमाधिकरणभाष्ये “ सम्प्रदाशनं-विध्वस्त-  
तमसा तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धिर्वाभावृत्तिः । तदाश्रयणेनैव  
हि सगुणशरणानामपि अनावृत्तिसिद्धिरिति ” । तेन ब्रह्मलोकगतानां  
तत्रैव कृतसाक्षात्काराणां संवत्परूपमोक्षः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले  
परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसचरे ।  
परस्यान्ते कृतात्मानं प्रविशन्ति परं पदम् इत्यादिश्रुतिस्मृतिसंयोगम्यते ।  
तत्र परामृतात् वेदान्तविचारजनितोलृष्टज्ञानात् इत्यर्थः । कृतात्मानं  
कृतात्मसाक्षात्कारा इत्यर्थः । यथा वण्ठगतमेव चामीवरं वयपादिना  
तिरोहितं अन्विष्यान्विष्य भ्रान्तं आप्तवाक्येन, वर्तते विष्णुप्रैव तव वण्ठे  
कुतो वा भ्राम्यति भवान् इत्यनेन बोधितं अप्राप्तमिव प्राप्नोति स्थितस्यैव  
चामीवरस्य अभिव्यञ्जकं तदाप्तवाक्यजन्यज्ञानं, एव मिदस्यैव ब्रह्मभाव-  
रूपमोक्षस्य अभिव्यञ्जकं तत्त्वमसीत्यादि-युरूपदिश्यमान-महावाक्यजन्य-  
साक्षात्कार इति न ज्ञानजन्यत्पन्नत्वात् तत्र कार्यम् । यथा पूर्वेमेव वीन्तेय-  
स्तप्रपि वणं धात्वात्प्रभृति राधया पोषितत्वात् स्वात्मानं राधेयं मनवान्  
धृन्तीवाक्यादात्मानं वीन्तेयं मेने । न सावता तेन वीन्तेयत्वं नूतनमलम्भि ।  
अपितु पूर्वमज्ञातं धृन्तीवाक्याग्नातम् । एव प्रवृत्तेषु वेदिन्यप्यम् । यथावा  
श्रीरामेण आत्मानं मानुषं मन्ये राम इत्याद्यनुसारेण मन्त्रमानं मानुष्यं  
मन्यन् एषः शृगो यराहस्त्व इत्यादिपरमेष्ठिवाच्यं महाविष्णुरेव त्वमिति  
बोधितेन स्वस्यस्य ज्ञानं न तत्र अविद्यमानं महाविष्णुत्रयागतं अपितु  
स्थितमभिव्यजितं तद्वच्चैति ज्ञेयम् । तथाच उत्पाद्याप्य-मन्त्रार्थविचारिणां  
अन्यतमस्य कर्मणश्च दृष्टं, यथा स्वर्गस्य यागोत्पाद्यत्व, नन्दगनि-  
रूपवेदस्य अध्ययनाप्यन्त, घोरोपा प्रोभापादि-मन्त्राग्निमन्त्रार्थं, अर-  
पानादिभिः वंनुष्यगणादनङ्गाया विचार्यन्ते तथा । तत्र निरुत्तान् नोत्पाद्यन्

मोक्षस्य, आत्मस्वरूपत्वादनाप्यत्व, नित्यशुद्ध-ग्रहास्वरूपत्वात् न सस्वरूपत्व,  
निर्विकारब्रह्मस्वरूपत्वात् न विकार्यत्वम् । एतत् समन्वय-सूत्रभाष्ये  
विस्तरेणोपपादित भगवत्पादै । अतः कर्मफलत्वव्यापकोत्पाद्यत्वाद्यन्तम-  
धर्माभावात् यमंणा नो मिध्यतीत्यर्थः । विद्या चाविद्या च, विद्यया  
तदारोहति, इत्यादौ विद्याशब्दस्य उपासनापरत्वं सिध्यति । अतः  
विद्यापदस्य आत्मविद्याप्यनिरिक्तापरविद्याऽर्थः । तया ब्रह्मस्वरूपावस्थान-  
लक्षणमोक्ष न साक्षात्सिध्यतीत्यर्थः ॥५८॥

ग्रहान्मैकत्वबोधनैव मोक्ष सिध्यति नान्यथत्वमुपमर्थं दृष्टान्तेन  
विगदयति । वीणाया इति ।

वीणाया रूपसौंदर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।

प्रजारजनमान तत्र साम्राज्याय कल्पते ॥५९॥

रजनाद्राजा 'राजा प्रवृत्तिरजनात्' इत्युक्तानुसारेण कश्चिद्वैशिष्ट्यं  
रूपेण जनमनोहरा काचिद्वीणाभावात् तत्तन्त्री मूच्छु वादयति चेत् यद्यपि  
रज्यन्ते प्रजा सुदरवीणादर्शनेन सौष्टवोपत-तत्तन्त्रीवादेन च । अद्यापि  
तद्वजनं न वैशिष्ट्यस्य साम्राज्याय सम्राड्भावाय कल्पते । तद्वदार्त्तमैक्यबोधने  
विना योगशास्त्रादिजन्यज्ञानं वा कर्म वा उपासनं वा न साक्षात्सौष्ठव्यं  
कल्पत इति भावः । वीणाया रूपसौंदर्यं सदरूपवत्त्वमिति यावत् । तन्मया  
वादेन सौष्ठवं वैशिकनिष्ठ-प्रजारजनमानं तत् न साम्राज्याय कल्पत  
इत्यर्थः ॥५९॥

वैयल शब्दध्वन्यमानेन मनोरञ्जकविषये कथयित्वा अर्थतोपि ये  
मनो रजयन्ति तेषामपि पूर्वाङ्गीकृतज्ञानाभावे नैव मुक्तिरित्याह । वाग्वैखरीति ।

वाग्वैखरी शब्दखरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।

वैदुष्यं विदुषातद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥

वाग्वैखरी मरुत्पदवन्धविशिष्टा वाक्, शब्दखरी निरगन्तनिर्गन्ती  
वाक् वातप्रयोगनानुर्यं शब्दप्रवाहः, शास्त्रव्याख्यानकौशलं शास्त्रस्य  
व्याख्यानं "पदच्छेद पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्ययोजना, भाष्यस्य समाधानं  
व्याख्यानं पत्रलक्षणम्" इत्युक्तरीत्या शास्त्रार्थवचने कौशलं, प्रावीण्यम् ।

एतादृशं विदुषा वैदुष्यमपि, तद्वन् वीणावादनादिवत् भुक्तये प्रतिष्ठा-  
सपादनादिद्वारा भवति । भुक्तये तु न भवति । तत्र पूर्वोक्तसाक्षात्कार एव  
कारणम् इति भावः ॥६०॥

ननु तात्कालिकमुखजनकं वैशिक-कौशलं क्व, श्रवणानन्तरमपि  
सम्प्राप्तं प्रविश्य आनन्दहेतुभूतं विदुषा वैदुष्यं क्व, अतस्तस्य तद्वदिति  
वैशिक-कौशलसाम्यं न वक्तव्यमिति चेत्, अस्त्वेव सन्नान्तरं, अद्यापि  
आत्मतत्त्वसाक्षात्काराभावे शास्त्राध्ययनं तज्जन्यवीशलं वा यथोक्तफल-  
वन्नभवतीत्याह अविज्ञात इति ।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।

विज्ञातेपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥६१॥

परे कालत्रयावाध्यत्वेन स्वयंप्रकाशानन्दरूपत्वेन च मिथ्याभूत-  
जडदुःखादि-रूप-देहादिमायान्त-सफल-कार्यकारणापेक्षया उत्कृष्टे, तस्य  
सर्वस्याधिष्ठानभूते तत्त्वे निर्गुणे ब्रह्मणि, अविज्ञाते असाक्षात्कृतं सति,  
शास्त्राधीतिस्तु अर्थविचारपर्यन्तवेदान्ताध्ययनमपि निष्फला । यदर्थं  
विचारं शास्त्रविहितं तस्यालाभे निष्फलत्वं तत्र तत्फललाभपर्यन्तं  
यथोक्तफलानुपपत्तिरूपं सिद्धमवेति भावः । जन्मातरुत्तमाधनवशात्  
गर्भस्थेनापि यामदेवेनेव परे तत्त्वे विज्ञाते साक्षात्कृतेपि अनन्तरं फलस्य  
निष्पन्नत्वान् शास्त्राध्ययनादिव न कार्यमिति भावः ॥६१॥

यथा महारण्यं प्रविष्टं पुरुषं दिशमज्ञात्वा भ्राम्यति मुधा तथा  
वेदजालद्वज्जालात्मकं शास्त्रस्यापि विशेषहेतुत्वात् तन्निष्ठत्वमपि परित्यज्य  
परमात्मसाक्षात्कारवतो देशिनाम् आत्मयायात्म्यं साक्षात्कर्तव्यमित्याह ।  
द्वन्द्वजालमिति ।

द्वन्द्वजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।

अतः प्रयत्नात् ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञातत्त्वमात्मनः ॥६२॥

उपनिषद्रूप-शास्त्रादेव आचार्योपदेशा-तत्त्वस्य ज्ञानव्यत्वेपि शास्त्र-  
कोशत्रयो नाश्रयणीयं तद्भासनाया अपि ज्ञानप्रतिपन्नपन्नात् ।  
“लोकात्मनया जन्तो शास्त्रयात्मनयापि च । देवात्मनया ज्ञानं यथावद्वैद्य-  
जायते” इति वक्ष्यमाणमिति ज्ञानं ॥६२॥

ज्ञानमेवाज्ञाननिवर्तकं नान्यदित्याह । अज्ञानेति ।

अज्ञानसर्पदण्डस्य ब्रह्मज्ञानोपघं विना ।

किमु वेददेश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रे किमौपघे ॥६३॥

अज्ञानमेव सर्प अत्यन्तानर्थकरत्वात्, तेन दण्डस्य आवृत्तिविक्षेपाभ्यां प्रापितमोहस्य, ब्रह्मज्ञानमेवोपघं ब्रह्मज्ञानोपघं तेन विना, वेदं ऋगादि-वेदं, शास्त्रं व्याकरणादिशास्त्रैश्च किमु प्रयोजनं । मन्त्रं सप्तकोटिभिः किमु । औपघं सजोविन्यादिमूलकाभिर्वा किमु फलं तेषां मध्ये केषामपि अज्ञानसर्पदण्ड-प्रयोज्यमोहनिवर्तकत्वाभावादिति भावः ॥६३॥

शब्दमात्रस्य मोहाहेतुत्वं दृष्टान्तेनाह । न गच्छतीति ।

न गच्छति विना पानं व्याधिरौपघ-शब्दतः ।

विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्देन मुच्यते ॥६४॥

व्याधिः रोगः पानं विना औपघपानं विना, तद्विषयात् औपघं औपधमिति शब्दोच्चारणात् न गच्छति न निवर्तते तद्वत् अपरोक्षानुभव आत्मसाक्षात्कारं विना क्वलमुपनिषदुपटनं ब्रह्मशब्दे न मुच्यते, निवृत्तबन्धो न भवतीत्यर्थः ॥६४॥

तमेवार्थं तत्त्वज्ञानपरमकारण-वचनद्वारा भग्यन्तरेणाह । अकृत्वे-त्यादिना ।

अकृत्वा दृश्यविलयं अज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।

बाह्यशब्दे कुतो मुक्तिरुक्तिमानफलैर्नृणाम् ॥६५॥

दृश्यविलयं दृश्यस्य दण्डाजन्मवृत्तिविषयस्य चिद्विषयस्य वा, तेन दण्ड-श्रृगादे ब्रह्मणश्च वारणं अज्ञानान्तरस्य जडस्य सर्वस्य ब्रह्मण्यतिरिक्तस्य, विलयं ब्रह्मणि प्रयत्नापनं अकृत्वा, आत्मनः तत्त्वमज्ञात्वा सजातीय-विजातीयं स्वगतभेदरहितमर्वाधिपठान-सत्य-स्वयंप्रवाशानन्दरूपतामज्ञात्वा उक्तिमात्रपक्षे उच्चारणमात्रप्रयोजनं बाह्यशब्दे आन्तरानुभवं विना उच्चार्यमाणा अहंश्लाघ्नीत्यादिशब्दे नृणां मुक्तिं कुत नैव सम्भव-तीत्यर्थः । निशब्द निषेधार्थः ॥६५॥



एतेन आत्मतत्त्वज्ञाने समस्तदृश्य-प्रविलापनपुरस्तर यद्वासात्राव-  
शेपेण परमकारणमित्युक्त व्यतिरेकमुखेन अकृत्वेति, दृश्यप्रविलापने तत्त्व-  
ज्ञाने नान्यथेति । एव तत्त्वज्ञाने भुक्ति नापरथेति च, भुक्तिहेतुत्व  
ज्ञानस्य व्यतिरेकमुखेन कथितम् । तत्रानुरूप दृष्टान्तमाह । अकृत्वेति ।

अकृत्वा शत्रुसंहार अगत्वाखिलभूश्रिय ।

राजाहमिति शब्दाग्नौ राजा भवितुमर्हति ॥६६॥

स्वकीयराज्यभोगप्रतिबन्धकानां शत्रूणां विलयमकृत्वा अखिल-  
भूश्रिय समस्तपृथ्वीसपद, अगत्वा अप्राप्य, केवलमह राजेति शब्दात् नो  
राजा भवितुमर्हति राजा भवितुं नो अर्हतीत्यन्वयः । राजत्वे सकलशत्रु-  
विलयपुरस्तर समस्तभूधोप्राप्ति यथा कारणमेव सकलदृश्य-प्रविलापन-  
पुरस्तर आत्मतत्त्वज्ञानं भुक्तावपीति भावः ॥६६॥

केवलवाङ्मनस्यैव न भुक्ति अतः प्रयत्नात् तत्त्वज्ञात् आत्मन तत्त्व  
ज्ञातव्यमित्यमुमर्थं सदृष्टान्तं विस्तरेण कथयति । आप्तोक्तिमिति ।

आप्तोक्तिं खनन तयोपरिगिलापाकर्षणं स्वीकृतिं,

निक्षेप समपेक्षते न हि वहि शब्दस्तु निर्गच्छति ।

तद्दृष्ट्वा-विद्योपदेश-मननध्यानादिभिर्लभ्यते,

मायाकार्य-तिरोहित स्वममल तत्त्व न दुर्युक्तिभिः ॥६७॥

लोके तावत् भूमेरन्तस्थ्यापित निक्षेपं हिरण्यादिनिधिं, प्राप्त-  
व्यश्चेत् त दृष्टवता वा, अजनविशेषादिना तं विज्ञाय सत्यं कथयता वा  
आप्तानां उक्तिं श्रुत्वा भुवं सन्निता, तत्र निधेरुपरि वर्तमानाच्छादक-  
शिलाया अपकर्षणं अपसारणं कृत्वा प्राप्तव्यम् । न तु निक्षेपं निक्षेप इति  
शब्दं वहि निर्गच्छति । तदिदमुक्तं यन्निक्षेपं हिरण्यादिनिधिं स्वफले  
आधेने आप्तोक्तिं खननं भुवं तथा उपरिगिलापानर्पणं तदनन्तरं स्वस्य  
स्वीकृतिं स्वीकारं च समपेक्षते, नेहि शब्दस्तु न निर्गच्छति, तु-गद्योव-  
धारणे नैव निर्गच्छतीति हि लोके प्रसिद्धम् । तद्दृष्ट्वा शिलया भूम्या च आश्रित्य-  
माणनिधिरिव, स्व स्वकीयं अमलं स्वतन्मद् तत्त्वं यथात्म्यं ब्रूहीति यावन्,  
मायाकार्यतिरोहितं मायया अज्ञानेन तत्त्वार्थेन अहंकारादिदेहान्तरं कोनं,

तिरोहित प्रतिवडस्फुटमान ब्रह्मविदोपदेश मनन ध्यानादिभि लभ्यते आ  
 समन्तादुपदेश ओपदेश ब्रह्मविद आपदेश ब्रह्मविदोपदेश । यद्वा ब्रह्म  
 विदेति व्यस्त पद तृतीयान्त तेन उपदेश तत्कतवत्त्व लभ्यत । ब्रह्म  
 बिक्तुकोपदेश श्रवण मनन युक्तिभिरनुचितन ध्यान निदिध्यासन आदि  
 पदेन निर्विकल्पकसमाधि परिग्रह । तल्लभ्यते साक्षात्प्रियते । अन ब्रह्म  
 लाभ साक्षात्कार म्यान-यवात अयावद्य लाभसम्भवात् । कण्ठचामी-  
 करादिद्वयलाभश्च सवनाप्यवमव वन्तव्यत्वात् । न द्रुयनितभिलभ्यते  
 नपा तवैष मनिरापनया इति श्रुते । श्रुत्यनुसारिण्य युक्तयस्तु  
 अम्युपेयत एव । पण्डितो मधावी गाघारानवोपसपद्यत इति  
 श्रुत्येव सत्तकस्याभ्युपततवान् । दशयति किल श्रुतिरेव महामत्स्यादि  
 दृष्टा तेन असत्त्वमाभा सपुत्रौ प्रपञ्चपरित्यागन सदारमना गपक्ते  
 निष्प्रपञ्चसदा मत्त्व कायकारणानयत्वयायन मत्पिण्डादिदृष्टात एक  
 विज्ञानन रावविज्ञान प्रपञ्चस्य ब्रह्माव्यतिरेक ऊर्णनाभ्यादिदृष्टात  
 अभितनिमित्तोपादानत्र तस्करदृष्टान्तेन मयाभिसंयम्य मुनित मिथ्याभि  
 राधस्य वध इत्यादियुक्तिजाड । अत उक्त द्रुयक्तिभिरिति ॥६७॥

तस्मात्सवप्रयत्नन भवबन्धविमुक्तय ।

स्वेनव यत्न वतव्या रोगादेरिव पण्डितै ॥६८॥

तस्मादिति । यस्मादेव स्वीयवध अयन निवतयितु न शक्यते  
 स्वेनापि साधनचतुष्टय सपत्तिमता मुरुमुपसद्य तमुक्त वेदान्तान  
 श्रुत्वा तदथ मत्वा निदिध्यास्य निर्विकल्पकनिष्ठया ब्रह्मतत्त्व स्फुटमवगम्य  
 मोक्तव्य न कथल बाह्यसाध्यादिभि मुक्ति सिध्यति तस्मादित्यथ ।  
 सवप्रयत्नउक्तश्रवणादिरुपप्रयत्नन भवव मविमुक्तय सासारिकादिघादि दृ  
 वेहातव घनिवतय स्वरेव य तावत वधमनुभवन्ति तस्मिन्नेव पण्डित  
 दुद्धिमिद्धि रोगादे रोगक्षुत्पिपासादे विमुक्तय यथा अगदस्वीनाराभ्यव  
 हार जठरानादिक स्वय न्रियते एव यत्न वतव्य । विवेकादिसाधन  
 चतुष्टय स्थिरतम सपाद्य सदगुरुपमदनीय इति भाव । अत्र सव  
 प्रयत्नन भववधविमुक्तय यत्न वतव्य इति द्विवारमुक्तत्वात् एवमर्थो  
 युक्त इति भाति ॥६८॥

एव तीव्रमुमुक्षवन्त शिष्य प्रश्नस्य तदीय-प्रश्न द्वाघते ।  
यस्त्वयेति ।

यस्त्वयाद्य कृत प्रश्नो वरीयान् शास्त्रसम्मत ।

सूत्रप्राप्तो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभि ॥६९॥

न केवल तीव्रमुमुक्षया उत्तमाधिकारित्व ते, अपितु मुमुक्षु-  
ज्ञेयान्पूनातिरिक्तविषयान् श्रेडीकृत्य यदप्राप्तीर्मां, तेनापि मेधावित्त्व-  
विद्वत्प्रीतिहापोहविचक्षणत्वादि-धर्ममण्डितस्त्व मुमुक्षूणा सर्वेषा ज्ञातव्य-  
मार्ग-दर्शकोसीति महात्मना गुण्णा द्वाघित भक्तिश्रद्धाभारितमना  
क्षिप्रमुक्त गृह्णातीत्यभिप्रायेण "यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे  
तथा गुरो । तस्यैते कथिताह्वर्या प्रकाशन्ते महात्मन " इति श्रुते ॥  
अथ इदानीं, य प्रश्न को नाम यन्धइत्यादिरूप कृत स वरीयान्  
अत्यन्त वर । तत्र हेतुमाह शास्त्रविन्मत, ये तावत् अत्यन्त शास्त्रविद  
तैरेवैव प्रष्टुं शक्यत इति भाव । तत्र हेतुमाह सूत्रप्राय इति बन्धमोचक-  
साक्षात्कारार्थं यावत्प्रष्टव्य सर्वस्यात्रैव पृष्टत्वात् अल्पाक्षरेण सगृहीतेन  
शब्देन । शब्दस्तु अल्पाक्षर ज्ञेयार्थस्तत्रोपि अत्र निगूढ इति वदन्  
सूत्रप्राप्तव विषययति निगूढार्थ इति । एतत्प्रकरणग्रन्थस्य उत्तरस्य  
सर्वस्यापि एतदुत्तररूपत्वात् प्रतिपादनीयार्थस्तत्रोप्यत्र बुद्धिमता शिष्येण  
उपक्षिप्त इति भाव । अत एव मुमुक्षुभि ज्ञातव्य, आत्मानात्म-विवेकजन्य-  
साक्षात्कारेण हि सहेतुक-बन्धनिवृत्तिरूपमोक्ष उक्त अज्ञानयोगा-  
दित्यादिना गुरुणा । सहसा गुरुक्ति विज्ञाय प्रष्टव्याशस्य सर्वस्याप्यनव-  
शेष अनतिरेकेण पृष्टत्वात् मेधावित्वादिक शिष्यस्य सम्यगवगम्य  
गुरुस्त नितरा द्वाघयामास ॥६९॥

एव महात्मना द्वाघित स्वात्मानधन्यधन्य मन्वान शिष्य स्वोक्तार्थ-  
प्रहणाद्यर्थं अवधापयति । श्रुणुष्यावहित इति ।

श्रुणुष्यावहितो विद्वन् यन्मया समुदीर्यते ।

तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥७०॥

हे विद्वन् । मेधावित्वाद्युक्तात्म-विद्याधिवारविशिष्ट, मया  
यत्समुदीर्यते मग्नहेन विस्तरेण च सम्यग्ज्ञानाय यदुच्यते, तत् अवहित

विषयान्तरमनस्सचाररहित, श्रद्धया शृणुष्व । एतच्छ्रवणात् यथाविधि  
मदुक्तवाक्यश्रवणात् सद्यः श्रवणसमनन्तरमेव, आत्मानं साक्षात्कृत्य भव-  
बन्धात् ससारबन्धात् कर्तृत्वभोक्तृत्व-जन्मजरामरणादि-रूपबन्धा-  
द्विमोक्षपक्षे नितरां मुच्यसे इत्यर्थः ॥७०॥

इदानीं तदीयप्रश्नानुसारेण तेन जिज्ञासितमर्थं विवक्षुः प्रथमतः कथं  
विमोक्ष इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह । ननु “को नाम बन्धः कथमेव आगतः,  
कथं प्रतिष्ठास्य” इति प्रथमतः कृतप्रश्नत्रयस्य उत्तरमनुकृत्वा तुरीयस्य  
कथं विमोक्ष इत्यस्य उत्तरवचनमनुचितमिति चेन्न, न ह्यत्यन्तमग्निना  
दह्यमाने गृहे क्षिप्रं जलसेकादिना अग्निगान्तिमकृत्वा बुद्धानि पतितः,  
कथं पतितः, इति विचारणेन कालयापनं युक्तं तथामिति निरवग्रेयं  
गृहस्य दह्यमानत्वात् । तथा सर्वैरप्यज्ञानिभिः सामाग्निकबन्धः अनुभूयत  
एव तीव्रः, तन्निर्गते सहसा यत्न आस्थेय इत्यभिप्रायेण ज्ञातव्याग्रन्थ  
मध्ये “अगन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यं अल्पज्ञः कालो बहुवदन् विद्वान् ।  
यत्सारभूतं तदुपायितव्यं हसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्” इत्यभिपुक्तोक्त्या  
सारभूतमशं गुरुगदाबाहं मोक्षस्यत्यादिना, क्षिप्रं मोक्षहेतुं विज्ञाय  
तत्लाभेन सहमा बन्धान्मुक्तं नित्यानन्दमनुभवतिवत्यभिप्रायेण । किञ्च  
आत्मानात्मज्ञानं विना बन्धस्वरूपस्य वक्ष्यमाणस्य ज्ञातुमशक्यत्वाच्च,  
तत्सर्वं पश्चाद्दृश्यामीति-धिया च प्रथमं कथं विमोक्ष इत्यस्य उत्तरमाह ।  
मोक्षस्येत्यादिना ।

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते वैराग्यमत्यन्तमनित्य-वस्तुषु ।  
ततश्चमश्वापि दमस्ति तिक्षा न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणा  
भूयम् । ॥७१॥

स्फुटः ।

ततश्च्युतिस्तन्मननं सतत्यध्यानं चिरं नित्यनित्यं मुने ।  
ततोऽविकल्पं परमेत्यं विद्वान् इहैव निर्वाणमुत समृच्छति  
॥७२॥

अनित्यवस्तुषु देहादिब्रह्मपर्यन्तेषु अन्यन्तं वैराग्यं मोक्षाय प्रथमो  
हेतुर्निगद्यते, बहुतरविक्षेप-हेतुभूतासाधून्यस्यैव मननं स्वलक्षणे नियता-

वक्ष्यारूप-शमादेः सम्भवात् । तत्तत्क्षमश्च उक्तलक्षणः । चशब्द उक्त-  
समुच्चायकः । अत्र सर्वेषामपि वैराग्यादीनां ज्ञानकालेष्यावश्यकत्वात्  
अन्तरगत्वात् पूर्वापरभावसत्त्वेऽपि कुलालपितृवत् अन्यथासिद्धिशङ्का न  
कार्या अतः चशब्देन अपिशब्देन च समुच्चयः कथ्यते । तथा दमः तितिक्षा  
प्रसक्ताखिलकर्मणा वर्णाश्रमविहितत्वेन प्रसक्तानां प्राप्तानां अखिलानां  
सर्वेषां कर्मणा वैराग्योत्पत्तिपर्यन्तं अनुष्ठेयत्वात्, उत्पन्ने च तोन्नवैराग्ये  
भूशः न्यासः, स्वरूपतोऽपि परित्यागः, पूर्वं चित्तशुद्ध्यपरपर्यायवैराग्यार्थं  
फलमनभिसंशय ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मणामनुष्ठानं ददानीं फलस्य निष्पन्न-  
त्वात् सुतरां तेषां परित्याग इति भावः । ततः सर्वकर्म-सन्ध्यासानन्तरं,  
श्रुतिः अर्थतः गुरुमुखात् वेदान्तवाक्यश्रवणं, वेदान्तवाक्यार्थनिर्णयानुकूल-  
व्यापारः, तन्मननं श्रुतार्थस्य दाढ्याय उपपत्तिमिश्रितं । ततः  
असम्भावना-संशयभावनायोः ध्वणमननाभ्यां निरस्तयोः सतत्वध्यानं  
परमार्थतत्त्वस्य ध्यानं, तदपि चिरं कर्तव्यं अनात्मस्वात्मत्व-  
वासनायाः अनादिकालप्रवृत्तायाः निरासार्थं, चिरं क्रियमाणमपि यदि विच्छिद्यं विच्छिद्यं  
नियतं विच्छेदकालिकं वृत्तिमिदं आत्मवृत्तेरभिभूयमानत्वात् निदिध्यासन-  
मेव न सिध्येत्, अतः नित्यनिरतरमित्युक्तं । तेन स तु दीर्घकाल-  
नैरतय-सत्त्वासेवितो दृढभूमिः " इति योगसूत्रोक्तरीत्या दिवसैर्वा  
मासैर्वा निदिध्यासनं सिध्यतीति न वाञ्छेत् । तदा विद्यमानाश्चत्वार एव  
वेदाः तानभ्येतुं गतस्य माणवकस्य पञ्च दिवसा अतीता नाद्याप्यसौ  
समागत इति मन्त्रवचनानुरागैः ध्याता स्यात् । अपितु तावत्सरे जन्मभिर्वा  
आदरपूर्वकं सद्यदा सेवितव्यमिति चिरं, नित्यनिरतरं इति विशेषणं  
" अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिं " इति स्मृतेः । नित्यं अविच्छेदेन  
यहुकालपर्यन्तं निदिध्यासनं सिध्यति चेत् इहैव जन्मनि ततः परिपक्वाभिदि-  
ध्यासनात् अविकल्पं निर्विकल्पक-समाधिं, परं सविकल्पकालपरं उत्कृष्टं  
एतत् प्राप्य विद्वान् आत्मसाक्षात्कारवान्, निर्वाणसुखं मुक्तिसौख्यं,  
समुच्छतिं निर्गलमनुभवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अस्मिन्नेव जन्मनि मोक्षं प्राप्तुं वक्तव्यं सग्रहेणोक्त्वा, विद्वानिहैव  
निर्वाणसुखं समुच्छतीत्युक्त्या धनी मुखीत्यादी यथा धनप्रयोज्यत्वं सुखे  
भासते " उद्देश्यविधेयभावस्थले असति वाचके उद्देश्यतावच्छेदक-

प्रयोज्यत्व विधेये भासते " इति लोकसिद्धत्वात् विद्वद्विधेयणभूत विद्या-  
प्रयोज्यत्वस्य निर्वाणमुखे भातत्वेन तस्याश्च विद्याया आत्मानात्मविवेचन-  
जन्यत्वेन तदादौ विशदयति । यद्वोद्व्यमिति ।

यद्वोद्व्य तवेदानोमात्मानात्म-विवेचनम् ।

तदुच्यते मया सम्यक्छुत्वात्मन्यवधारय ॥७३॥

एतेन बोधावनात्मा परम व आत्मा " इति प्रश्नोप्युत्तरितो  
भवति । तव इदानीं मोक्षहेतु ज्ञानबोधात्प्राक् तदनुत्वेन आत्मानात्म-  
विवेचन अयमात्मा अयमात्मा इति मदज्ञानानुकूलव्यापार बोद्व्य  
ज्ञातव्य, तत्तस्मात्कारणात् मया सम्यक्स उच्यते । त श्रुत्वा आत्मनि  
मनसि अवधारय निश्चिन्नुद्दीप्त्यर्थं ॥७३॥

तत्र अनात्मद्वारैव आत्मन ज्ञातव्यत्वेन अनात्मन स्यत्वेन प्रथम  
ज्ञात शक्यत्वेन तस्मिन् ज्ञाते सूक्ष्मस्याप्यात्मन ज्ञान मुलभ भवतीति  
प्रथमतोनात्मनो निरूपयति अथ ते सप्रवक्ष्यामि' इत्यतः । तत्रादौ सकल-  
बुद्धिगम्य स्थूलशरीर निरूपयति अहतया विस्पष्ट-व्यवहारगम्यत्वात् ।  
मज्जेत्यादिना ।

मज्जास्थिमद पल-रक्तचर्म-त्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम् ।

पादोद्वक्षो-भुजपृष्ठ-मस्तकै-रगैरुपागै-रुपयुक्तमतत् ॥७४॥

अहं ममेति प्रथित शरीर मोहास्पद स्थूलमितीयते बुधैः ॥

अग्नितस्य स्थूलमध्यम-सूक्ष्मात्मना परिणममानस्य इति सयन  
ज्ञेयम् । तेजसो पृतादे मध्यमो भाग मज्जा, तस्य स्वविष्टो भाग अन्धि,  
तस्य पूर्वपरिणाम मेद, पल मास, अग्नितस्य अतस्य मध्यमो भाग, रक्त  
लोहित पीताना अपा मध्यमो भाग चर्म स्थूलावरण त्वग् सूक्ष्मावरण,  
आन्तराव्यातून् नाड्यादीन् सप्तावरणानि आवृण्वन्ति । तत्र अन्तर्बहि-  
भविन स्थूलसूक्ष्मविभागो ज्ञेय । मज्जेत्यादि येषा आह्वय धातूना तै  
सप्तभि धातुभि अन्वित युक्त । पङ्गान्याह पादेत्यादिना, स्पष्टम् ।  
पादोद्वक्षोभुजपृष्ठ मस्तकैरगै इदं हस्तस्याप्युपक्रमः । उपागै गुल्फ-  
आनुजघादिभि उपयुक्त सहित, एतत् प्रत्यक्षमिदम् । अहं गच्छामि

तिष्ठामि लघयामि गृह्णामीत्यादि-व्यवहारेण अहतास्पदमम पाद हस्त  
मस्तक शरीरमिति प्रथित प्रसिद्धम् शरीर, अनेकविधदोषाश्रयत्वेपि  
अतिप्रेमास्पदत्वेन मोहास्पद आत्मत्वभ्रमस्याश्रय विषय, स्थूलमिति बुध-  
रीयते । अस्य अनेकपदार्थसंघातरूपत्वात् सहताना स्तम्भकृड्यादिरूपेण  
वर्तमानाना गृहादीना यया स्वाम्यर्थत्व, एव परार्थत्वमिति ज्ञापयितु  
मञ्जास्थीत्याद्युक्तम् । एतेन आत्मभिन्नत्व उक्तप्रायम् । आत्मन एव  
स्वामित्वात् तदर्थत्वाच्छरीरस्य ॥७४३॥

अनित्यत्वादपि नित्यात्मरूपत्वं तस्य नास्तीति वक्तुम् तस्य  
कारणान्याह । नभइत्यादिना ।

नभोनभस्यदहनावुभूमय सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि  
॥७५॥

परस्परानिमिलितान भूत्वा स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतव ॥

नभश्च नभस्वाश्च दहनश्च अम्बु च भूमिश्च नभोनभस्वदहनावु-  
भूमय । नभ गगन नभस्वान् वायु, दहनोग्नि, अत्र जल, भूमि पृथ्वी,  
इदं भूतपञ्चक जायमानं सूक्ष्मं जायते पश्चात् खट्व्या देवतया तासां  
त्रिवृतं त्रिवृतं एकैकां करवाणीति सकल्पवशात् एकैकं भूतं पचीरियते ।  
तैत्तिरीयकथ्यनुसारेण आकाशवाय्वो छान्दोग्ये तेजसः प्रथममुपसहृतं व्य-  
त्वात् त्रिवृत्करणस्य पचीकरणोपलक्षणार्थत्वात् । तत्प्रकारस्तु “पचानां  
भूतानां एकैकं द्विधा विभज्य स्वार्धभागं विहाय अर्धभागं चतुर्धा विभज्य  
इतरेषु योजिते पचीकरणं भवतीति” भाष्यकारवाक्यानुसारेण ज्ञातव्यं ।  
अपमर्शं श्लोकेन संगृहीतं पचदश्यां विष्टारण्यगुञ्जरणं “द्विधा विधाय  
चैवं चतुर्धा प्रथमं पुनः । स्वस्वेतरद्वितीयादीं योजनात् पच पच ते”  
इति । तथाच स्थूलेषु भूतेषु प्रत्येकं स्वीयार्धभागं इतरस्य भूतस्य अष्टमो  
भागः । एव परस्परानिमिलितानि सवदानि भूत्वा स्थूलानि गगनादि-  
सर्व-व्यवहारार्हाणि, स्थूलशरीरहेतवश्च भवन्तीति योजना ॥७५॥

भतप्रसगात् तद्वर्षाश्छदादीन् विषयान् तत्र वंसाग्योत्पत्त्यर्थं  
निरपयति । मात्रा इति ।

मानास्तदीया विषया भवन्ति शब्दादयः पञ्च सुखाय  
भाक्नु ॥७६॥

मीयते विषयीक्रियन्ते भुज्यन्ते इति वा माना तदीया आकाशादि  
भूतसर्वधिन्य शब्दादयः क्रमण शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा पञ्च विषया  
विनापणं सिद्धतीति विषया पित्रघातो विपूयकात वन्धनकमण विषय  
शब्दस्य निष्पत्तिः । भाक्नु ससारिण जीवस्य सुखाय सुखाभासाय  
भवन्ति । शब्दादयः दास्त्र तत्र तत्र पचतन्माना इति व्यवहियन्ते इति  
मात्रास्तदीया इति वक्षितम् तत्रद्वयसंवादाय ॥७६॥

इदानीं तया व्यवक्तव्यं विषयदयति । य एष्विति ।

य एषु मूढा विषयपु वद्धा रागोरुपागन सुदुर्दमेन ।  
आयान्ति निर्यान्त्यथ ऊर्ध्वमुच्चैः स्वकर्मदूतेन जवेन नीता ॥७७॥

य मूढा विवेकशून्या एषु विषयपु शब्दादिषु पञ्चमु सुदुर्दमेन  
सुष्टु दुःखेन दमयितुं शक्यतुं दुर्निरसन रागोरुपागन उह दूढ पाश  
वचनगुरज्वादि रागएव उरुपाश तनासक्तिरूपणवदपागन वद्धा स्तभपु  
पश्चादय इव तत्र अत्यंतकामविशिष्टा इति यावत् । यथा स्तभवद्धा  
पशव स्तभ विहाय गन्तुं न पारयन्ते एव विषयरागिण विषयास्त्यक्त  
न शक्नुवन्तीति तत्रवाशया श्रयीमार्गादिभ्रश्यत इत्याह आयान्ति निर्यान्त्यथ  
ऊर्ध्वमुच्चैः स्वकर्मदूतेन जवेननीता न्वेपा कर्म धर्माधर्मरूप तदेव ऊर्ध्वं  
धोगमनहतुल्यान्दूतवद्भवते । यथा यायस्थानादी कश्चिददूत विचार्या  
नध्वमधश्च नयति तद्वत् । तत्रापि शब्दादिव सुख जनयतीति वध्या  
तत्संपत्तय पुण्याजन करोति तदा दिव्यशब्दादिव अनुभवितुं तदीय पुण्य  
वम तमुच्च ऊर्ध्व नयति स्वर्गादिक प्रापयति । तत्रापि क्षीण पुण्य अध  
आगमन अशक्यम् । अधर्मं पुन नि वक्तव्यम् सर्वदाधोगमनमवेति ।  
उज्ज्वलरूप आयान्ति जमान्तरुत मुहूर्तवर्गान मानुष्यादिक मपादयन्ति ।  
पुन राग अधो निर्यान्ति । विषयपु रागवत् वक्तव्यत्वात् विषयकरण  
समवात निस्तारो न भवतीति भावः ॥७७॥



शब्दादीना मध्ये एकैकं सेवमानस्यापि मृत्यु बन्ध दृष्ट ।  
किं पुन पचापि कामयमानस्येति सदृष्टान्तमाह हेयत्वसिद्धये ।  
शब्दादिभिरिति ।

शब्दादिभि पचभिरेव पच पचत्वमापु स्वगुणेन वद्धा ।  
कुरग-मातग-पतग-मीन-भृगा नर पचभिरचित किम् ॥७८॥

कुरग हरिण, मातग गज, पतग शलभ, मीन मत्स्य, भृग  
भ्रमर एते पच स्वगुणेन स्वस्वसक्तिविषयेण गुणेन शब्दादीना गन्धान्ताना  
पचाना मध्ये क्रमेण एकैकेनैव वद्धास्तन्त पचत्व मरणमापु । एव  
एकैकस्यापि मरणपर्यन्तबन्धप्रयोजकत्वे एतै पचभिरपि अचित स्वकीय-  
सक्त्याश्रयत्वेन विशिष्ट नर किं मृत्यु प्राप्नोतीति वक्तव्यमित्यर्थ ।  
यथा लोके हरिण जिघृक्षव वेणुगानादिमधुरशब्दासक्त त चपल शीघ्र  
बहुदूर धावन्तमपि निश्चलीकृत्य तच्छब्दधवणासक्त विस्मृतात्मान  
गृह्णीतीति शब्द एक एव हरिणस्य बन्धक इति प्रसिद्धम् । एव वनमध्ये  
स्वच्छन्द विहारी दुर्ग्रह महानपि मातग स्पर्शसुख-लोलुप तज्जिघृक्षुभि  
वशाद्वारा गृह्यते इति त्वगिन्द्रियतृप्तिहेतु स्पर्श एक एव गजस्य बन्धको  
निर्वृत्त । एव पतग प्रकाशमाने दोषे भास्वरूपदर्शनेन भयवुध्या तदीय  
दाहात्म्य अजानन् तत्र पतित्वा म्रियत इति रूपस्य मृत्युहेतुत्व प्रसिद्धम् ।  
एव रसगुध्नु ज्ञप दासप्रसारित जाल प्रविश्य म्रियत इति प्रथितम् । एव  
घ्राणतर्पणलालत भ्रमर तत्तत्पुष्पाणीव चपव-सुग आघ्राय तद्गन्ध-  
सेवनेन पचत्वमाप्नोतीति च । एव शब्दादीना मध्ये एकैकमपि सेवमान  
मरणाशान्तानर्थप्रयोजक । तनापि तिरश्चा पापाभावात् तदानीतन-  
शरीरस्य परमनर्थ सम्भवति । शब्दादीना पचानामपि विषयाणा सेवनाय  
विहितमनाचरन् पापमप्याचरन् नर लोकद्वयादपि भ्रश्यत इति  
भाव ॥७८॥

विषयानुभव मृत्युहेतुरिति तिष्ठन्तु । दर्शनमात्रादपि मारत्यन्विषय  
कृष्णसर्पविषादपि अतिरिच्यत इत्याह । दोषेणेति ।

दोषेण तीव्रो विषय कृष्णसर्पविषादपि ।

विष निहन्ति भोक्तार द्रष्टार चक्षुषाप्ययम् ॥७९॥

विषयः रूपादिः कृष्णसर्पविषादपि दोषेण तीव्रः तीक्ष्णः, कृष्णसर्पविषे  
मारकत्वरूपदोषः यावान् तदपेक्षया तीक्ष्णो दोषः विषये । तत्र हेतुमाह  
विष निहति भोक्तारमिति । कृष्णसर्पेण दष्टस्य पुरुषस्य नाडीद्वारा  
जिह्वासंबद्धं विषं भवतीति स भोक्तेत्युच्यते । अत एव पावादी सर्पेण  
दष्टा अपि तत्र बलवद्बद्धा रज्ज्वादिना, न त्रियते तद्विषस्य नाडीद्वारा  
जिह्वासंबन्धमावान् । एव भोक्तार निहन्ति विषं तस्यासत्त्वमापादयति ।  
अयं विषमस्तु चक्षुषादृष्टारमपि निहन्ति, प्रसिद्धं खलु लोके सुदूर रूपादिकं  
दृष्ट्वा कलहायमाना नश्यन्ति जना इति । यदा कलहाद्यभावेऽपि मयं  
तेन विषयेण दूरगाकृष्टचित्तः स्वात्मानं द्रष्टुं न शक्नोतीति स्वाभानापादक-  
व्यापारवान् नियमेन भवतीति भावः । तथाच निहन्तीत्यस्य असत्त्वा-  
पादकव्यापारः, अनानापादकव्यापारो वा अर्थः । यथायोग्यमर्थः  
स्वीकणीयः । तत्र अमत्वापादकव्यापारस्य अमानापादकत्वं सिद्धमेव ।  
द्वितीयस्य तु अमत्वापादकत्वं न सम्भवतीति । वस्तुवस्तु विषयाकृष्ट-  
चित्तस्य पुरुषस्य सम्भवमपि पुरुषार्थोपयोगाभावात् असत्त्वमिव भवतीत्यपि  
मुच्यते ॥७९॥

एवमत्यन्तानर्थकरेण विषये विचाराभावात्पुरुष आशा वृत्ताति,  
तत्रत्यदोषं न परिगणयति मोक्षयात् ततः पुरुषार्थाद् भ्रश्यते । अतः  
मुमुक्षुणा सर्वथापि तदाशा त्यक्तव्या । अन्यथा पदपि शास्त्राणि अर्थतो  
ज्ञानतोऽपि मोक्षो दुर्लभ इत्याह । विषयानेत्यादिना ।

विषयाशा-महापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।

स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः पदछास्त्रवेद्यपि ॥८०॥

यः पुरुषः सुदुस्त्यजात् चिरकालादभ्यस्तत्वेन दृढविचारमन्तरात्  
सुदुस्त्यजात् त्यक्तुमशक्यात्, विषयाशामहापाशात् विषयानेयं महापाशं  
अत्यन्तं बन्धकत्वात् तस्माद्विमुक्तः विशेषेण मुक्तः सुतरां तत्संबन्धरहितः  
इत्यर्थः । स एव पुरुषः मुक्त्यै कल्पते समर्थो भवति । अन्यः तदाशापान-  
यद्वः पदछास्त्रवेद्यपि न मुक्त्यै समर्थो भवतीत्यर्थः ॥८०॥

विषयेषु तीव्रवेराग्याभावे अनर्थमाह । आपातेति ।

आपात-वैराग्यवतो मुमुक्षून् भवाब्धिपार प्रतियातुमुद्यतान् ।  
आशाग्रहो मज्जयतेन्तराले निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात्  
॥८१॥

आपातवैराग्यवत दुःसानुभवादिबालेषु धिक् ससार इति वैराग्य-  
वत, सार्वदिकवैराग्यशून्यानिति यावत् । भवाब्धिपार ससारसागरान्त  
ज्ञान, प्रतियातु प्राप्तु, उद्यतान् उद्युक्तान्, तत्र हेतुमाह मुमुक्षूनिनि ।  
मोक्षेच्छाया सत्वात् ससाराबुधि तर्तु उद्यता इति तादृशान् पुरुषान्  
आशौच ग्रह महानक, अन्तराले समुद्रमध्ये कण्ठे निगृह्य नितरा गृहीत्वा  
वेगाद्विनिवर्त्य भवाब्धिपारगमनाद्विनिवर्त्य मज्जयते मग्नान् करोति  
ससारसमुद्रमग्नान् पुनः कर्मादिबन्धेषु तन् व्यापारयतीति भावः ।  
यस्तावत् अत्यत विषयेभ्यो विरक्त शमादिगुणगणमण्डित स सद्गुरु  
उपसद्य तन्मुक्तत सम्यगात्मानं विदित्वा मुच्यते ससारात्, अयं तावत्  
आपातवैराग्यवान् दृढशान्त्यादिहीन तथा-प्रयतमानोऽपि मध्ये आशया  
पीडित पुरुषार्थाद्भ्रमयते । ज्ञानार्हो न भवतीति भावः ॥८१॥

पूर्वोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेनाह । विषयात्येति ।

विषयास्य-ग्रहो येन सुविरक्त्यमिना हतः ।

स गच्छति भवाम्भोधे पार प्रत्यूहवर्जित ॥८२॥

विषयात्यग्रह विषयनामबन्धनं, येन पुरुषेण, सुविरक्त्यमिना  
सुष्ठु विरक्ति दृढतरस्तीव्रवैराग्य सैवासि खड्ग, तेन हत नाशित, स  
पुमान् प्रत्यूहवर्जित ससारसागरोत्तरण विघ्नशून्य, भवाम्भोधे पार  
ससारसमुद्रस्य जन्ममरणादिवस्त्रोलतरगितस्य पार अन्त ब्रह्मति यावत्  
“सोऽध्वन पारमानोति तद्विष्णो परम पदम्” इति श्रुते । गच्छति  
प्राप्नोति, ब्रह्म साक्षात्कृत्य मुच्यत इत्यर्थः ॥८२॥

“यस्त्वविज्ञानवान्भयति अमनस्व मदाऽऽमुचि । न स तत्पदमाप्नोति  
ससार चाधिगच्छति । यस्तु विज्ञानवान्भयति समनस्व सदा मुचि ।  
न तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते” इति वटोपनिषत्प्रतिपादित-  
मर्थं पूर्वोक्तश्लोकादयमार प्रतीकृत्य उपदिशति । विषमेति ।

विषमविषयमार्गे गच्छतो जच्छब्दुद्धे  
 प्रतिपदमभिधातो मृत्युरप्येव सिद्ध ।  
 हितमुजनगुस्तक्या गच्छत स्वस्य युक्त्या  
 प्रभवति फलसिद्धिं सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥

विषम बहुविधविशेषपदे तु अत्यन्तदु खजटिलं य विषय शब्दादि  
 स एव मार्गः, “विषयास्तोषु गोचरान्” इति कथ्यते, तत्र गच्छत  
 तत्र एव अनच्छब्दे अशुद्धमनस्कस्य, यदि शुद्ध मन अवश्य विचारणीय  
 विषयेभ्यो निवर्तते । रजस्तमोभूयिष्ठत्वादेव विचारासमर्थः, “यथा व्याल-  
 गलस्थोऽपि भेकं दशानपक्षते, तथा कालाहिना श्वस्तो लोको भोयान्मादव-  
 तान्” इत्युक्तरीत्या विषयप्रवणता तस्य इति भावः । एतादृशा-  
 शुद्धमनस्कस्य प्रतिपदमभिधातुं मरणदापि दृढदुःखरागोऽपि, एव अनुभवमिदं  
 मृत्युरपि सिद्धं मृत्युघटितं ममार्थ इत्यर्थः । मन एव मनुष्याणां कारण-  
 बन्धनोदायो । यन्माय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्” इति वचनस्य  
 पूर्वमुदाहृतत्वात् । स्मर्यते हि गोतामु द्यायतो विषयान् पुनः मगन्तेषूप-  
 जायते । मगन्तुं जायते कामं कामान्प्रोक्षोभिजायते । शोधाद्भवति  
 प्रणयति इति । तत्र कथितं प्रणयः षड् अदम्येति इति धातुना प्रतीय-  
 मानः, स्वस्वरूपासाक्षात्कार एव वा अत्र मृत्युपदार्थः । कामस्यैव  
 कृतस्मिन् अभिहितस्य शोधात्मना परिणममानत्वात् तत्र उक्तं काममभिधातुं  
 एव वा अत्रापि प्रतिपदमभिधातुं उत्पन्नार्थः । लोके यथा इच्छा तथा  
 विषयानुभवस्य मुदुलंभत्वात्, जाताया इच्छाया अभिहन्यमानाया  
 अविचार्यमितु पुरुषस्य शोधादिनमेव प्रणयः एवेति भावः । एव अपिरक्तस्य  
 जायमानं फलमुक्त्वा विरक्तस्य तदाह हितमुजन-गुस्तक्येत्यादिना ।  
 हिता श्रेयस्वामिनः अत एव मुजना मत्पुरुषा मित्रादयः तोषा गुरोश्च  
 उक्त्या, गुरोस्तु हितत्वं मुजनत्वं च सिद्धमेव । गुरुलाभपर्यन्तं मुजनोक्तिः,  
 ततः गुरुविरतिरिति विभागः । यद्वा हिता सर्वदा श्रेयोहेतुभूता मुजनानां  
 गुरोश्च या उक्तिः तथा, तद्वत्तया स्वरय युक्त्या तदनुमार्गहोपहोनेन च  
 गच्छत “पण्डितो मेधावी गद्यारानेवोपमपद्येत, एवमेवेहाचार्यवान्-  
 पुरुषो वेद” इति श्रुतेरिति भावः । श्रेयोमार्गे एव गच्छत फलमिदं

परमपुरुषार्थभूत-मोक्षप्राप्ति प्रभवति प्रकर्षेण निष्प्रत्यह भवति । सत्य-  
मित्येव विद्धि अत्र विषये ईपदपि शका भावार्थमिति भाव ॥८३॥

मात्रास्तदीया इत्यारम्भ एतदत कृतस्य विषयवन्धवन्निरूपणस्य  
फलमाह मोक्षस्येति । यद्वा इदानीं मुमुक्षो हेयोपादेये उपदिशति ।  
मोक्षस्येति ।

मोक्षस्य काक्षा यदि वै तवास्ति  
त्यजातिदूराद् विषयान् विष यथा ।

१. पीयूषवस्तोप-दयाक्षमार्जव-

प्रदान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥८४॥

आदौ ह्यमाह यदि तव मोक्षस्य वै इत्यवधारण मोक्षस्यैवेत्यर्थ ।  
काक्षा इच्छा अस्ति विषयान् शब्दाद्येन विष यथा ह्यालहलमिव अति-  
दूरात्त्यज मनसापि मास्मार्प्यित्यर्थ । अनुवृत्तपि विध्युक्त निषिद्ध  
परिवर्जयेत् । निषिद्धपरिहारेण विहिते लभते मतिम् इति सूत-  
सहितोक्ते । उपादेयमाह तोप सतोप दया करुणा क्षमा तितिक्षा  
आर्जव अनुदिलचित्तता प्रशान्ति प्रकर्षेण नम दान्ति वहिरिन्द्रिय-  
निग्रह तोपदया-क्षमार्जवाना अन्त वरणधर्मत्वात् अशान्तस्य कुतस्मुद्र-  
मिति गीतावचनात् क्षमाभावे सतोपादेरसम्भवात् अत्र सर्व क्षमाधीनमिति  
द्योतयितुं प्रशान्तीति प्रत्युपसंगसहितं शान्तिपदप्रयोग । एता नित्य  
सततं, पीयूषवत् अमृतवत् आदराद् अत्यन्तविदवासेन भज नम-  
स्वेत्यर्थ ॥८४॥

एव मोक्षसाधनत्वेन विषयवैराग्य द्रवयित्वा तेष्व्याशा यन्निवन्धना  
तस्मिन्स्थूलशरीरे आदौ अनात्मत्वेन दिदशयिष्यति सक्ति त्यमन्येत्याह  
तत्र सकनी त्यक्ताया विषयवैराग्य मुलभमित्यभिप्रायेण । अनुक्षणमिति ।

अनुक्षण यत्परिहृत्य कृत्य अनाद्यविद्याकृतवन्धमोक्षणम् ।

देह परार्थोय-ममुष्य पोषणे यस्सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८५॥

यत् स्थूलशरीर परिहृत्य तादात्म्याध्यायान् दूरेष्टव्य, अनाद्य-  
विद्याकृतवन्धमोक्षण अनादि या अविद्या मूल्याविद्या, तथा एत एव

अहकारादिदेहान्त तस्य मोक्षेण परित्याग्य अनुक्षण सर्वदा कृत्यमन्तीति  
शेषः । अत्यत स्थूलतया भासमाने अस्मिन्गरीरेऽहताया परित्याग्य  
पश्चान् किल प्राणादी सा त्यक्तु शक्यत इति भावः । तत्रानात्मत्वं स्फुटयति  
अयं देहः परार्थः इति । वृत्त्याभ्यासानोद्यमश्च मज्जास्थोत्यादिश्लोकः । तस्मा-  
दनेक-पदार्थसंघातस्वरूपत्वेन अनात्मनः अमुष्य पोषणं यः सज्जते स्वात्मानं  
विस्मृत्य अयमेवाहमिति विज्ञेयः नोभिमन्यते तद्वक्ष्ये च विज्ञेयः यतो यतते,  
स ह्येव स्वात्मानं अननः स्थूलगरीरेण हन्ति हिनस्ति, अभातिनिजस्वरूप-  
करोतीत्यर्थः । येन निजस्वरूपभावेन मुच्यते तत्प्रतिगन्धक-स्थूलदेहाभि-  
मानेन तदीयजन्ममरणादि-धर्मवन्तः स्वात्मानं भवता सर्वदा दुःखमनु-  
भवतीति भावः ॥८५॥

लोकं तावत् नदी तिनोपेयं नद्याप्लवमानं दृष्ट्वा दारं धृत्वा मय  
नद्या तत्साहाय्येन अमज्जन् नदीं तरतीति प्रसिद्धम् । न तु कदाचिदपि  
तत्र प्लवमानं मत्तं गृहीत्वा तिनोपेयतीति । तथा मतिं तेषां नद्या  
मकरप्रस्तानां मरणं ध्रुवमिति प्रसिद्धम् । तथा शरीरपोषणासक्तस्य  
आत्मदर्शनं नैव भवति, प्रत्युत तदाभिमानः एवो भवता ममाराब्धौ तं  
समज्जयतीति भावेनाह । शरीरेति ।

शरीरपोषणार्थी मनु य आत्मानं दिदृक्षते ।

ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८६॥

शरीरस्य पोषणं अर्थमितुं शीलं अस्मिन् शरीरपोषणार्थी सर्वदा  
तपोपणव्यग्र इत्यर्थः । तादृशं मनु यो न आत्मानं स्वस्वरूपं दिदृक्षते  
साक्षात्तर्तुमिच्छति तस्य आत्मदर्शनं दारुधिया धृत्वाऽहस्य नदीतरणमिवा-  
संभावितमित्याह ग्राहमिति । स्पष्टम् ॥८६॥

अतः मुक्त्यर्थं विधेयिना शरीरे मोहः परित्यक्तव्य इत्याह । माह  
इति ॥

मोह एव महामृत्युं मुमुक्षोर्वपुःपुरादिषु ।

मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमहंति ॥८७॥

वपुःपुरादिषु शरीर-बन्धन-मुखादिषु मोह एव अटमम-भाव एव  
मुमुक्षा महामृत्युं यथा मृतं विचित्रावेन कर्तुं शक्नोति एव शरीरादिषु

अहमभाभिमानवान् मुमुक्षु मोक्ष सपादयितु न शक्नोतीत्यर्थं । येन मोहो विनिर्जितं पूर्वोपेताहतादि शरीरादौ परित्यक्तं स मुक्तिपदं मुक्तिमार्गं अर्हति स एव मुच्यत इत्यर्थं ॥८७॥

तस्मान्मोहं जहतीति उपदिशति । मोहमिति ।

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादियु ।

यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥

मुनयः मननशौलाः, यः देहादौ मोहं तदात्माभिमानं जित्वा, बहुकालाद्बहुमूलमपि वैशिकदत्तयुक्त्या श्रुत्यवष्टभेन च सुतरां परित्यज्य, तत् श्रुतिप्रसिद्धं विष्णोः परमं पदं, राहोर्ऽश्शर इतिवत् अभेदे पष्ठी, व्यापकं (परिच्छेदप्रयत्नान्) सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मरूपं स्थानं यान्ति अभेदेन भजन्ते, ब्रह्मैव भवन्ति मुच्यन्त इत्यर्थः । तं देहदारसुतादिषु आविपदेन मित्रधनादिग्रहः । तत्र मोहं भ्रान्तिं तव महामृत्युं अत्यन्तं स्वस्वरूप-प्रख्यावनेन स्वादर्शनहेतुं जहि नाशय वेदान्तार्थविचारणेनेत्यर्थः ॥८८॥

अत्यन्ताशुचि-पदार्थभूयिष्ठत्वात् दूरतः परित्याज्ये सुतरामभिमानानर्हं स्थूले देहे तत्र जुगुप्सया हेयताबुद्धिं द्रढयति । त्वगित्यादिना ।

त्वङ्मासरुधिर-स्नायुमेदो-मज्जास्थिसकुलम् ।

पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निधमिदं वपुः ॥८९॥

स्नायवः सिरा नाड्यः । तत्र अत्यन्तं जुगुप्सां जनयति मूत्र-पुरीषाभ्यां पूर्णमिति । न कश्चित् मलमूत्रभाणः स्पष्टमिच्छति, कुतस्तत्राहतेति भावः । अत एव निधं कुत्साहं । शिष्टं स्पष्टम् ॥८९॥

एवं तत्र वेदाभ्योत्पत्तये तं निन्दित्वा पूर्वोक्तं आत्मानात्मविवेचनं नुवर्तयति । पचीकृतेभ्य इति ।

पचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा ।

समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः ॥

अवस्थां जायतस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ॥९०॥

चन्दन च स्यो च आदि येषां तानि स्रक्चन्दन-स्थ्यादीनि तानि विचित्र  
रूपाणि यस्या सा स्रक्चन्दन-स्थ्यादिविचित्ररूपा ता स्रक्चन्दन-स्थ्यादि-  
विचित्ररूपा, स्थूलपदार्थसेवा, पदार्थेषु स्थूलत्व पूर्वमुक्तम्, अभिमानि-  
देवतानुग्रह-प्रयोज्य-सुखदुःखानुभव, जीव प्रत्यगात्मा, एतदात्मना स्थूल-  
देहात्मना मनोद्वारा स्थूलशरीर-प्रतिफलितस्वरूपेण स्थूलशरीराध्यस्तात्म-  
भावेनेति यावत्, स्वयं परोति । स्वप्ने तावत् स्थूलदेहे मनस्सयोगा-  
भावात् तत्र स्वरूपप्रतिफलनमपि नास्ति इति तस्य तदा भोगहेतुत्व  
नास्ति, अपितु तदा कल्पितस्य अन्यस्य स्थूलदेहस्यैव वासनामयस्य ।  
प्रसिद्धं किल स्वप्ने प्रसिद्ध-स्थूलदेहव्यतिरिक्त-तिर्यग्देवादि-देहल्लेपेण  
भोगान्भुजत इति । तस्मादस्य वपुषः स्थूलस्य देहस्य जागरे जाग्रदवस्थाया  
प्रशान्तिं प्राप्नुयामित्यर्थः । स्वप्नसुषुप्तयोरत्र अभिमानस्वेवाभावादिति  
भावः । इत्थं च तयोरवस्थाभेदोभासमानस्य जाग्रति परं प्रतीयमानस्या-  
नात्मत्व व्यावृत्तत्वात् सिद्धमिति भावः । सदावस्थासाक्षिणस्त्वात्मन  
अनुवृत्तत्वादेतद्भिन्नत्वं भुजानम् ॥९१॥

यथा कश्चिदपि लोके स्त्रीय गृहं स्वात्मत्वेन नमनुते तथा मन्तव्ये  
स्थूलदेहे अहता सुतरां न कार्येत्यभिप्रायेणाह । सव इति ।

सर्वोपि बाह्य ससार पुरुषस्य यदाश्रयः ।

विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः ॥९२॥

ससारो द्विविधः बाह्य आन्तरश्चेति । तत्र आन्तरं सुखदुःख-  
कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि । बाह्यं जन्मजरामरण-स्थौल्यवात्यादि । उत्तर-  
स्तांके निरूपयिष्यते बाह्यं सर्वोपि ससारः । अससारिणः पुरुषस्य  
यदाश्रयः यत्र तादात्म्याध्यासनिबन्धनं तत् इव स्थूलदेहं गृहमेधिनं  
गृहस्याश्रमिणं कुटुम्बिनं इति यावत् । गृहवत् सदनवत् विद्धि जानीहि ।  
प्रसिद्धं खलु लोके एकं गृहमाश्रित्य वर्तमानं कन्दर्पादिकं मन्यते । नहि  
गृहस्याप्यभावे विवाहादौ प्रयतते कश्चित् । तथा स्थूलदेहं आत्मत्वेन मन्वानं  
एव तदोपधर्मान् जरापरिणामादीन् स्वकीयान्मनुते दुःखमनुभवति न नान्यथा ।  
नहि सुषुप्तौ स्थूलदेहाभिमानसून्यस्य जरारोगादिपिडेति भावः । अतः  
गृहवदत्यतभिन्नत्वेन ज्ञेये अहता न युक्तेति भावः ॥९२॥



तमेव बाह्यं सगारं विगदयति । स्थलस्येति ।

स्थूलस्य सभजजराभरणानि धर्मा

स्थौल्यादयो बहुविधा शिशुताद्यवस्था ।

वर्णाश्रमादि-नियमा बहुधामया स्यु

पूजावमान-बहुमानमुक्त्वा विज्ञेया ॥९३॥

सभय उत्पत्ति, जरा वार्षिक्य भरण मृति, स्थौल्य अवयवोपचय,  
आदिपदेन तदपचयत्पकार्यं शौन्यकाज्ज्यादिवर्णः । बहुविधा, बहुध  
विधा येषां ते धर्मा बहुविधा । शिशुता आदि यासां कुमारता युयता  
वृद्धतानां ता अवस्था यद्यपि जराशब्देन पूर्वं वृद्धता अप्राप्ति, अथाप्यत्र  
शिशुताद्यवस्थामध्यं पुनर्ग्रहणं न होय, वर्णाश्रमादिनियमा वर्णां ब्राह्मणत्व-  
क्षत्रियत्व विद्वत्त्व-शत्रुत्वानि आश्रमा ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थत्व-  
सन्यासा, आदिपदेन गौत्रमूनादयः तेषां नियमा, ब्राह्मणत्वं ब्रह्मचर्याद्यु-  
चित-धर्मा, कुलाद्याचाराश्च । बहुधा आम्ना ज्वरशिरोवेदनाप्रभृतयः ।  
पूजावमान-बहुमानमुक्त्वा विशेषाश्च स्युः । पूजा गन्धपुष्पाविकृता, अवमान-  
वाचाप्यनादरणादिरूप-गिरस्कार अक्षणाप्यनीक्षणादिश्च । बहुमान उच्चा-  
सनोपवेशनादि एतन्मुक्त्वा विज्ञेयाश्च स्युः । जातकर्मदि-संस्काराणां  
शरीरस्यैव नियमाणत्वात् तदादाश्रमचिह्नानां च शरीर एव उपलभ्य-  
मानत्वात् वर्णाश्रमादिनियमा स्थूलस्य शरीरस्य इत्युक्तम् । यद्य-  
प्यान्तरा नियमा मत्स्येव अन्तरगम्यः । अथापि प्रत्यक्षानियमा अस्येत्यभि-  
प्रायः । यदा येनियमैः अयं ब्राह्मणः अयं ब्रह्मचारीत्यादिकं ज्ञातं परेणापि  
शक्यते ते नियमा इत्यर्थः । ते तावन्नियमा शरीरसंस्कारद्वारा वित्त-  
संस्तुर्नन्ति । तद्वारा ज्ञानोपयोगित्वं भजन्त इति अध्यातोनापि ते नियत-  
मादत्तव्या, इतरे धर्मा बन्धकत्वात् पूजावमानादयः नादत्तव्या इति  
भावः ॥९३॥

एवमनात्मानं स्थूलदेहं तन्मलम् ससारबन्धं च वर्णाश्रमादि-  
धर्मानुष्ठानेन तस्य मोक्षकत्वरीतिमपि निरूप्य इदानीं सूक्ष्मशरीर-  
निरूपयितुमारभते बुद्धीत्यादिना पञ्चमिं दशोक्तं ।

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवण त्वगक्षि, घ्राण च जिह्वा विषयावबोधनात् ।  
वाक्पाणिपादा गुदमप्युपस्थ कर्मेन्द्रियाणि प्रवणानि कर्मसु ॥९४॥

वर्णशक्त्यवच्छिन्न नभः श्रवण श्रोत्रं, त्वक् त्वचि स्थितगिन्द्रियं,  
अक्षि नेत्रगोलकावच्छिन्न चक्षुरिन्द्रियं, घ्राण नासावच्छिन्नं, जिह्वा  
रसनेन्द्रियं, एतानि पञ्च शब्दस्पर्श-रूपरस-रसात्मक-विषयावबोधनात्  
तत्तज्ज्ञानजननात् बुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणीति कथ्यन्ते इति शेषः ।  
वाग्वागिन्द्रियं वचनशीलं, पाणि हस्तेन्द्रियं आदानशीलं, पाद विहरणशीलं  
पादेन्द्रियं, गुद उपस्थ अनयोः क्रमेण शरीर-कठिन-द्रवरूप-हेयभागोत्सर्जन-  
हेतुत्वं । एतानि वचनादि-कर्महेतुभूतानीति कर्मेन्द्रियाणीत्युच्यते इति  
शेषः । तत्र हेतुः प्रवणानि, व्यञ्जानि कर्मसु वचनादिष्वित्यर्थः ॥९४॥

एव बाह्यानि दशेन्द्रियाण्युक्त्वा एतानि सर्वाण्यपीन्द्रियाणि यत्सर्वस्य  
कार्यं कर्तुं ज्ञानं जनयितुं च प्रभवन्ति नेतरथा तादृशमन्तःकरणं प्रधानं  
निरूपयति चातुर्विध्येन सनिमित्तं निगद्यत इत्यादिना ।

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनो धीरहं  
कृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः ।  
मनस्तु सकल्पविकल्पनादिभिः  
बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः ॥९५॥

अत्राभिमानादहं-मित्यहंकृतिः  
स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम् ॥९६॥

अन्तःकरणमेकमेव स्ववृत्तिभिः वक्ष्यमाणानि मनः, धीः बुद्धिः,  
अहंकृतिः अहंकारः, चित्तमिति च चतुर्धा निगद्यते इत्यर्थः । नामचतुष्टय-  
निमित्तवृत्तीराह सकल्पविकल्पनादिभिः मन इति, सकल्प सम्बन्धवबुद्धिः  
विकल्पना विविध कल्पना सशय इति यावत् । पदार्थाध्यवसाय पदार्थ-  
निर्णयं ताद्रूपधर्मतः वृत्तिः बुद्धिश्च्यते । अत्र शरीरादौ अभिमानात्  
अहमित्यध्यासात् अहंकृतिः अहंकार इति च उच्यते । स्वार्थानुसन्धानगुणेन  
स्मरणवृत्त्येत्यर्थं चित्तमिति कथ्यते ॥९६॥

एव सत्वाशोषेतै प्रत्येक पचभि भूतै त्रमेण जायमानानि ज्ञानेन्द्रियाणि प्रत्येक तैरेव रजोगुणोपेतै उत्पद्यमानानि कर्मेन्द्रियाणि, सत्व-प्रधानानां तेषां समष्टिकार्यमन्त करणं च निरूप्य इदानीं रजोशोषेत-भूतपचक-समष्टिकार्यं सूक्ष्मशरीरघटकं प्राणमाह । प्राणापानेति ।

प्राणापान-व्यानोदान-समाना भवत्यसौ प्राणः ।  
स्वयमेव वृत्तिभेदात् विवृते-भेदात्सुवर्ण-सलिलमिव ॥९७॥

यथा तत्रमेव सुवर्णं वटव नैयूरं दुण्डलमित्यादि-विवृतिभेदेन भवति, यथा च विवृतेभेदेन एकमेव जलं नदीं कृत्या तटाकमित्यादिरूप्या भेदेन भवति तथा असौ अग्रेगन्तम्मचारी प्राणः स्वयमेव वृत्तिभेदात् प्राणनापानन-व्यानन-समाननोदानन-वृत्तिभेदात् प्राणापान-व्यानोदान-समाना इति भेदेन भवति । सुवर्णमहितं सलिलं सुवर्णमलिलमिति विग्रहः । प्रत्येकमर्थो बोद्धव्यः । यथा विवृतेभेदात् एकमेव सुवर्णं भिन्नत्वेन व्यवह्रियते तथा च विवृतेभेदादेव एकमेव जलं तरंग-फेनबुद्बुदादिभेदेन व्यवह्रियते तद्वदित्यर्थः । तत्र प्राणनं मृगनासिरास्या निष्प्रमण-प्रवेगेन, अपाननं मलादीनां अशोषणं, व्याननं अगतिगीतांतरस्तादे माडीमुखेषु यितननं, उर्ध्वं नयनं उदाननं वसनवाले, भूततन्मात्रमादे पावार्थं जाठराग्ने समुत्तयनं समाननं इति वृत्तयः पञ्च प्राणस्य ॥९७॥

इदानीं ज्ञानेन्द्रियादीनि यत्त्वयनार्थं-मभिहितानि तत्सूक्ष्मशरीरं विनिष्टमाह । वागादीनि ।

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च प्राणादिपञ्चा-भ्रमुखाणि पञ्च ।  
बुद्ध्याद्यविद्यापि च काम-वर्मणी पुंयष्टव सूक्ष्म-शरीरमाह ॥९८॥

वागादिपञ्च कर्मेन्द्रियाणि, श्रवणादिपञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, प्राणादि-पञ्च प्राणपचक, अभ्रमुखाणि पञ्च आरामादि-सूक्ष्मभूतपचक । बुद्ध्यादि-जन्तुवर्णनानुष्टय, अविद्या अध्ययनं, कामवर्मणी काम उत्था वर्म पर्यायमार्गः । एतत्पञ्च मिलितं पदार्थाष्टव-अमुदायोपेतं पुंयष्टव सूक्ष्म-शरीरमाह वेदन्तिन इति शेषः । वागादिपञ्च १, श्रवणादिपञ्च २, प्राणपचका ३, भूतपचका ४, बुद्ध्यादिस्तुष्टय ५, अविद्या ६, काम ७, कर्मे ८ ॥९८॥

अस्याप्यनेक-पदार्थसघातरूपत्वात् सहताना गृहवत् परार्थत्वात्  
अनात्मत्व स्पष्टं कथयति । इदमिति ।

इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं, लिङ्गत्वपचीकृत-भूतसंभवम् ।  
सवासनं कर्मफलानुभावकं स्वाज्ञानतोऽनादि-रूपाधिरात्मनः ॥९९॥

सूक्ष्मसंज्ञितं सूक्ष्ममिति संज्ञा सूक्ष्मसंज्ञा सा अस्य संजातेति सूक्ष्म-  
संज्ञितं, इदं शरीरं । तस्य जन्यत्वादपि नित्यात्मरूपत्वं नेत्याह अपची-  
कृतभूतसंभवः । अपचीकृतानि गानि भूतानि गगनादीनि पृथ्व्युत्तानि  
तेभ्यः संभवः उत्पत्तिः यस्य तत्, इदं सूक्ष्मसंज्ञितत्वे हेतुः । लिङ्गं  
लिङ्गं इत्यस्माद्धातोः ज्ञापकमात्मनः इत्यर्थः । वागादीनां करणानां  
जडानां अधिष्ठातारमन्तरा तत्तत्कार्ये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः अचेतनं चेतना-  
धिष्ठितं कार्यं करोतीति व्याप्तेः रथादौ दृष्टत्वात् । वहिरन्तःकरणप्रदितं  
इव शरीरमेव लिङ्गमित्युच्यते इत्यर्थः । तुरवधारणे, सुषुप्तौ ज्ञानस्य  
सर्वमतसिद्धत्वाभावात् जागरे स्वप्ने च मनोमूलकतयैव ज्ञानस्य जायमान-  
त्वात् मनसोऽपि जडस्य आत्मप्रतिफलनमन्तरा इतरप्रकाशकत्वासंभवात्  
आत्मप्रतिबिम्बग्राहित्वेन आत्मज्ञापक-मनोघटितत्वाच्च अस्य शरीरस्य  
लिङ्गत्वमित्यपि बोध्यम् । नेदं स्थूलकारणयोः संभतीति च । आत्मनः  
निर्धर्मकत्वात् स्थूलशरीरस्य तदा तदा विनाशित्वेन बहुत्वादाभोक्ष-  
स्थायित्वासंभवात् पूर्वपूर्व-संस्काराणां जनिष्यमाणानुभव-जन्यसंस्काराणां  
च आमाशं स्थायिर्लिङ्गं शरीरमेवाश्रयः इत्याह सवासनमिति । वासनाभि-  
अनुभवजन्यमस्कारं सह वर्तत इति सवासनम् । भागहेतुत्वमप्यश्रयैवेत्याह,  
कर्मफलानुभावकं कर्मणः पुण्यस्य पापस्य च त्रयेणफले ये सुखदुःखे तदनुभव-  
भोगः तज्जनकः । सुषुप्तौ सवासनस्य लिङ्गशरीरस्य विलीनत्वादेव कर्मज-  
सुखदुःखानुभवाभावः । जाग्रत्स्वप्नयोस्तु तत्राविधस्य लिङ्गशरीरस्य  
सत्वात्तदनमव इत्यन्वयव्यतिरेकान्वा भोगहेतुत्वं तस्य ज्ञेयं । आत्मनः  
अनादिस्पाधि इदं लिङ्गशरीरं, भूतभूतजन्यमपि महाप्रलयादावपि  
अभिव्यक्त्यनभिज्ञाव्यक्त्या एकमेवाऽऽविदेहैव बलं अवतिष्ठत इति  
स्थूलशरीरवत्सादित्वं नास्ति । ननु अविद्याशब्दिताध्यास-कामकर्मणां  
भिन्नभिन्नानामेव तदा तदा जायमानत्वात् तद्वद्विद्वत्लिङ्गशरीरस्य नञ्-  
मेकस्यैव स्थिरत्वं संभवतीति चेत् । तेषां तथात्वेऽपि वागादीन्दिग्याणां

चाह्याना अन्त करणस्य च बुद्ध्यादेरभिधानामेव आमोक्ष स्थितेरेकत्व-  
मन्तव्यम् । नच वागादावपि भेदो वक्तव्य, गौरवात् । कर्मप्रतिबन्धा-  
न्मूढत्वाद्युपपादन-सम्भवात् । सर्वकर्म-सस्वारास्पदस्य अन्त करणस्य  
भेदस्य मुनरा वस्तुमशक्यत्वात् । तनापि भेदे कृतहानाहृताभ्यागमागते ।  
पूर्वकृत-कर्माद्याश्रयस्य अन्त करणस्य नष्टत्वात्, नूतनात् करणे कर्म-  
वासनाद्यभावान् ससारानुपपत्तिश्च । बालवग्न्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्नस्यात्  
आत्मन निर्धर्मपत्त्वात् अविद्याया एषत्वात् मुसदु ग्यादि-स्वरप्रसगात् ।  
सुषुप्ती भोगस्मृत्याद्युत्पत्तिप्रसगात्, अतो गौरवादुक्त-दोषाच्च वागादीना  
बुद्धेर्न आविदेहक्यस्य अनिधानामेव स्थितिर्गित मन्तव्यम् । यद्यपि  
तेषा प्रागभावाप्रतियोगित्व-रूपानादित्य अविद्याया एव न भवति, तथापि  
सकृदुपधाना अभिधानामेव स्थितिर्गित तात्पर्येण अनादित्वमुक्तम् ।  
यन्तुत आत्मन एक-वपि ज्ञानिष्वपि वर्तमानस्य यद्वाचित् ब्रह्मविद्वर  
ब्रह्मविद्वरीयान् ब्रह्मविद्वरिष्ट इति भविष्यभेदव्यवहारस्य अन्त करण-  
भेदेनैव उपादिनीयत्वात् यावत्वायमवस्थापि-भेदहेतोर्उपाधिता  
इति लक्षण लिंगसंगीतस्य निष्प्रत्यहमिति उपाधित्व तस्य । ननु असंगत्वेन  
कैनाप्यनृषीयमानस्य आत्मन नच लिनेन सोपाधिवत्त्वं दृश्यत आह  
स्वाज्ञानत, स्वग्रवरूपस्य इदानीमज्ञातत्वात् तन्मूलकं वृत्तिस्त उपाधि-  
रित्यर्थ ॥९९॥

अस्य सूक्ष्मशरीरस्य अमाधारणीमवस्थामाह । स्वप्न इति ।  
स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था, स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र ।  
स्वप्ने तु बुद्धि स्वयमेव जाग्र-त्कालीन-नानाविधवासनाभि ॥  
कत्रादिभाव प्रतिपद्य राजते, यत्र मय्यज्योतिरय परात्मा ॥१००॥

अस्य सूक्ष्मशरीरस्य, विभक्त्यवस्था भेदभावस्या स्वप्नो भवति ।  
जागरस्य स्थूलसाधारणत्वात् सुषुप्तायस्यैव लीनत्वात् स्वप्न एव सूक्ष्मरस्य  
प्राधान्यमिति भाव । तत्र हेतु मगृह्णाति स्वमात्रेयादिना । स्वमेव  
स्वमात्र तस्य शेष अवशिष्टत्वेन अनिमन्यमानेन स्वमेव वेदार्थमित्यर्थ ।  
तत्रा म्युन्देहे अनिमानाभावान् सूक्ष्मदेहस्यैव स्वमेव विशेषोभिमन्य-  
मानत्वमिति । यत्र स्वप्ने स्वमात्रशेषेण म्युन्निमान परित्यज्य

सूक्ष्मशरीरमानविषयकेण अभिमानेन विभाति प्रकाशते, आत्मा इति शेष । सगृहीतमर्थं स्वमानयोपत्व विवृणोति स्वप्नेत्वित्यादिना । स्वप्ने तु स्वप्नावस्थाया बुद्धि अन्त करण, स्वयमेव कारकान्तरनिरपेक्ष, जाग्रत्कालीन-नानाविधवासनाभि जाग्रदवस्थाया जातं बहुविधं सस्कारं, कर्मादिभाव कर्तृत्व कर्मत्व त्रियात्व करणत्व अधिकरणत्व सकल त्रिया-कारकभावमिति यावत् । प्रतिपद्य प्राप्य, राजते प्रकाशते । ननु जडस्य अन्त करणस्य कयमीदृशी शक्ति ? शरीरान्तर्गतनाडीषु हिताभिधानासु यदा मन सन्नरति तदा स्वप्न इति श्रुत्या प्रतीति तत्र प्रकाशस्य दूरापास्त-त्वात् इति चेत्तत्राह यत्र स्वयं ज्योतिरय परात्मा इति । “न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ” “यदादित्यगत तेजो जगद्भासयतेऽ-खिल । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक ” इति श्रुति स्मृतिभ्या जेगीयमानमहिम्न पराप्रकाशस्य ज्योतीरूपस्य चैतन्यज्योतिष परमात्मन सवधात् अन्त करणस्य इयं शक्ति जाग्रत्कालिक-वासना-सहकृतस्य । ननु “सत्यं ज्ञानं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ” “अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू ” “प्रज्ञानं ब्रह्म ” “कृत्स्नं प्रज्ञानघन एव ” इत्यादिश्रुतिभ्य आत्मन सार्वदिक-चैतन्य-ज्योतीरूपत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वस्य सर्वदा सत्त्वेन किं विशेषत यत्र स्वयंज्योतिरय परात्मा इति स्वप्न एव नदुच्यते इति नैच्छृणु तत्र कारणम् । बृहदारण्यकगत-ज्योतिर्ब्रह्मणस्य आमूलचूड परिशीलनेन इदं स्पष्टं सुज्ञान । तत्र हि “किंज्योतिरय पुरुष ” इति जनकेन पृष्टो भगवान् याज्ञवल्क्य आदौ सर्वलोकप्रसिद्धं सूर्यं तस्मिन्प्रस्तामिते चन्द्रमसं तस्मिन्नस्तं याते अग्निं तस्मिन्वान्ते वाचं भान्ताया च तस्या आत्मानं ज्योतिरुवाच भान्ताया वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्म-वास्य ज्योतिर्भवतीति आत्मनैवायं ज्योतिपास्ते पत्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्यन्तेन । यद्यपीदं ज्योतिष्ट्वं सदातनं, तथापि जाग्रति करणाद्यनुग्राहकाणां इतरेषां आदित्यादीनां वाह्यानां ज्योतिषां सत्त्व-वशायां आन्तरवाह्य-कार्यकरण-सपातव्यवहारस्य संकुलताया च न विविक्तं दर्शयतुं शक्यते । सुपुप्तौ विविक्तत्वेऽपि प्रकाशवस्तुनोभावात् तदा सर्वस्य दृश्यस्य लीनत्वात् । यद्यप्यस्ति अज्ञानं तथापि तद् अभाव-रूपत्वेन चर्चास्पदमतं जाग्रत्काल इव यत्र व्यवहार सर्वो वर्तते अपितु

बाह्यज्योतीषि न सति स्थूलशरीर नास्ति बाह्यकरणानां चोपरतव्यापारत्वं  
तदा मन एकमेव आत्मज्योतिरिति प्रतिफलनमहिम्ना जाग्रद्व्यसनाविशिष्टं  
सर्वाकारता भजते इति विवक्षते तस्मिन्काले स्वयज्योतिष्ट्वमुपदिष्टमानं  
गुणं भवतीत्यभिप्रायेण "अत्राय पुरुष स्वयज्योतिरिति" रित्युक्तिः । यथा  
सर्वदापि सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहितावाधित-ब्रह्मरूपेण जगत  
सत्त्वेपि तृष्टे प्राक् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति  
श्रोतृबुद्ध्यारोहाय छान्दोग्य उपदिष्टं तद्वत् स्वप्ने मनसा जाग्रत्संस्कार-  
युक्तस्यापि जडस्य परप्रकाशत्वनिमित्तात् चैतन्य-ज्योतिस्त्वरूप परमात्म-  
प्रतिफलनवशादेव सूर्यचन्द्रादि-प्रकाशक-रूपेण घटपटादिप्रकाश्यरूपेण  
परिणममानत्वयोग्यता । अत एव अन्धादयोपि स्वप्ने पदार्थान्विश्यन्ति ।  
तेषां जागरे चक्षुरभावात् वक्ष्य दर्शनं ? मन एव चक्षुरूपेण आत्मशक्त्या  
परिणमत इत्येव वक्तव्यम् । एव चक्षुरादित्यादि-ज्योतिरभावदशायां प्रति-  
भासमान-सकल्पपदार्थभासकत्वं आत्मन एवेति श्रोतृबुद्धौ स्फुटमारोहयितुं  
शक्यत्वात् यत्र स्वयज्योतिरस्य परात्मा इति धृत्यनुसारेणोक्तं मूले  
॥१००॥

आलोकदानेन सकलप्राणि-प्रेरकोपि सूर्य यथा तत्कर्मणि न सज्यते  
एवमात्मापि बुद्धिकृत कर्मणेत्यसंगतत्वमपि प्रयागादाह ज्योतिष्ट्व  
स्वाभाव्यात् । धीमात्रकोपाधिरिति ।

धीमानकोपाधि-रजोपसाक्षी  
न लिप्यते तत्कृतकर्मलेपैः ।

यस्मादसगस्तत एव कर्मभिः

न लिप्यते किञ्चिदुपाधिना कृतैः ॥१०१॥

धीरेव धीमात्र स्वार्थे वप्रत्यय, धीमान् उपार्थिर्वस्य स्वप्न  
धीमानकोपाधि तत्कृतकर्मलेपे तया धिया कृतानि यानि कर्माणि तेषां  
लेपे सचन्यै न लिप्यते विशिष्टो न भवति । तत्र हेतुः अजोपसाक्षीति,  
अतृप्तत्वे सति बोद्धृत्वस्यैव साक्षित्वात्, वस्तुतरेव कर्मलेपात्, नहि लोकेपि  
नादिप्रतिवादि-कर्मणि सचन्यते साक्षी, तद्वदित्यर्थः । 'असगोह्यम्  
पुरम्' "असगो नहि सज्जते" इत्यादिधृत्यनुसारेणामगत्वाच्च । बुद्ध्या

वागादिना वा केनाप्युपाधिना क्रियमाणकर्मलेपोप्यस्य नास्तीत्याह यस्मा-  
दसग इति । तत् एव असगत्वरूपकारणादेव उपाधिना कृतं शरीरेण वा  
वाचा वा मनसा वा केनाप्युपाधिना कृतं कर्मभिः समीचीनासमीचीन-  
कर्मभिः किञ्चिदपि न लिप्यते न सवद्धो भवति ॥१०१॥

सगस्तूपाधि-कल्पित, वास्तविकमसगत्व-मित्युपपादयति । सर्वेति ।

सर्वंव्यापृति-करणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मन पुंस ।

वास्यादिकमिव तक्षणं तेनैवात्मा भवत्यसगोयम् ॥१०२॥

चिदात्मन ज्ञानस्वरूपस्य पुंस पुरुषस्यात्मन, इदं लिङ्गं बुध्यादि-  
घटितं लिङ्गशरीरं, तक्षणं, त्वष्टु, वास्यादिवमिव तक्षणकरणं द्रव्य-  
विशेषादिकमिव सर्वंव्यापृतिकरणं सकलव्यापारासाधारण-कारणं,  
तक्षणोपि तक्षणकरणसत्त्वं एव वाचादि-तक्षणसामर्थ्यं न स्वभाविकं, तथा-  
त्तन्नोपि आह्वानिकं लिङ्गशरीरसंबन्धं एव सकलव्यवहारं । अत एव सुषुप्तौ  
न व्यवहारं लिङ्गशरीरसंबन्धस्य तदा अभावात् । तेनैव लिङ्गशरीरसत्त्वं  
व्यापृतिं तदभावे तदभाव इति लोकसिद्धहेतुर्नैव । अयं आत्मा । असग  
वास्तविक-सकलव्यवहार-सगहीनः भवतीत्यर्थः ॥१०२॥

ननु अहंप्रतीतिविषयस्यैवात्मत्वात् अहमन्धः अहं बधिरः अहं मूकः  
अहमुच्छ्वसिभिः क्षुत्पिपासापीडितोऽस्मि अहं करोमि सुखी दुःखीत्यादि-  
बहुतर-धर्मसंबन्धात् असगत्वमनुपपन्न-मात्मन इति चेत्, तेषां सर्वेषां  
धर्माणां तत्तदुपाधिगतत्वादात्मन कोऽपि धर्मः सासारिकः नास्तीति वक्तुं  
उपाधि-धर्मानि विभजते । अन्धत्वेत्यादिना ।

अन्धत्व-मन्दत्व-पटुत्वधर्मा

सौगुण्य-वैगुण्य-यश्चाद्वि चक्षुषः ।

वाधिर्य-मूकत्व-मुखास्तथैव

श्रोत्रादिधर्मानः तु चेत्तुरात्मनः ॥ १०३ ॥

आदौ बहिरिन्द्रियधर्मानाह । चक्षुषः सौगुण्य-वशात् पटुत्व,  
वैगुण्यवशादन्धत्व-मन्दत्व । एव श्रोत्रवैगुण्यात् वाधिर्यं मन्दत्व । तत्सौ-  
गुण्यात् पटुत्व । वागिन्द्रियवैगुण्ये मूकत्व, तत्सौगुण्ये पटुत्व । एव त्वग्नाश-  
रसनरूपेषु ज्ञानेन्द्रियेषु पाणिपादादिषु कर्मेन्द्रियेषु च वेदितव्यम् । एतत्सर्वं



नात्मन । तत्र हतुमाह वेत्तुरिति । चक्षुरादौ मन्दत्वपटुत्वादिव वतमान  
साक्षिणात्मना वेद्यत इति न वेद्यस्य वेत्तव्यमस्य सम्भवतीति भाव । तुरख  
धारण नैवेत्यथ ॥१०३॥

उच्छ्वास-श्रुतिपासादे प्राणघमत्वमाह । उच्छ्वासति ।  
उच्छ्वास निश्वास विजृम्भण क्षुत् प्रस्पन्दनाद्युत्क्रमणादिवान क्रिया ।  
प्राणादिकर्माणि वदन्ति तज्ज्ञा प्राणस्य घर्माविशना पिपास ॥१०४॥

प्राणादीत्यादिपदेन अपानादीना नागादीना चपरिग्रह । उच्छ्वास  
प्राणस्य निश्वास अपानस्य विजृम्भण देवदत्तस्य क्षुत् कुक्कुरस्य प्रस्पन्दन  
प्रकर्षेण चलन ध्यानस्य घनजयस्य वा । आदिपदेन उन्मीलनपरिग्रह ।  
तत्तु क्रूरस्य उत्तमणमुदागस्य आदिपदेन वमन तदपि तस्यैव । एतानि  
कर्माणि प्राणादीना तज्ज्ञा वदन्ति । इदमिदं कम अस्म्यति विणपज्ञा  
इत्यथ । एवमज्ञाना पिपास क्षुत् पिपासा च प्राणस्य धर्मो । अत एव  
निद्राया श्रुतिपासाद्यभाव तदा प्राण अभिमानाभावात् ॥१०४॥

यद्यवम घत्वादीना अनात्मचक्षुरादियमत्व इतो वा अयमात्मा  
स्वात्मान तद्वमव त जानातीति शक्यामाह । अन्त करणमिति ।

अन्त करणमतेषु चक्षुरादिषु यज्जगणि ।

अहमित्यभिमानन तिष्ठत्याभासतेजसा ॥१०५॥

अत करण मन एतेषु चक्षुरादिषु ज्ञानद्वयपु बाणादिजर्मेन्द्रियपु  
प्राणादिषु यज्जगणि स्थूलशरीरे च आभासतेजसा चित्प्रतिफलन प्रयोज्य  
तेजसा जीवेत्यथ । अहमित्यभिमानन अज्ञानप्रयोज्यन तादात्म्यभिमानन  
तिष्ठति । यत् विवेकगूय आत्मानात्म विवेकगूय अत करण स्वप्रति  
बिम्ब गृहीत्वा चेतनीगूय चक्षुरादिव शरीरात् अहमित्यभिमानयते अत  
तद्वत् आत्मापि तद्वर्मान अघत्वादीन स्वस्मि कल्पयित्वा अहमघ इत्यादि  
रीत्या व्यवहरतीत्यथ । सुषुप्तावन्त करण आत्माप्रतिफलनमपि नास्ति  
अहमघ इत्यादिव्यवहारोपि नास्ति । एव स्वप्न प्रतिफलनसत्त्वेपि  
चक्षुरादौ आभासतेजसा अन्त करण न तिष्ठति स्वप्न बाह्यकरणगणस्य  
लयादित्यपि वेदितव्यम् । तेनैव स्वप्नपि अघत्वादिव्यवहार जाग्रतीय  
नास्तीति भाव ॥१०५॥

एव चाह सर्व ससार अन्तःकरणमूलक आत्मन इत्युक्त्वा कर्तृत्व-  
सुखदुःखादिक आन्तर तस्यैवेत्याह । अहकार इति ।

अहकार स विज्ञेय कर्ता भोक्ताभिमान्यम् ।

सत्त्वादिगुणयोगेना-वस्थानितयमश्नुते ॥१०६॥

एव चित्प्रतिबिम्ब-विशिष्टमन्तःकरणमेव बलुरादौ शरीरेष्व अह-  
मित्यभिमानेन वर्तमान अहकार इति विज्ञेय । स इति विधेयप्राधान्या-  
द्विद्वेश । अयमेव कर्ता भोक्ता इत्यभिमानि । अस्य सत्त्वरजस्तमोहप-  
गुणत्रयमय-प्रकृतिकार्यत्वात् सत्त्वादिगुणयोगेन अवस्थानितय जाग्रत्स्वप्न-  
सुषुप्तिरूपावस्थात्रय अयं अश्नुते प्राप्नोति रजोगुणयोगेन जागरः,  
सत्त्वयोगेन स्वप्नः, तमसा सुषुप्तिरिति भद । सर्वदा गुणत्रयसत्त्वेऽपि तदा  
तदा तस्य औत्कट्यं ज्ञेयम् ॥१०६॥

एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे आन्तरे तद्वर्मावित्युक्त्वा सुखदुःखयोरपि तद्वर्मत्व-  
माह । विषयाणामिति ।

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये ।

सुखं दुःखं च तद्वर्मं सदानन्दस्य नात्मन ॥१०७॥

विषयाणां शब्दादीनां आनुकूल्यं स्वकीयेच्छानुसारेण संप्राप्तीं सुखी,  
अहं गृहीतिं प्रतीति । विपर्यये प्रातिकूल्येन स्वेच्छाविरोधेन प्रसक्तीं  
दुःखी, अहं दुःखीत्यभिमानः । अतः सुखं दुःखं च तद्वर्मं तदिच्छानुरोधित्वा-  
त्तयोः, तदा सर्वदा आनन्दस्य आनन्दस्वरूपस्य ' आनन्दो ब्रह्म ' " विज्ञान-  
मानन्द ब्रह्म " रसो वै स ' मदेव आकाश ' इत्यादिभूतिभ्यः,  
आत्मन न धर्म इत्यनुपपद्यते । युज्यते चैतत् विचार्यमाणे कालांतरे य-  
शब्दं मुखमजीजनत् स एव कालान्तरे दुःखं जनयतीति प्रसिद्धं लोके । तत्र  
मनीभेदं विना नान्यस्य हेतुत्वं सुवचं विषयसैकरूपत्वात् कालस्य च ।  
तेनैव शब्देन पुरुषान्तर-सुखोत्पत्तेर्दर्शनात् तस्मिन्नेव काले अहेतुत्वा-  
योगात् । मनस्तु पूर्वमिमं शब्दं अनुकूलं व्यजानात् इदानीं तु प्रतिकूलं  
मन्यते इति तस्यैव सुखं दुःखं च धर्म इति ॥१०७॥

इदानीं श्रुतिप्रसिद्धं सदानन्दत्वं आत्मन युक्त्या प्रतिपादयति ।  
आत्मार्यत्वेनेति ।

आत्मायंत्वेन हि प्रेयान् विषयो न म्वत प्रिय ।  
म्वत एव हि सर्वेषां आत्मा प्रियतमो यत ॥१०८॥

हि यस्मात्प्राण्यान् विषय म्वत विषयत्वेन हेतुना न प्रिय प्रीति-  
गोचर विन्तु आत्मायंत्वेन आत्मन मुग्य दुःखनिवृत्ति वा जनयतीति प्रेयान्  
प्रेमविषय । यदि म्वत एव विषयत्वेन शब्दादिरूपत्वेन प्रेयान्म्यात् वदापि  
प्रेमस्त्व न व्यभिचरेत् । त्यजति पूर्वमिष्टत्वेन ज्ञातमपि शब्दादिव पुरातन-  
यलनादिव च । शरीरमपि दृष्टयन्ति प्राण निरन्ध्रानि मनश्च लक्षणापादयन्ति  
विमन्यत्, आनन्दमयकोशत्वेन प्रमिद अज्ञानमपि भजयन्ति । तत्र पारण  
इतरन आनन्दरूपस्याभाव आनन्द-प्रयोजनत्वस्याप्यनियतत्वम् । आत्म-  
नस्तु आनन्दरूपत्वस्य म्वत मिदृत्वान् मयदा प्रियतमत्र, उक्त हि  
"मा नभूय हि भूयासमिति प्रेमात्मनोऽयते" इति । वदापि गामूर्धमिति  
न, अपितु सर्वदा भूयासमिति तदर्थं । तत्तु आत्मन एकस्यैव युज्यते,  
स्थूल स्वप्ने न भासते सूक्ष्म सुषुप्तौ न, कारण न समाधौ । शब्दादि-  
विषयाश्च न सुषुप्तिममाध्या । यदा स्थितिस्तेषां जागरन्स्वप्नयो तदापि  
नैयत्येन आनन्दजनकत्वाभाव । इदमुपपादितमधस्तात् । अतः सर्व-  
वस्थामु अनुभूतमान विषयाद्यभावेपि सकलप्राणिमिदृशतया सुषुप्तौ,  
ज्ञानानुभवेन समाधौ च आनन्दरूपत्वेन अनुभवगोचर आत्मा स्वत एव  
निरुपाधिकतया सर्वेषां प्राणिना प्रियतमो मत, हि यस्मात् ॥१०८॥

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःख कदाचन ।  
यत्सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते ।

श्रुति प्रत्यक्षमेतिहा अनुमान च जाग्रति ॥१०९॥

तत सर्वदा सर्वप्राणिप्रियतमत्वात् आत्मा सदानन्द सर्वदाप्यानन्द-  
स्वरूप । अस्य दुःख आनन्दस्वरूपस्य, वदाचन वदापि नास्तीत्यर्थं । तत्रा-  
नुभव प्रमाणयति यदिति । यस्मात्सुषुप्तौ अवस्थायां, निर्विषय आनन्दहेतु-  
त्वेनाभिमत-शब्दस्पर्श-रूपरस-गन्धादि-सकलविषय-सदन्धनिर्मुक्त, आत्मा-  
नन्द स्वरूपानन्द स्वभावसिद्ध अनुभूयते, सर्वेषोपि शेष । अस्यानुभवस्य  
देहात्मानुभववन्नान्तित्व वक्तव्यमित्याह श्रुतिरिति । "एषोऽस्य परम  
आनन्द" "एषास्य परमा सप्त" इति मौपुत्तानन्दस्यैव अज्ञानि-

परमानन्दत्वसकीर्तनात् । युक्तं ह्येतत् वैषयिकानन्द सामय अयं निरामय इति । अत एव किल सार्वभौमोपि सहस्रश विषयान् लब्धुं भोक्तुं समर्थोपि निद्रा विना जीवितुं न प्रभवति । तत्र कारणस्वरूपानन्दस्य दुःखालिप्तत्वम् । तदुक्तं “को ह्येवान्यात् कं प्राप्स्यात् । यदेव आकाश आनन्दो न स्यात् ” इति । आकाश आकाशवन्निलिप्त इत्यर्थः । सुषुप्ती यद्यपि तमसा आग्नियते सुखं, अद्यापि जाग्रत्स्वप्न-सुखापेक्षया तस्य परमत्वे, किं वक्ष्यते तस्मिन् तमस्यपि ज्ञानेन नाशयमाने आवरणनिवृत्त्या मिहिका-विगमे भ्राजमान सूर्य इव स्वयं प्रकाशमान आत्मानन्द इदं गिति । एव, श्रुतिः, प्रत्यक्षं साक्षिप्रत्यक्षं सर्वजनसिद्धं, ऐतिह्यं अभियुक्तानां वचनं, अनुमान आत्मा सदानन्दस्वरूपं सदा निरतिशयप्रेमास्पदत्वात् यन्नैव तन्नैव, यथा शब्दादि इत्यादि च जायन्ति प्रमाणानि आत्मनः सदानन्दत्व-विषये ॥१०९॥

एवमित्यादि प्रबन्धेन अनात्मनः स्फूर्तदेह शब्दादिविषयान् सूक्ष्मदेहं च विभज्य तद्वर्माश्च निर्धर्मकासगात्म-तत्त्वप्रतिपत्त्यर्थं विविच्य इदानीं उपताना अनात्मना हेतु कारणदेहं निरूपयितुमारभते । अव्यक्तेति । अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा । कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥११०॥

अव्यक्तमिति नाम यस्याः, तस्याः प्रत्यक्षतः अनुपलभात् । तत्र हेतु-रूपादिरहितत्वम् । परमेशस्य परमेश्वरस्य ब्रह्मणः, शक्तिः अचिन्त्याद्-भुतशक्तिः न विद्यते आदि यस्या अनादि सा च सा अविद्या च । वस्तुतः न विद्यते इत्यविद्या अनाद्यविद्या । त्रयो गुणा सत्त्वरजस्तमासि यस्याः तथाविध आत्मा स्वरूपं यस्याः त्रिगुणात्मिका । यद्वा त्रयो गुणा त्रिगुणाः त एव आत्मा यस्याः गुणत्रयस्वरूपेत्यर्थः । परा हिरण्यगर्भादि-स्वकार्येभ्यः परा उत्कृष्टा तत्कारणत्वात् । अव्यक्तनामत्वे हेतुमाह कार्यानुमेया रूपाद्य-भावेन प्रत्यक्षगोचरत्वाभावेऽपि शब्दादिभिः गगनादिकमिव कार्यलिङ्गेनानु-मेया । एतच्छक्त्यनगोचारे निर्गुणस्य ब्रह्मणः स्फूर्तत्वाद्योगात् निष्कारण-कार्योत्पत्त्ययोगात् सादिसचलविचारहेतुत्वेन श्रुत्या प्रतीयमानेशान-सकल्पादि-परिणामित्वेन मायायाः सिद्धिरिति भावः । अजदशरणा

अन्यथान्यथा जगदुत्पत्तिं तर्कयन्ति तदसंगतमिति सूचयति सुधिषेति ।  
 गुप्युता च धिधि श्रुत्यनुसारित्व, तत्सूचित परमेशशक्तिपदेन । तेन  
 सात्त्विकरूपमान जड स्वतन्त्र प्रधान सय जगन्मूलमित्यादिक-मपास्तम्  
 वेदितव्यम् । अत्र श्रुतिरप्यस्ति “माया तु प्रवृत्तिं विज्ञानमायिनं तु  
 महेश्वरम्” “जीवेन्नावाभासेन करोति माया ज्विद्या च स्वयमेव  
 भवति” “इन्द्रो मायाभि पुररूप ईयते” इत्याद्या । तथाच गुप्यु गोभना  
 श्रुत्यनुसारिणी धी यस्य स सुधी तेन मुधिया नार्यानुमेया माया यया इदं  
 सर्वं जगत् महत्तत्वादि ग्रहणण्डान्तं प्रसूयते तत्कारणनाम शरीरमात्मन  
 इति व्यवहितेन सवन्ध ॥११०॥

तस्या स्वरूपमाह । सन्नापीति ।

सन्नाप्यसन्नाप्यभयात्मिका नो मिन्नाप्यभिन्नाप्यभयात्मिका नो ।  
 सागाप्यनगाप्यभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥१११॥

लोके तावत् अवाधितस्य सत्त्वं बाध्यमानस्य असत्त्वत्वं प्रसिद्धं  
 यथा ऋतस्यानृतस्य च । कदापि कस्यापि अप्रतीयमानस्य असत्त्वं  
 शशविषाणगगनबुभुमावे । इयं तु माया ‘भूयश्चान्ते विश्वमापा-  
 निवृत्तिं’ “सत्त्वविद्या वितता हृदि यन्मिन्निर्वच्यते । योगी मायाममेयाम  
 तस्मै विद्यात्मने नमः” । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते”  
 इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ज्ञानवाध्यत्वेनावगम्यते । अतः तस्या आत्म-  
 वत्त्वत्वं दुर्वचम् । “नाभावो विद्यते सत्” इति गीतायाश्च अस्या  
 ज्ञानानन्तर अभावावश्यभावात् न सत्त्वं । ज्ञानात्प्राक् कार्यरूपेण प्रतीय-  
 मानत्वेन तत्तारिणामित्वेन अनुमितिविषयत्वेन च न शशविषाणवदसत्त्वं  
 सुवचम् । सत्त्वासत्त्वयो व्याप्यवृत्तित्वेन कालभेदेन एकत्र स्वीकर्तुं-  
 मनुषितत्वेन नोभयात्मवत्त्वं तस्या । एवंकरूपत्वाभावे उभयात्मवत्त्वस्य  
 अत्यतासम्भवाच्च । यथा स्वाग्निवपदार्थानां ऐन्द्रजातिवपदार्थानां च  
 दृष्टान्तस्वरूपत्वान्मिथ्यात्वं मदसद्विलक्षणत्वरूपं तथा अस्या अपेक्षित-  
 भावः । उक्तं हि “नामतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते मतः । उभयो-  
 रपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः” इति गीतायाः । यद्यपि लोचिषा  
 पूर्वमुत्पत्तेर अत्यन्तगमत् घटादेर्भावं, उत्पत्त्यनन्तर सत्त्वेन अम्युपगतस्य  
 तस्य नागो अभाव चागीकुर्वन्ति तदमग्नमिति सर्वज्ञेन भगवतवाक्यम्

अनयोर्भयो अन्त निर्णय तत्त्वदर्शिभि दृष्टइति कथयता । इत्यच  
इय माया सत् सदस्त्वपि न, असदस्त्वपि न उभयात्मिका मदसदात्मिका  
नो । अपितु सत्वासत्वाभ्या निर्वक्तुमशक्यत्वात् अनिर्वचनीयरूपा । यथा  
सत्त्वेन वा असत्त्वेन वा निर्वक्तुमशक्यता एव ब्रह्मणो भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन च  
अनिर्वचनीयेत्याह । ब्रह्मणोत्यतभिन्नत्वे अद्वैतबोधक-श्रुतिविरोधात्  
लोकेपि शक्ते शक्तिमतोत्यत-भेदाभावाच्च । एवमभिन्नत्वे तस्या  
बाधायोगात् ब्रह्मण कालत्रयावाध्यत्वात् । भिन्नाभिन्नत्वे विरुद्धे अत  
भिन्नापि न अभिन्नापि न उभयात्मिकापि नो भवतीत्यर्थ । एव अनादित्वेन  
सागा सावयवा न भवति सावयवत्वे जन्यत्वापत्ते । निरवयवत्वे परिणामा-  
सम्भवात् तदपि वक्तुमशक्यम् । अत अनगा अवयवापि न । उभया-  
त्मिकापि नो सावयवत्व-निरवयवत्वयो एकत्र विरोधादेव । अत  
सत्वासत्वाभ्या भिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्या सागत्यानगतत्वाभ्या निर्वक्तुमशक्य  
रूप यस्या सा अनिर्वचनीयरूपा महाद्भुता अत्यताश्चर्यरूपा ॥१११॥

अस्या अत्यतनिवृत्तिहेतु-सत्वाच्च नासत्त्वमित्याह । शुद्धाद्वयेति ।

शुद्धाद्वय-ब्रह्मविबोधनाश्या

सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा ।

रजस्तमस्त्वमिति प्रसिद्धा

गुणास्तदीया प्रथितं स्वकार्यं ॥११२॥

शुद्ध निर्गुण अद्वय सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदमून्य यद्ब्रह्म तस्य  
विबोध अभेदेन साक्षात्कार तेन नाश्या तज्जन्यध्वस-प्रतिपोगिनी ।  
तत्र दृष्टान्तमाह सर्पभ्रम रज्जा जात अय सर्प इति भ्रम , रज्जुविवेकतो  
यथा कल्पित-सर्पाधिष्ठानभूतरज्जुसाक्षात्कारेणैव नाय सर्प किंतु रज्जु-  
रित्पाकारेण । तेन निर्गुणे अद्वितीये कल्पिताया मायाया अधिष्ठानतत्त्व-  
साक्षात्कारवाध्यत्वभुक्तम् । यदुक्त पूर्वे कार्यानुगेषा गुधिषेव मायेति  
तद्विशदयति, तद्धर्म-गुणकार्य-प्रतिपादनमुपेन रजइत्यादिना । तदीया  
तस्या इमे तदीया मायासत्त्वधिन गुणा धर्मा रज तम सत्त्वमिति  
प्रमिता । तेषामप्रत्यक्षत्वात् कार्यमुखेन प्रमिद्धिमाह प्रथितिरिति ।  
प्रसिद्धे तत्तद्गुणकार्ये वक्ष्यमाणे ॥११२॥

क्रमेण रजस्तमस्त्वगुणानां कार्योणि विवक्षन् आदौ रजोगुण-  
कार्पाण्याह । विक्षेपेति ।

विक्षेपदाकती रजस क्रियात्मिका

यत प्रवृत्ति प्रसृतापुराणी ।

रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्यं

दुःखादयो ये मनसो विकारा ॥११३॥

मायायां सन्ति तिस्रः शक्तयः । विक्षेपशक्ति आवरणशक्ति  
ज्ञानशक्तिश्चेति तत्राद्यो बन्धकतृत्व, तृतीया मोक्षहेतुः । तत्र विक्षेप-  
शक्ति रजस रजोगुणस्य, क्रियात्मिका कार्यरूपा । यदा उद्विज्यते रजः  
तदा विक्षेपा बहुधा भवन्तीति ज्ञेयमित्यर्थः । यत रजःकार्यभूत-विक्षेप-  
शक्तेरसंवासात् पुराणी अनादिपालमिद्धा प्रवृत्तिं साराग्हेतुभूता प्रवृत्ति  
प्रसृता विस्तृता, सा जीवोया वा प्रपञ्चमृष्टिहेतुभूता ईश्वरीया वा  
भवतु प्रपञ्चमृष्टिरेणि विक्षेपशक्तिवार्थत्वात् । तत्रेश्वरस्य शुद्धसत्त्व-  
प्रधान-मायोपहितत्वात् तस्या स्वाधीनत्वाच्च न बन्धस्य प्रसक्तिरिति ।  
जीवस्य तु मलिनसत्त्वप्रधानाविद्योपाधिकत्वात् ज्ञानशक्त रजस्तमोभ्यां  
प्रतिहत्यमानत्वात् उपाध्यधीनत्व तत्कृतनव्यपत्वं चेति । रागादय  
इत्यादिव जीवविषये ज्ञेयम् । अस्या रजःकार्यविक्षेपशक्ते संवासात्  
रागादय रागद्वेषादिदोषा प्रवृत्तिहेतवः नित्यं जीवस्य प्रभवन्ति । तत  
येमनसो विकारा दुःखादयः, दुःसहर्षतर्पामर्षादयः मनस एव ननु  
कदाचिदपि निर्विकारस्यात्मन इति बोधयितुं मनस इत्युक्तं, "काम  
सकल्पो विचिक्वित्सा श्रद्धाश्रद्धा भूतिरभूति ह्रीर्धीर्भौरित्येतत्सर्वं मन  
एव" इति श्रुतेः । तत्तादात्म्याध्यासान् जीवे नित्यते न वस्तुतः तत्र  
सन्ति "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" "नान्यतोऽस्ति इष्टा"  
"निष्कल निर्विक्रय गान्तम्" इत्यादिश्रुतेः ॥११३॥

इदानीं रागादय इत्यत्र आदिपदग्राह्यान् रजःकार्य-विक्षेपशक्ति-  
वार्थत्वेन राजमान् धर्मान् तेषां घोरत्वेन दुःसहेतुत्वं तेषां गततत्प्रवृत्ति  
हेतुत्वेन तन्मूलस्य रजस बन्धवत्वं चाह । काम इति ।

काम क्रोधो लोभदम्भभाग्यसूयाऽहंकारेर्ष्या-मत्सराद्यास्तु घोरा ।  
धर्मा एते राजसा पुप्रवृत्तिर्यस्मादेतत्तद्रजो बन्धहेतु ॥११४॥

काम विषयेच्छा क्रोध तदभिघाते जायमान-मानसवृत्ति कोपाख्या । लोभ अर्थस्य प्राप्ती तत्सरक्षणमिति । दम्भ धर्मध्वजित्व । अभ्यसूया परोत्कर्षसिंहन । अहंकार स्वोत्कृष्टत्वज्ञान । ईर्ष्या गुणेषु दोषाविष्करण । मत्सर अक्षीयमाण-वस्त्वपरित्यागेच्छा । यथा राजकीयोदपानात् नोदक पा इति वृत्ति । आदिपदेन मद-दर्पादि-परिग्रह । एते क्रोधद्वयेऽपि भयहृतव अत एव घोरा इत्युक्तम् । यस्मात्कामक्रोधादिविशिष्ट पुमान् न प्रवृत्तेर्विरमति वदाच्चिदपि, सर्व-दापि यत्किञ्चित्पुर्वाण एवावतिष्ठते अत एते धर्मा राजसा । रज वर्मणि भारत सजयति इत्युक्तत्वाद्गोताया सर्वदा यत्किञ्चित्महेतुता एतेषा राजसत्य । प्रवर्तनालक्षणा दोषा ' इति न्यायसूत्र । सर्वतो नियुक्तो हि सुख । अत्र यस्यापि निवृत्तिप्रयोजकत्वभावाच्च । "लोभ प्रवृत्तिरारम्भ वमणामशम स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ " इत्यपि गीता । यस्मात् पुप्रवृत्ति एतन् सर्वजनानुभवसिद्ध तत् मायागुणत्वेन वयित रज बन्धहेतु । वार्यकरणसयाताप्यासस्त्वेव बन्धव-त्वात् अध्यास विना धर्मासिभवात् रजस बन्धहेतुत्व विशेषम् । न ह्यनध्यस्तात्मभावन देहन वदिचिदव्याप्रियते इत्यध्यासभाप्यात् ॥११४॥

इदानीं तमस दान्त आवृत्ति विक्षेपशक्ति प्रसरहेतु सक्-सारादि-कारण निरूपयति । एषति ।

एषावृत्तिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यथा वस्त्ववशमतेज्यथा ।  
संपा निदान पुरषस्य ससृते विक्षेपशक्ते प्रसरस्य हेतु ॥११५॥

यथा लक्ष्म्या वस्तु अन्यथा अवशमते सच्चिदानन्दरूप वस्तु अन्य करणदेहादिरूपेण भागते एषा आवृत्ति आवरण नाम तमोगुणस्य शक्ति । पुरषस्य समृते दुग्जन्म-जरामरणादिरूपाया, निदान आदि-कारण । भ्रान्त्या चिन्तनात्मधर्मान् अगमार्तिणि मन्यते । अत अयथा-वस्त्ववशमगम्य-भ्रान्तिहेतवावरणशक्तिरेव समारनिशान । एषा



यस्य दुरत तच्च तत्तमश्च तस्य अनर्थपर्यवसायिन तमोगुणस्य आवृत्ति  
महती शक्ति सत्त्वोत्कर्ष विना दुर्निरसा । विक्षेपशक्त्यपेक्षया प्रवला  
अत्यत मोहहेतुत्वादिति भाव । आवृत्ति आवरणम् नाम ॥११६॥

श्रवणमनन-निदिध्यासन-ज्यज्ञाननाशयत्वं तस्या वक्तुं तत्रितय-  
निरस्यदोषहेतुरिय प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मणि असभावना अनात्मनि शरीरादौ  
विपरीतात्मत्वभावना श्रुत्याचार्योक्तार्थे सक्षयाश्चोत्पाद्य बहुधा मन  
विक्षिपन्ती पुमांस अभासमानस्वरूपं कुर्वन्ती नाशयतीत्याह । अभाव-  
नेति ॥

अभावना वा विपरीतभावना सभावना विप्रतिपत्तिरस्या ।  
ससर्गयुक्तं न विमुचति ध्रुव विक्षेपशक्ति क्षयत्यजस्रम् ॥११७॥

अभावना शास्त्रेणोच्यमान जीवब्रह्मस्य प्रपञ्चमिच्छात्वं च न  
सम्भवतीति भावना । नास्तीति भावना वा नास्तिक्यमिति यावत् ।  
विपरीतभावना शरीरादौ आत्मत्वभावना । विप्रतिपत्ति विरुद्धप्रतिपत्ति ।  
सभावना सशयभावनेत्यर्थः । एकधर्मि विक्षेप्यक-विस्मृतानाधर्म प्रचारक-  
ज्ञान सशय इति तत्त्वक्षणात् । एतत्त्रय अस्या आवरणशक्ते ससर्गयुक्त  
सबन्ध-युक्तं नर । ध्रुव न विमुचति नैव विमुचतीत्यर्थः । तादृश पुमांस विक्षेप-  
शक्ति अजस्र सर्वदा क्षपयति अज्ञानाध्रुवधानश्च गमयात्मा  
विनश्यति ' इति गीतोक्ते ॥११७॥

इदानीं तमोगुणवार्ताणि विशदयति । अज्ञानेति ।

अज्ञानमालस्य-जडत्वनिद्रा-प्रमादमूढत्वमुखा-स्तमोगुणा ।  
एतैः प्रयुक्तो नहि वेत्ति किञ्च-भिद्रालुयत्स्तम्भदेव तिष्ठति ॥११८॥

अज्ञान उक्तस्याप्यर्थस्याप्रतिपत्ति गीतोक्त एतज्ज्ञानमिति प्राक्च  
अज्ञानं गदतीत्येषा " इति मानिन्वादिव वा । आलस्य अनुद्यम, जडत्व  
वार्त्तवरेणोपवपाटव । निद्रा प्रमिद्धा, " अभावप्रत्ययालस्यता वृत्तिनिवृत्ति "   
मूयिता । यस्मिन्प्राकारे तमणि गति वम्बमाव प्रतीयते तत्तमाभाव-  
प्रत्ययः त विपरीतवृत्तौ वृत्तिनिद्रा । प्रमाद कर्त्तव्यं नमं कर्त्तुं शक्तायपि  
अवरण तस्य, अज्ञानरुता " प्रमाणेनवधानता " इति गीतान् । मूढः

यथावस्थितविषये अयथावत्प्रतिपत्ति । आलस्य-जडत्व-निद्राप्रमाद  
मूढत्वानि मुखानि येषां ते सशयादीनां ते तमोगुणा तम कार्याणि ।  
तदुपपादयति, एतैः अज्ञानादिभिः धर्मैः प्रयुक्तं विशिष्टं किञ्चिदपि नहि  
वेत्ति जानाति । निद्रालुवत् यथा सुप्तो न किञ्चिद्वेत्ति तथा स्तभवेदेव  
तिष्ठति श्रेयसो किमपि न चेष्टत इत्यर्थः । प्राप्तज्ञायमानताकस्य अज्ञान  
प्रमाद, प्राप्तवर्तव्यताकस्य अकरणमालस्य इति वा भद ॥११८॥

एव राजसाना तामसाना च धर्माणा अत्यत श्रेयोविधातकत्वकथनेन  
सत्त्व गुण सम्प्रसाधित्य तयोर्द्वयोरपि गुणयो अत्यत परित्यागं वार्य  
इत्युक्तं भवति । अधर्माणि जिज्ञास्य परिहारायेति न्यायेनैव तेषामयं  
विवरणः । इदानीमुपादेयत्वाय सत्त्वकार्याणि वक्तुं सत्त्वस्वभावं दर्शयति ।  
सत्त्वमिति ।

सत्त्व विशुद्धं जलयत्तथापि

ताम्या मिलित्वा सरणाय कल्पते ।

यत्रात्मविव प्रतिविवितं सन्

प्रकाशयत्यर्कं इवाखिलं जडम् ॥११९॥

तथापीत्युत्तरत्र सत्त्वात् आदौ यद्यपीति पठितव्यम् । यद्यपि जलवत्  
यथा जलं स्वभावतो निर्मलं तथा सत्त्वगुणं विशुद्धं निर्मलं एव । तथापि  
ताम्या रजस्तमोभ्यां मिलित्वा सरणाय ससाराय कल्पते प्रभवति ।  
तस्य विशुद्धिं स्पष्टयति यत्रति । आत्मविव आत्मैव विव मुखादिवत् ।  
यथा निर्मलं जलं साभ्रनक्षत्राणां प्रतिपलितं स्पष्टं भासते यथा वा  
निर्मले दर्पणे मुखं तथा शुद्धे सत्त्वे प्रतिविवितस्सत्त्वात्मा अर्कवत् सूर्यवत्  
निर्मलदर्पणे प्रतिविवितसूर्यं इव वा अखिलं जडं सर्वमनात्मानं प्रकाशयति  
ज्ञातस्वरूपं करोति " सत्त्वात् सजायते ज्ञानं " इति स्मृते । ' सर्वद्वारेषु  
देहस्मिन् प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं मत्त्वमित्युत "   
इति च ॥११९॥

रजस्तमसो मत्वेऽपि ताम्यामनभिभूयमानस्य सत्त्वस्य गुणानात् ।  
मिश्रस्येति ।

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मास्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः ।

धृद्धा च भवितश्च मुमुक्षुता च दैवी च सपत्तिरससिवृत्तिः ॥१२०॥

मिश्रस्य सर्वात्मना तमदशून्यस्य ईषद्रजोमिश्रस्य सत्त्वस्य इत्यर्थः ।  
ताम्या अभिभूयमानत्वे वक्ष्यमाण-गुणसत्त्वानुपपत्तेः । तुल्य इतरगुणद्वयस्य  
ताम्यामभिभूयमानसत्त्वस्य च व्यावर्तकः । अमानिता आद्या येषा  
अदभित्वादीनां ते, ते कथिता गीताया “अमानित्व-मदभित्व-महिंसा-  
क्षान्तिराज्यं । आचार्योपासनं जीव स्वैर्यमात्मविनिग्रहः । इन्द्रियार्थेषु  
वैराग्यमनहकार एवच । जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ।  
असक्तिरनभिप्यग पुनर्दारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्व-मितिष्टा-  
निष्टोपपत्तिषु । मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्त-  
देशसेवित्व-मरतिर्जनसरादि । अध्यात्मज्ञाननित्यत्व सत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ”  
इति । तत्र जमानित्य, विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणं आत्मन इत्याधारूप-  
समान मानित्व तद्वाहित्यममानित्व । व्यर्तितलामपूजार्थं स्वधर्मप्रवर्तनं दम  
तद्रहितत्व अदभित्व । निरुपस्था परपीडावर्जनं अहिंसा । परैरभिभूय-  
मानस्यापि तान्त्रत्यविकृतचित्तत्व क्षान्तिः । मनोवाक्कायानां ऐवत्य-  
मार्जवः । प्रणिपात-परिप्रदन-सेवादिभिः आचार्यानुवर्तनं आचार्योपासनम् ।  
बाह्यमलानां भृञ्जलाभ्यां अतमलानां रागादीनां मेष्यादिवासनया विषय-  
दोषदर्शनाभ्यासेन च प्रक्षालनया वहिरतश्नुचित्व । स्वयं भुक्तितापन-  
प्रवृत्तस्य विघ्नसंभवेऽपि तदपरित्यागेन पुनः पुनर्यत्नाधिक्यम् । आत्म-  
विनिग्रह आत्मन देहेन्द्रियादेः मोक्षसाधनप्रातिवृत्त्य-स्वभावनिरोधनेन  
तदनुकूलतया व्यवस्थापनम् । इन्द्रियार्थेषु क्षब्दस्पर्श-रूपादिषु दृष्टानुभूतिषु  
वैराग्यम् । अनहकार अहमेव सर्वोऽनुष्ठेय इति गर्वराहित्यम् । जन्ममृत्यु-  
जरेति, गर्भवासयोनिद्वारा निम्सरणं जन्म, मृत्युः सर्वमयच्छेदनस्य, जरा  
बुद्धिवल्लतेजोनाशमवपरिभवरूपा । व्यापयो ज्वरादयः । दुःखानि अनिष्ट  
संयोगेष्टनियोग-ज्ञान्याभ्याध्यात्मिकादीनि । दाशान्नु नातिपतदलेष्माणः  
मलमूत्रदुर्गन्धरूपाश्च तेषामनुदर्शनं पुनः पुनरालोचनम् । असक्तिः  
पुत्रादिषु प्रीतित्यागः । तेष्वनभिप्यग तेषां मुग्धे दुग्धे अहमेव मुग्धी  
दुग्धीत्यध्यामाभावः । इष्टानिष्टयोगोपपत्तिषु प्राप्तिषु । नित्यं गर्वदा  
गमनित्यं त्वंविषादभूयस्त्वम् । अनन्ययोगेन अग्रयनमाधिना अहमेव

भगवान्बामुदेव इति निश्चयन अत एव स्वात्मभूते मयि अव्यभि-  
 चारिणी ऐकान्तिकी भक्ति । विविक्त शुद्ध वित्तप्रसादको यो देश  
 तत्संवित्त्व जनाना वंपयिकाणा ससदि रत्यभाव । आत्मानमधिकृत्य  
 प्रवृत्त आत्मानात्मविवेकज्ञान अघ्यात्मज्ञान तस्मिन्नित्यत्व तत्रैव निष्ठा ।  
 त्वपदार्थगोधनैकपरत्वमिति यावत् । पदार्थविवेकपरस्य वाक्यार्थ-  
 ज्ञानाधिगमात् । तत्त्वज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानरूपस्य योर्य फल मोक्ष नस्य  
 दर्शनमालोचनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचन हि तत्साधने प्रवृत्ति स्यादिति  
 भाव । अत्र यद्यपि यमघटकीभूताया अहिंसाया नियमघटकस्य शौचस्य  
 च घटनमस्ति तथापि उत्तरत्र नियमायमाद्या इत्यन तदुभयातिरिक्तस्यैव  
 ग्रहण राभवतीति बोध्यम् । नियमा " शौचसतोप-रपस्नाध्यायेश्वर-प्रणि-  
 धानानि नियमा " इति सूत्रानुसारेण शौचादय जन्महतन् काम्यधर्माश्चैव  
 मोक्षहेतौ निष्पामे धर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमा इत्युच्यन्ते । तत्र शौच  
 पूर्व निरक्त । सतोप यथालाभपरितुष्टि । तप कायशोषण तदुक्त योगयाज्ञ-  
 वल्क्ये ' विधिनास्तेन मार्गेण वृच्छचान्द्रायणादिभि । शरीरशोषण प्राहु  
 तापसा तप उत्तम इति । स्वाध्याय प्रणवगायत्रीप्रभृतीना मन्त्राणा  
 जप । ईश्वरप्रणिधान अभिहिताना अनभिहिताना च सर्वासा त्रियाणा  
 परमेश्वरे फलानपक्षतया समर्पण । तदुक्त कामतोजामतोवापि मत्क रोमि  
 शुभानुभ । तत्सर्वं त्वयि विन्यस्य त्वत्प्रयुक्त बरोम्यह इति । फलाभिमत  
 उपातकत्वमभिहित महद्भिः अपिप्रयत्नरापन कामेनापहत तप । न  
 तुष्टये महेश्वर्य इवलीढमिव पायसम् ' इति । एतानि पञ्च नियमा ।  
 यमा " अहिंसामत्यागस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा " इति सूत्रानुसारेण  
 अहिंसादय पञ्च । तत्र अहिंसा विवृता । सत्य सर्वदा अनुत्ताननि-  
 भाषणम् । अस्तेय परस्वानपहार । ब्रह्मचर्य अष्टविधमैधुनत्याग ।  
 अपरिग्रह शरीरस्वतिमात्र-हनुष्यतिरिक्त-भोगसाधनास्वीकार । यमा  
 आद्या येपा आसन प्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यान-ममाधीना तेषि  
 समाध्यातानि योगागानि आदिपदेन गृह्यते । यदा सर्वथयोनितान  
 आस्तिक्ययुद्धि । भक्ति मा परापरभेदेन द्विविधा अपरं च गाधनमक्ति  
 रित्युच्यते ' भक्त्या गजातया भक्त्या विभ्रत्युत्सुल्का तनु ' इति  
 भागवतोक्ते । ' श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसखन । अर्चन  
 वदन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् । " इति नवविधा भक्ति परमप्रम-

लक्षणाया परमक्तेस्साधन । मुमुक्षुता स्वस्वरूपसाक्षात्कारेण आविद्य-  
काना अहंकारादि देहान्ताना बन्धाना निवृत्तीच्छा । दैवीरापत्ति सापि  
गीतानु षोडशाध्याये “अभय सत्त्वसशुद्धि ” इत्यादिना कथिता । ( ‘अभय  
सत्त्वसशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थिति । दान दमद्वय यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप  
आर्जव । अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुन । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं  
मार्दवं ह्रीरचापल । तेज दामा धृतिश्शौच अद्रोहो नातिमानिता ।  
भवति सपद दैवीमभिजातस्य भारत । ’ इति ) तत्राभय नाम इष्टानिष्ट-  
सयोग वियोगहेतु दर्शनजन्य यददु खभय तद्वाहित्य, यद्वा शास्त्रोपदिष्टार्थे  
सदेह विनानुष्ठाननिष्ठत्व । सत्त्वस्यात करणस्य सम्यक्शुद्धि निर्मलता  
सत्त्वसशुद्धि । शुद्ध सम्यक्त्व नाम भगवत्तत्त्वस्फूर्ति-योग्यत्व । शास्त्रा-  
चार्योपदेशान्या आत्मतत्त्वावगति ज्ञान । अवगतस्यावस्य चित्तवायतया  
स्वानुभवारूढत्वापादन योग । तयोर्विशेषणावस्थिति सदा तनिष्ठता  
ज्ञानयोगव्यवस्थिति । यथाधिकार स्वद्रव्यस्य पात्र प्रतिपादन दान ।  
वाह्येन्द्रिय-सयमो दम । श्रौत अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादि स्मार्तश्च  
देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ इति चतुर्विधो यज्ञो यज्ञ, ब्रह्मयज्ञस्य  
स्वाध्यायपदेन पृथगुक्ते । स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञ अदृष्टार्थमृगवेदाद्यध्ययन-  
रूप । तप शारीरादिभेदेन त्रिविध । ‘देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन मौनमार्जव ।  
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीर तप उच्यते । अनुद्वेगवर वाक्य सत्य प्रियहित  
च यत् । स्वाध्यायाभ्यासन चैव वाङ्मय तप उच्यते । मन प्रमाद  
सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह । भावसमुद्भिरित्यततपो भानसमुच्यते ”  
इति । अवश्रवमार्जव मनोवाक्कायवृत्तीना-भैवरूप्यमिति यावत् ।  
परपीडावर्जनमहिंसा । यथादृष्टवचन सत्य । परैराश्रोत्रे ताडन वा  
हृते सति सद्य प्राप्तस्य क्रोधस्य तत्कालमुपशमन अक्रोध । दानस्य  
प्रागुक्ते त्यागो दुःखसंगपरित्याग । शान्तिरतरिन्द्रियोपरति । पर-  
दोषप्रचारात्त पेशुन तदभावोर्जैशुनम् । दुःखितेषु भूतेषु तदीयदुःखा  
सहिष्णुत्व दया । अलोलुप्त्वं अलोलुप्त्वं इन्द्रियाणा विषयग्राभ्यानेष्य-  
विश्रित्य उक्ति यावत् । पवणंलोप आपं । अलोऽलुप्त्वमिति वा पाठ ।  
मृदुत्व मार्दवं साधुजनसङ्गेषाहंतेत्यर्थं । अकार्यवर्णने रज्ज्वा ह्री ।  
यथाचेष्टाराहित्य अचापल । प्रागल्भ्य तेज स्त्रीवाल्मीकादिमूढजनं  
अनभिभवनीयन्वभित्यर्थं । मत्पि सामर्थ्य परिभवहेतु प्रति श्रोधानुत्पत्ति

क्षमा । उत्पन्नस्य शोधस्य सद्यस्त्वमनमन्नाथ इति ततो भद्र । दुःखादिभि  
सौदत चित्तस्य स्थिरीकरणं घृति । बाह्यातरगुडि गौव । परजिघासया  
शस्त्राद्यग्रहणं अद्रोह । आत्मनि पूज्यत्वातिशयभावना अतिमानिता  
सदभावो नातिमानिता । तथा च तत्त्वाय पूज्यपुनश्चत्वमुपगृह्यते । त  
एते पण्डितशक्तिरभयादयो धर्मा देवयोग्य-सात्त्विकं शुभवासनाभ्युपसर्पति  
शरीरारभकालं पुण्यकर्मभिः अभिव्यक्ताभिरित्य जातस्य पुरुषस्य भवति  
निष्पद्यन्ते । त विद्यापमणी समचारमते पूवप्रज्ञा च पुण्यं पुण्यं  
कर्मणा भवति पापं पापमिति श्रुतेरिति भावः । असन्निवृत्तिः असत्  
ब्रह्मव्यतिरिक्ताता निवृत्तिः । यद्वा नाविरतो दुःखरिक्ताता इति श्रुते  
अवृजिनत्वमय ॥१२०॥

एष रजस्तमसो सन्नेपि ताम्यामनमिभवनीय-सत्वधमानुक्वा  
ताम्या मुत्तराममस्यस्यमान मत्वयर्मानाह । विगुडति ।

विशुद्धसत्त्वस्य गुणा प्रसाद

स्वात्मानुभूति परमा प्रशान्तिः ।

तुष्टिः प्रहृष परमात्मनिष्ठा

यया सदानन्दरस समुच्छति ॥१२१॥

विशुद्धात् च रजस्तमोऽवलिखितः । कवलमवस्य गुणा काय  
भूतधर्मा प्रसाद मनोनमन्त्यः । आवरकम्य तमरा विक्षपकस्य रजगद्व  
अभावात् अप्रतिबन्ध स्वात्मानुभूतिः । यदात्मसात्प्रियते आत्मतत्त्व तदा  
तस्य स्पष्टमभानात् अन्नमयादीनां भानः । कवलमवे तु स्वस्वरूप  
निष्प्रमूह अनुभूयते इति भावः । अत एव परमा निरतिशया प्रहृष्टा  
शान्तिः । वक्ष्यते चोत्तरं कस्ता परानन्दरसानुभूति उत्तम उपगूयपु  
र्यत विद्वान् । चन्द्र महाह्लादिनि दीप्यमानं चित्तं दुर्मालोचयितु  
क इच्छन् इति । पूव माधवदगाया प्रयत्नन सपाद्यमाना शान्ति  
आत्मदर्शन स्वभावभूता भवतीति भावः । अत एव फलमुपपन्नं सवारा  
भावात् मनस तप्ति अश्रुद्धिः निरवृत्ता । प्रहृष साधनानधीन स्वयं  
सयया स्फुरतानन्दः । यद्वा कुत इत्यं प्रापणीयं प्राप्त इत्येव स्वात्मान  
धाय मवा हृष्यतीति प्रकृष्टो ह्यः । यया सदानन्दरस समुच्छति सम्यगश्नते

सा परमात्मनिष्ठा परमात्मन्येव नितरा स्थिति । स्वरूपानन्दविलोकनेन मनो व्यत्यातुमशक्त लीन निर्विकल्पक-समाधिमनुभवतीति भाव ॥१२१॥

इदानीं गुणत्रयमयस्य मायाविद्यादिशब्दैरभिहितस्य अव्यक्तस्य कार्यानुमेयस्य स्थूलसूक्ष्मादिसकलकार्यहेतुत्वात् ज्ञाननाशयत्वान्च शीर्यत इति व्युत्पत्त्या कारणशरीरत्व च वदन् अव्यक्तनाम्नीत्यादिना उपक्रान्ता मामामुपसहरति अव्यक्तमेतदिति ।

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणै-निरुक्त तत्कारण नाम शरीरमात्मन ।

मुपुष्टिरेतस्य विभक्त्यवस्था प्रलीन-सर्वेन्द्रिय-बुद्धिवृत्ति ॥१२२॥

अव्यक्त स्वस्वरूपत साक्षादस्पष्ट । एतत्त्रिगुणै त्रयश्च ते गुणाश्च त्रिगुणा एते च ते त्रिगुणाश्च एतत्त्रिगुणा, कामक्रोधाज्ञाना-लस्या-मानित्वादिभि-धर्मैरनुमेयै रजस्तमस्मत्त्वगुणै, निरुक्ता त्रिगुणात्मिका कार्यानुमेया इति पूर्वं कथित कृतनिर्वचनमित्यर्थ । तत् अव्यक्त अविद्यादि शब्दवाच्य आत्मन कारण नाम शरीर । शास्त्रे कारणशरीरमिति प्रसिद्धमित्यर्थ । अस्यासाधारणीयवस्थामाह मुपुष्टिरिति । एतस्य कारणशरीरस्य अव्यक्तस्य । प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिरिति मुपुष्टे-र्विशेषण । सर्वाणि चतानीन्द्रियाणि च सर्वेन्द्रियाणि तानि च बुद्धिश्च सर्वेन्द्रियबुद्धय तासा वृत्ताय सर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्ताय प्रलीना यस्या मुपुष्टौ सा प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्ति । एतेन सर्वेन्द्रियवृत्तिमत्या जाग्रदवस्थाया केवलबुद्धिवृत्तिमत्या स्वप्नावस्थायाश्च व्यावृत्ति कृता । विभक्त्यवस्था विभाजकावस्था । अज्ञानस्य अवस्थानये मत्तेपि इतरावस्थयो स्वेत-रसाधारणत्वात् स्वभात्रस्य मुपुष्टिरसाधारण्यवस्थेति भाव ॥१२२॥

अन्तिगपादार्थं अनुभवेन स्पष्टयति । सर्वेति ।

सर्वप्रकार-प्रमिति-प्रशान्ति-

बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धे ।

मुपुष्टिरत्रास्य किल प्रतीति.

किञ्चिन्नवेद्मीति जगत्प्रसिद्धे. ॥१२३॥

सर्वे प्रवारा प्रत्यक्षत्वानुमितित्वादय यासा प्रमितीना तासा प्रकर्षेण शान्ति प्रशान्ति उपरम यत्र सुपुप्तौ सा सर्वप्रकार-प्रमिति-प्रशान्ति । तर्हि परदिने व्यवहार वयमिति चेत् तत्राह वीजात्मनेति । बुद्धेरत करणस्य वीजात्मना सस्कारात्मना कारणाज्ञानात्मनेत्यर्थ । अत्रस्थितिरेव न स्वकार्यवृत्त्यात्मनावस्थिति तदेत्येवकारेण प्रतीयते । सैव सुपुञ्जि । तदा सर्वप्रकारज्ञानाभावे सर्वानुभव प्रमाणयति । अत्र सुपुञ्जिविषये । अस्य सुप्तप्रबुद्धस्य जीवस्य किञ्चिन्न वेद्मीति जानामीति प्रतीति । किंल प्रसिद्धा इत्यर्थ । यदि बुद्धिकार्यभूता वृत्ति स्यात् तदा किञ्चित् वेद्मीति प्रतीतिर्नस्यात् जाग्रत्स्वप्नयोस्तथाप्रतीतिरभावादिति भाव । अनुभवे विवदमान प्रत्यह जगत्प्रसिद्धेरिति । तथाच सर्व-प्रसिद्धप्रतीती विवादासंगत इत्यभिप्राय ॥१२३॥

इदानी आत्मानात्मविवेचनार्थं प्रतिपिपादयिषित अनात्मान-मुपसहरति । देहेति ।

देहेन्द्रिय-प्राणमनोहमादय

सर्वे विवारा विषया स्फुब्बादय ।

व्योमादिभूतान्यखिल च विश्व

अव्यक्तपर्यन्त-मिदं ह्यनात्मा ॥१२४॥

देहश्च इन्द्रियाणि च प्राणश्च मनश्च अहं च देहेन्द्रिय-प्राणमनोहम आदय येषां बुद्ध्यादीनां विवाराणां ते सर्वे विवारा भौतिका पदार्था । विषया दण्डस्पर्श-रूपरसगन्धा । सुखादय सुख आदियेषां दुःखमोह-मनस्सादि-वृत्तीनां भयातानां मन परिणामानां ते सुखादय । व्योम आकाश आदि येषां तानि पृथिव्यन्तानि-भूतानि । किं बहुना इह परिदृश्य-मान अव्यक्तपर्यन्त अखिल समस्त, विश्व जगत्, अनात्मा । एतेन बोधावनात्मैत्यस्य उत्तरं दत्तम् ॥१२४॥

अन्तिमवार्थ-प्रभृति आदिमपणिगाम्युपादान-पर्यन्तं सर्वं अनात्मै-त्युक्तम् । तद्वैपरीत्येन आदिम-परिणाम्युपादानान् अन्तिमवार्थ-पर्यन्तं सर्वं तथेति दाढ्यर्थं यदन् तस्य मिथ्यात्वमपि वचयति । मायेति ।



माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्त ।

असदिदमनात्मतत्त्व विद्धि त्वं मरुमरीचिकाकल्पम् ॥१२५॥

माया मूलप्रकृति, महत् महत्तत्त्व “तदैक्षतेति” श्रुतिसिद्ध ईक्षण तदादि यस्य देहपर्यन्तस्य मायाकार्यस्य तन्महदादि । अहकार ईश्वर-सकल्प “सोऽकामयतेति” श्रुतिसिद्ध । तत् पञ्च सूक्ष्मभूतानि, तत् पञ्चोक्तानि स्थूलभूतानि, तत् ब्रह्माण्ड, तत्र चतुर्दशभुवनानि तदतर्वन्ति-स्थूलदेहादय एतत्सर्वं देहपर्यन्त मायाकार्यं त्व इदं माया मायाकार्यं च अनात्मतत्त्व आत्मव्यतिरिक्तपदार्थं कोसावनात्मेति प्रश्नोत्तरविषय असत् सद्रूपात्मभिन्न । अत एव पूर्वोक्त-शुद्धाद्वय-ब्रह्मविबोध-नाशयत्वादि-हेतुना मरुमरीचिकाकल्प मृगतृणिकासदृशं दृष्टनष्टस्वरूपत्वेन मिथ्या-भूतं विद्धि जानीहि । धर्मकाले मरुभूमी मिहिरमरीचय पतित्वा महावारिप्रवाह-वृद्धिं जनयन्ति । वस्तुतस्तु विशेषदर्शने तत्र जलं किञ्चिदपि नास्ति । तथा ब्रह्मज्ञानात्प्राक् माया तत्कार्यं च भासते । तत्साक्षात्कारे च प्रबोधे स्वप्नवत् सर्वं सहमूलं विनश्यतीति दृष्टनष्टस्वरूपत्वेन तेषां, ततो मरुमरीचिकावन्मिथ्यात्व । मरुपु मरीचिका मरुमरीचिका । उक्तार्थ-मिदं पदम् ॥१२५॥

एवमनात्मानं निरवशेषमुक्त्वा परमं कं आत्मा इति प्रदनस्य उत्तरवक्तुमारभते । अवेति ।

अथ ते सप्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः ।

यद्विज्ञाय नरो ब्रह्मान्मुक्तं कैवल्यमश्नुते ॥१२६॥

अथस्तब्ध अनात्मप्रतिपादनानन्तर्यायिक । यत्परमात्मस्वरूपं विज्ञाय साक्षात्कृत्य, नरं विद्याधिकारीपुरुषं, बन्धात् अहकारादिदेहान्ताद् बन्धान् मुक्तं त्यक्ततत्तादात्म्याध्यासं, कैवल्यं सर्वोपाधिसवध-विनिर्मुक्तत्वेन कैवल्यदृष्टपत्वं निर्वेदसन्निवदानन्दरूपत्वं च अश्नुते प्राप्नोति । तत् परमात्मनः स्वरूपं यायात्म्यं ते तव सप्रवक्ष्यामि सम्यक् ग्राह्यं प्राप्येण विस्तरेण वक्ष्यामि यथयिष्यामीत्यर्थं ॥१२६॥

आत्मानं वस्तुं प्रप्रभते । अस्तीति ।

अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहप्रत्यय-लवन ।

अवस्थानय-साक्षी सन् पञ्चकोशविलक्षण ॥१२७॥

स्वयं, सत्तास्फूर्तिविषये परानयेक्ष, अहप्रत्यय-लवन अहमाकार-  
वृत्तिमन्मनस्तदात्म्यापन्नतया अहवृत्तेरायय । अहप्रत्यय अहवृत्ति लवन  
विषयाहिणी यस्य स अहप्रत्यय-लवन अहवृत्तिविषय इत्यप्यर्थः ।  
अवस्थानयसाक्षी सन् जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिरूपावस्थानय-साक्षाद्द्रष्टा सन् ।  
पञ्चकोशविलक्षण अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमय-व्यति-  
रिक्त । स नित्य सर्वदा वक्षिदन्ति न एव आत्मेति शेषः । अन कालत्रया-  
वाध्यत्वरूप-सद्रूपत्वमुक्त ॥१२७॥

अवस्थानय-साक्षित्वमुपपादयति । य इत्यादिना ।

यो विजानाति सकल जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु ।

बुद्धि-तद्बुद्धि-सद्भाव अभावमहमित्ययम् ॥१२८॥

इदमिदं पश्यामि अनुमिनोमि शब्दात् प्रत्येभि स्मरामीत्यादि-  
प्रकारेण जाग्रत्स्वप्नयो बुद्धितद्बुद्धि-सद्भावः । नकिंचिद्वेदिपमिति  
सुषुप्त्यनन्तरकालि-स्मृत्यनुसारेण सुषुप्तौ बुद्धितद्बुद्ध्यभावः च यो  
विजानाति सकल जाग्रद्भावान् स्वाप्नपदार्थान् सुषुप्तावज्ञानं च अहमह  
इदं जानामि अजामि ज्ञास्यामीत्यनुभवात् । अगमात्मा इत्यन्वयः  
॥१२८॥

इतराद्येद्यत्वेन सर्वद्रष्टृत्वेन च ज्ञानस्वरूपत्वमाह । य पश्यती-  
त्यादिना ।

य पश्यति स्वयं सर्वं य न पश्यति किञ्चन ।

यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तस्य चेतनत्वमयम् ॥१२९॥

य पश्यति स्वयं सर्वं "नान्योतोऽस्ति द्रष्टा" इति श्रुतेः । य न  
पश्यति किञ्चन "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः" "न  
चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः" "नैव वाचा न मनसा प्राप्नु-  
शक्यो न चक्षुषा" इत्यादिश्रुतिभ्यः । य बुद्ध्यादि जड चेतयति स्वप्रति-  
फलनेन चेतनवत्करोति । तत् बुद्ध्यादि य न चेतयति स्वतः चेतनत्वात् ।

जड हि स्वकार्यार्थं चेतनमपेक्षते न चेतनस्य पराकाशा । अयमात्मा  
इत्यन्वय ॥१२९॥

येन विषयमिदं व्याप्तं यं न व्याप्नोति किञ्चन ।

अभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम् ॥१३०॥

सर्वोपादानतया येन सर्वान्निरेण इदं विश्वं जगत् व्याप्तं विशेषेणाप्तम्  
सबद्धं । किञ्चन किमपि वस्तु यमारमानं न व्याप्नोति अस्य सर्वस्य  
बाह्यत्वात् “ विष्टम्याहमिदं कृत्स्न एकाशेन स्थितो जगत् ” “ विकारावति  
च तथाहि स्थितिमाह ” “ पादोस्य सर्वा भूतानि निपादस्यामृतं दिवि ”  
इति स्मृतिसूत्रश्रुतिभ्यः, “ ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायानेभ्यो  
लोकैभ्यः ” इत्यादियुतेभ्यः । अभारूपं अप्रकाशरूपं जडमित्यर्थः । इदं  
सर्वं चिद्रूपं यं भान्तं अनुभाति “ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं ” इति श्रुते  
अयमारम्य इत्यन्वयः । अत्र सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुत्युक्तं आनरूपं  
देशपरिच्छेदशून्यस्यैककथनेन कथितं बोध्यम् ॥ १३० ॥

यस्चेतस्यति बुध्यादि ह्यनुक्तं विवृणोति । यस्तेत्यादिना ।

यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोऽपि ।

विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव ॥१३१॥

“ येनेपित पतति प्रेषितं मनं येन प्राणं प्रथमं प्रीतिं युक्तं ।  
केनेपिता वाचमिमा वदति चक्षुथोत्र वडं देवो युनक्ति ” इति पृष्ट्वा  
“ थोत्रस्य थोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राणं चक्षुपश्नशु ”  
इत्युत्तरितमर्थमाह यस्य आत्मनः सन्निधिमात्रेण अभिमानरूप-मन्त्र-  
वशात् । देहेन्द्रियमनोऽपि अत्र देहशब्देन वाक्पाणिपादादीनि चर्मेन्द्रियाणि  
गृह्यते । इन्द्रियपदेन थोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि मनः अन्तःकरणं । धीः यथो  
न बुद्धिः । स्वकीयेषु विषयेषु वचनादानशक्त्यादिषु अवयवदर्शनम्पश्यन्नादिषु  
सामान्यनियतत्वादिषु लौकिकचर्चि-कार्येषु च प्रेरिता इव स्पष्टं जडानां  
स्वतो व्यापारभावात् । वर्तन्ते स आत्मा इत्यन्वयः ॥१३१॥

अहंकारादिदेहान्ता विगयाच्च मुखादप्यः ।

वेत्तन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥१३२॥

दृश्यस्य द्रष्टृधर्मत्वाभावात् अह्वारादि-देहान्ता पचकोशा ।  
विषया शब्दादयः, मुपादय तत्प्रयोज्याश्च । नित्यबोधस्वरूपिणा स्वत-  
स्सिद्ध-ज्ञानस्वरूपेण येन घटवत् घट इव वेद्यन्ते जायन्ते । स आत्मा इत्यन्वयः ।  
तेन मुपादीना दृश्यत्वात् द्रष्टृधर्मत्व नास्तीत्यसंगत्वमुक्तमात्मनः ।  
अहकारादि-देहान्तानां पचानां कोशानां वेद्यत्वकथनेन सूत्रस्यानीय-प्रथम-  
श्लोकोक्त पचकोशविलक्षणत्व संग्रहेण वक्षितम् । इदमुत्तरं स्पष्ट-  
यिष्यते “वेद्योयमन्नभवन” इत्यादिना ॥

एपोन्तरात्मा पुरुष पुराणो निरन्तराखण्ड-मुखानुभूतिः ।  
सदैकरूप प्रतिबोधमात्रो येनेपिता वागसवश्चरन्ति ॥१३३॥

येन इयिता सत्तिधिमानेण प्रेग्ना वाक्चामवश्च वागसवः ।  
इदं सर्वस्य कार्यवरणसघातम्यांगलक्षणः । वाक् असव इति भिन्नं वा पदं ।  
वर्णिगिन्द्रिय प्राणादचरन्ति शब्दोच्चारणोच्छ्वास-निश्वासादीनि कर्माणि  
स्वकीयानि कृवंन्ति । एष अन्तरात्मा लोकसिद्धानां श्रुत्यापि ब्रह्म-  
प्रतिपत्तिहेतुत्वेन अध्रमयाद्यानन्दभयान्तानां बोधानां कल्पितानां बाह्यानां  
कल्पनाधिष्ठानत्वेन सर्वानुगततमा भ्रष्टिद्व-सर्प-दण्ड जलधारादिष्विध  
रज्जुर्भाविमानः अन्तरात्मा । पुरुष पूर्णं पुरि शरीरे सेत इति वा पुरुषः ।  
पुराणं पुगपि नव एष मनात्मानः । निरन्तराखण्डमुखानुभूतिः निरन्तर  
निरवधिश्च अत एव अखण्ड अपरिच्छिन्न यत्तुत्वं भानद वा च निरन्तरा  
अखण्डा च अनुभूतिः “यत्माकादपरोक्षाद्ब्रह्म” इति ध्रुते तत्स्वरूपः ।  
सदैकरूप निर्विकार इत्यर्थः । प्रतिबोधमात्र बोधे बोधे प्रतिबोध मीगत इति  
मात्रं सकलवृद्धि-वृत्तिषु अनुमततया काष्ठादिष्विवाम्नि जात इत्यर्थः ।  
“प्रतिबोधविदितं मतं” इति श्रुते । ज्ञानस्वरूपत्व निरन्तराखण्ड-  
मुखानुभूतिरित्यत्रोक्तम् । गुरुपदेशजन्यबोधो वा प्रतिबोधः तत्र विषय  
इत्यर्थः गुरुणाप्रतिबोधित इति प्रसिद्धे । सुप्त-प्रतिबुद्ध इति प्रसिद्धे  
अविद्यास्वाप-भासान् महाबाक्यजन्याखण्डाकार-वृत्तिरूपबोधः प्रतिबोध  
तत्र विषय इति वार्थः ॥१३३॥

“सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः, नामानि कृत्वा भिबदन् यदास्ते”  
इत्यादिभूत्यनुसारेण “अवस्थितेनेरिति काशटुत्तन” इति सूत्रानुसारेण

श्रीविवेकबूडामणि सव्याख्य-

च परमात्मन एव जीवभावेनावतिष्ठमानत्वात् शोधितत्वपदार्थत्वेन  
आत्मानमभिधाय तत्पदार्थत्वेन “अनश्नन्नन्यो अभिचाकजीति” इत्यादि-  
श्रुत्यभिप्रेतमर्थमाह । अत्रैवेत्यादिना ।

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहाया

अव्याकृताकाश उरुप्रकाश ।

आकाश उच्चै-रविवत्प्रकाशते

स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ॥१३४॥

अत्रैव साधकशरीर एव सत्त्वं आत्मा यस्या धीगुहाया सा सत्त्वात्मा  
सत्यप्रधाना या धी सैव गुहा । गूढं खवरणे इति धातुना, विज्ञानमय-  
कोशत्वेन आत्मानं सवृणोतीति तस्या धीगुहाया । उपादानत्वेन अनुस्यूत  
य अव्याकृताकाशं माया तस्मिन् अव्याकृताकाशे । उरुप्रकाश उरु  
अधिक प्रकाश ज्ञानरूपतया सर्वावभासकत्वात् “तदेवा ज्योतिषा  
ज्योति” इति श्रुते । आकाश परमात्मा स्वतेजसा सूर्यादि-सकल-ज्योति-  
रवभासक-ज्ञानरूप-प्रकाशेन “येन सूर्यस्तपति तेजसं” इति श्रुते । इदं  
विदम दृश्य सर्वं । प्रकाशयन् स्फोरयन् रविवत् सूर्यवत् । उच्चै प्रकाशते  
सर्वोत्कर्षेण भासते । उच्चै-रविवदिति वान्दय आकाशमध्यवर्ति-सूर्य-इव  
इत्यर्थः । एतेन पूर्वश्लोके “एषोत्तरात्मा पुरय” इत्ययं कथितं पुरि  
शरीरे ज्ञेय इत्यर्थः अत्रेति स्थूलशरीरे धीगुहायामिति सूक्ष्मशरीरे  
अव्याकृताकाश इति कारणशरीरे प्रकाशते इति कथनात् विवृतः ।  
सकलदिगवस्थित-यस्तुभासकत्वं गगनतलमध्यवर्ति-रवे प्रमिदः । तद्वत्  
सर्वान्तर आत्मा सकलयस्त्ववभासक इति भावः ॥१३४॥

ज्ञाता मनोहृति-विक्रियाणा देहेन्द्रिय-प्राणकृत-क्रियाणा ।

अयोग्निवस्ताननु वर्तमानो नचेष्टते नो विकरोति किञ्चन ॥१३५॥

मनोहृतिविक्रियाणा मनश्च अहृतिश्च मनोहृती तपोविक्रिया  
तासां ज्ञाता चामसकल्पादीना मनोविक्रियाणा सर्वदादीना अह्नार-  
विषाराणा आन्तराणां ज्ञाता । तथा बाह्यानां देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणां  
देहश्च इन्द्रियाणि च प्राणश्च देहेन्द्रियप्राणा तं वृत्ता क्रिया । देहान्देन  
वर्मेन्द्रियाणां विवक्षितत्वात् कथनादीनां चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियध्यापाराणां

दग्धंनश्ववणादीनां प्राणव्यापारस्य उच्छ्वासा-निश्वासादेश्च ज्ञाता  
इत्यर्थः । सकलात्तरबाह्य-विकारसाक्षिणस्तस्यनिर्विकारत्वमाह अयोमि-  
नदित्यादिना । अग्निरिवाम्निवत् यथाग्निं दीर्घं वा वर्तुलं वा अयः  
अनुवर्तमानः तथा तथा व्यवहियते न वस्तुतः दीर्घवर्तुलतादिभाक्  
एवं तान् मनोहकृति-देहेन्द्रियप्राणान् अनुवर्तमानं व्यापित्वेन स्वच्छत्वेन  
च सर्वत्र प्रतिवियमानोऽपि न तद्व्यापारवत्त्वेन व्यवहियमाणोऽपि वस्तुतः  
न वेष्टते । स्वयं न विनियते । नो विकरोति किञ्चन कृत्रापि विन्रियां  
नोत्पादयति च । सूर्यरयेव सानिध्यमात्रान् जटप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मन न तु  
किञ्चिद्व्यापारवत् इति भावः ॥१३५॥

तमेवार्थं सहेतुकं विज्ञापयति । न जायत इति ।

न जायते नो म्रियते न वर्धते  
न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।

विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्

न लीयते कुम्भ इवावर स्वयम् ॥१३६॥

जायतेस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते नश्यतीति जनन-म्र्यति-  
विपरिणाम-वृध्यपक्षयविनाशा शरीरादे दृष्टा पण्डितकाराः । अयं  
परमात्मा नित्यः उत्पत्तिविनाशादिगूण्य अतः न जायते नोत्पद्यते, नो  
म्रियते न नश्यति अतः आद्यन्तविकारशून्यत्वात् न वर्धते न वृद्धिरूपविकार-  
वान्भवति, एव न क्षीयते अपक्षयरूप-विन्रियावाप्तं भवति । उत्पत्ते-  
रभावात् तदनन्तरकालिक-स्थितिरपि नैवास्ति । नित्यत्वेन निरवयव-  
त्वात् विपरिणामो नास्तीति भावः । स्वयं विन्रियावत् एव अन्यत्र  
विकारहेतुत्वात् सर्वविध-विकारगूण्यं नो विकरोतीति पूर्वश्लोकार्थः ।  
सहेतुकतया कथितोऽत्रेति गन्तव्यम् । अन्यत्र विन्रिया नोत्पादयतीत्यर्थः ।  
अमुष्मिन्वपुषि शरीरे विलीयमानेऽपि नश्यत्यपि कुम्भे नश्यत्यवरमिव  
आकाशमिव स्वयं न लीयते स्वतः परतोऽवा विकारो नास्तीति  
भावः ॥१३६॥

साम्यज्ज्ञानार्थं विज्ञानात्म-परमात्मनो स्वरूपमेकीकृत्याह ।  
कृतीति ।

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्यः

प्रकृति-विकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः  
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः ।  
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था  
स्वहमहमिति साक्षात्साक्षिरूपेण बुद्धे ॥१३७॥

प्रकृतिरविज्ञा, विकृतय आकाशादय तद्भिन्नः कार्यकारणव्यतिरिक्त  
इत्यर्थः । शुद्धबोधस्वभाव शुद्ध निर्विषय य बोधः ज्ञान तदेव स्वभावः  
स्वरूप यस्य स केवलद्वैतरूप इत्यर्थः । इदं प्रत्यक्षादिप्रमेय सत् तेजनादि मूर्ते  
असत् अमूर्त आकाशवाद्यादिक अक्षेप समस्त भासयन् प्रकाशयन् निर्विशेषः  
निर्धर्मक । परमात्मा जाग्रदादिषु जाग्रत्स्वप्न-मुषुप्त्यादिषु अवस्थानु  
बुद्धे साक्षिरूपेण सुषुप्तावपि बीजात्मना बुद्धे सत्पात् । अहमहमिति  
साक्षात् प्रत्यक्षतया विलसति प्रकाशते ॥१३७॥

अभेदेन परमात्मविज्ञाने मनो-नियमन तद्वारा बुद्धिप्रसाद च हेतुबुद्धे  
“ग्रहसत्त्वोन्मत्तत्वमेति” इति श्रुत्यर्थं शिष्य प्रत्युपदिशति । नियमितेति ।

नियमित-मनसामु त्व स्वमात्मान-  
मात्मन्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।  
जनिमरणतरगापार-ससारसिधु  
प्रतर भव कृतार्थो ग्रहरूपेण सस्य ॥१३८॥

त्वमात्मानं नियमितमनसा पश्यः कोऽप्येवमो व्यावर्तित परमात्मन्येव  
श्रयणमनननिदिध्यासनं स्थापित यन्मन तेन करणेन मग्नैवेदमाप्तव्य-  
मिति श्रुतेः । बुद्धिप्रसादात् असंभावना-मशयभावना-विपरीतभावना-रूप-  
दोषनारोह विमुक्ता सखलविषयदोषशून्या या बुद्धि तस्याः प्रसादात्  
अनुग्रहात् “दृश्यते त्वशेषमा बुद्ध्या सूक्ष्मया” इति श्रुते “ज्ञानप्रसादेन  
विमुक्तसत्त्वः ततस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमान” इति श्रुतेः च ।  
स्वस्वरूपभूत आत्मानं परमात्मानं “स आत्मा तत्त्वमसि” इति श्रुतेः  
“असन्नेव स भवति अमद्वद्भवेति वेद चेत्” इति श्रुतेः च परमात्मन एव  
मुक्तत्वात् । अयमहमिति गाथाद्विद्धि अन्योपायान्नाह इत्येतावत पालं  
न्यिता बुद्धि विहाय अभेदेन माशानुगच्छेत्यर्थः । तत्परमाह जनिमरण-

तरगापार-ससारसिधु प्रतरेति । पुनरपि जनन पुनरपि मरण इतिरोत्या  
ब्रह्मज्ञानालाभे अविरततया प्रसज्यमान-जन्ममरणरूप-तरगविनिष्ट  
अपार ब्रह्मरूपपाराज्ञानात् अपार य ससार स एव सिधु समुद्र त, प्रतर  
प्रकर्षेण तर सद्योमुक्तिमानुहीत्यर्थ । सततमपि ब्रह्मरूपेण यस्य कृतार्थो  
भव कर्तव्यान्तररहितो भवेत्यर्थ । ' ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य  
योगिनः । नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्य अस्ति चेन्न स तत्त्ववित् " ॥ इति  
प्रमाणात् ॥१३८॥

एतावता ग्रन्थेन अस्ति क्वचित्त्वय नित्यमित्यारभ्य एकादशभि  
र्लोकैः परम व आत्मा इत्यस्य प्रश्नस्य उत्तरमुक्त्वा को नाम वध  
इति शिष्यस्य प्रथमप्रश्नस्य उत्तरमाह । अत्रानात्मनीत्यादिना द्वान्या ।

अत्रानात्मन्यहमिति मति-बन्ध एगोस्य पुस

प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरण-क्लेशसपातहेतु ।

येनैवाय वपुरिह-मसत्सत्यमित्यात्म-बुध्या

पुप्यत्यु-क्षत्यवति विपयस्ततुभि कौशकृद्वत् ॥१३९॥

अत्र पूर्वोक्तरीत्या यस्तुत परमात्मन एव स्वरूपत्वेऽपि, अज्ञानात्  
अनादिसिद्धाविद्यावशात् प्राप्त अयं पुस अनात्मनि देहादौ अहमिति मति  
अहं मनुष्य अहं क्षुत्पिपासादिमान् इच्छामि वरोमि भुञ्जे इत्याद्या या मति  
एव बन्ध इत्यन्वयः । तत्र हेतु अज्ञानात्प्राप्त इति । भ्रममामान्यस्य  
दोषजन्मत्वात् शरीरादौ आत्मत्वभ्रमे स्वरूपाज्ञानमव दोषत्वेनापि  
कारणमिति भावः । अत्र प्रत्यक्षा देहादावनात्मनि इत्यप्यर्थः ।  
साध्यादिमते मूलाज्ञानानगीकारेण बन्धमोक्षव्यवस्थैवानुपपत्तेरिति ज्ञेयम् ।  
आज्ञानित्वे बन्धस्य अज्ञानस्य ज्ञानान्निवृत्तौ तन्मूलकस्य बन्धस्यापि  
निवृत्ते, अन्यथा बन्धस्य मत्तत्वात् ज्ञानमाश्रित्यैव त्वस्य दुष्यत्वात्  
क्लेश-मपातहेतुरिति । जननं च मरणं च जननमरणे ताव्या कल्दा दुःख  
तत्र सम्पन्न गम्यन्त्व, तस्य हेतुः । जननमरणत्युपलक्षणं दुःखहेतुना  
क्षुत्पिपासादीनां गर्वेषां, यद्वा जननं च मरणं च कदाचन जननमरण-  
वशेना तेषां मपात स्वयमत्वेन ज्ञानं तत्र हेतुरित्यर्थः । अधुना वशेनपदन



अस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशानां परिग्रहः । पञ्चकलेशमध्ये आदिमवलेशस्यैव  
 “अनात्मन्यहमिति मतिबन्धः” इत्युक्तत्वात् । “अनित्यानुचिदु सा-  
 नात्मसु नित्यशुचिसुखात्मत्वेत्यातिरविद्या” इति योगसूत्रात् । तत्र देहे  
 स्थूलेभिमानात् जननमरणसपात आनन्दमयादावभिमानात् रागद्वेषाभि-  
 निवेशानां सपात इति सकलविषदुःखहेतुत्व आदिमवलेशस्य कार्या-  
 पिद्याया वयशब्दिताया इति शोध्यः । येनैव अनात्मन्यात्ममतिरूप-वन्धेनैव  
 अयं पुरुष इदमसद्वपु आत्मबुद्ध्या सत्यमिति अहमित्यभिमानेन । विषयं  
 वधकं रप्यनुकूलं च प्रतीयमानं रसादिभिः पुष्यति वर्धयति उन्नतिं सिञ्चति  
 अवति रक्षति । तत्रानुरूपं दृष्ट्वा तत्तुभिः कोशकृद्भदिति । यथा  
 कोशकारः त्रिभिः स्वदेहगत-कालाव्ययेन ततून् कृत्वा तं रक्षितो भवामीति  
 भ्रान्त्या तन्मध्यलम्बनं अन्यत्र गतुमशक्तं वृथा म्रियते एव जीवोपि  
 शरीरमात्मत्वेन मत्वा विषयं पोषयन् तद्वशं जन्ममरणादिसकलविध-  
 दुःखमनुभवतीति भावः । उक्तं हि कोशत्रिमिस्तत्तुभिरात्मदेह आवेप्य  
 चावेप्य च गुप्तिमिच्छन् । स्वयं चिनिर्गन्तुमशक्त एव सन् ततस्तदत-  
 क्रियते च लम्बः” इति ॥ तत्र अवन रक्षणं स्थितस्य परिपालनं पोषणं  
 तु तदुपचायवत् इति भेदः ॥१३९॥

अधिष्ठानारोप्यो भेदग्रहे अध्यासानभवात् अज्ञानस्य मूल-  
 कारणस्य अपिवेकद्वारा वन्धहेतुत्वं सदृष्टान्तं विहादयन् अध्यासं वन्ध-  
 यद्वार्यमाह । अतस्मिन्निति ।

अतस्मिन्स्तद्वुद्धिं प्रभवति विमूढस्य तमसा  
 विवेकाभावाद्देहं स्फुरति भुजगे रज्जुधिपणा ।  
 ततो नर्यथातो निपतति समादातुरधिकं

ततो योसद्ग्राहः स हि भवति बन्धुः शृणु मते ॥१४०॥

तमगा अज्ञानेन विमूढस्य विवेकगहितचित्तस्य पुरुषस्य अनिमित्त-  
 नात्मनि देहादौ तद्वुद्धिं आत्मवुद्धिं प्रभवति जायते । तद्यथा विवेका-  
 भावान् स्फुरति भासमानो भुजगे सर्पेनैव रज्जुर्निर्गन्तुं भेदज्ञानाभावात् । ये  
 एव, रज्जुधिपणा रज्जुरिति बुद्धिं जायते । ता रज्जुवृष्यनान्न उपा-  
 देयत्रयिणा समादातु नृपय न्योक्तं अपि न अनर्थज्ञानं मरणमनं

बहुविधदुःख-समुदाय निपतति प्राप्तो भवति । तत तस्मात्कारणात्  
 योऽद्ब्राह्मणं अन्यथावर्तमानस्य अन्यथाग्रहणं स वधं भवति हि  
 निदचय । मत्ते शृणु स्पष्टम् ॥ तत्र रज्ज्वा भुजगधिपणामदृष्टान्तमित्वा  
 भुजगे रज्जुधिपणा अनात्मन्यध्यासे दृष्टान्तीकृता अत्यन्तानर्थकरत्वं  
 द्योतनाय ॥१४०॥

इदानीं कथमेव आगत इत्यस्य प्रश्नस्य उत्तरं वक्तुमारभते ।  
 अखण्डेति ।

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् ।  
 समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवाकंयिवम् ॥१४१॥

अज्ञानस्य द्वे शक्ती बन्धहेतुभूते आवरणशक्तिं विक्षेपशक्तिरनेति ।  
 क्रमेण तयो बन्धहेतुत्वमुपपादयति । अखण्डा अपरिच्छिन्ना अत एव नित्या  
 उत्पत्तिनाशशून्या । अद्वया द्वितीयशून्या या बोधरूपा शक्ति  
 “स्वाभाविकी ज्ञानवल्लभ्या च” इति श्रुते “अयमात्मा द्रष्टुं सर्वानुभू”  
 “सत्यं ज्ञानमनन्ता” “विज्ञानमानन्द ब्रह्म” “कृत्स्नं प्रज्ञानघन एव”  
 इति श्रुतिरस्यैव । तथा शक्त्या स्फुरन्तं प्रकाशमानं । अनन्तवैभव  
 विभोर्भावैव वैभव, तस्य गगनादिवदापेक्षितत्वं वारयति अनन्तेति ।  
 अनन्त निरपेक्ष वैभव यस्य इति निरतिशय-महत्त्वमुक्तम् अतिपरिच्छिन्ने  
 देहादौ अहमिति अत्यन्तमयुक्तेति बोधयितुं । एतादृशे परिच्छिन्नत्वा-  
 नित्यत्व-सद्व्यत्व-जडत्वादिक-मारोप्यते अज्ञानात् । तत्र हेतु स्फुटयति,  
 तमनन्तवैभव अखण्डनित्याद्वयबोध-शक्त्या प्रकाशमानमात्मानं तमोमयी  
 तम प्रचुरा एषा विवेकिजनप्रत्यक्षा आवृतिशक्तिः । अकंयिव महता  
 प्रकाशेन भासमानं सूर्यमण्डलं तमोमयी राहुरिव समावृणोति अभिज्ञमान-  
 स्वासाधारण-धर्माण करोति । यथा महाप्रकाशवानप्यर्कं राहुरावृतं  
 न भासत इत्युच्यते तथा तत्तादृशोप्यात्मा आवृतिशक्त्या समावृतं  
 अज्ञातवास्तवरूपो भवतीति भावः ॥१४१॥

पूर्वाधेन आवरणकार्यं उत्तरार्धेन विक्षेपशक्तिकार्यं च क्रमेणाह ।  
 तिरोभूत इत्यादिना ।

शून्य देह स्थूलादिव आत्मान मत्वा अहमिति विज्ञाय अयं पुमान् भ्रमति  
ससारदीर्घाटव्याम् ॥१४६॥

मुमुक्षूणा मुखबोधार्थं समूल समग्र ससार वृक्षत्वेन ह्ययति ।  
बीजमित्यादिना ।

बीजं ससृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरकुर,

रागं पल्लवमम्बु कर्मं तु वपुः स्कन्धोऽथ शाखिका ।

अग्राणीन्द्रिय-सहतिश्च विषया पुष्पाणि दुःखं फलं,

नानाकर्म-समुद्भूतं बहुविधं भोक्तान् जीवः खगः ॥१४७॥

ससृतिभूमिजस्य ससृतिरेव भूमिजं वृक्षं तस्य बीजं मूलकारणं तगं  
अज्ञानं । तुरवधारणं अज्ञानमव मूलं नान्यदित्यर्थं । देहात्मधीरकुर  
अनात्मन्यात्मधियं अज्ञानैकनिबन्धनत्वात् । रागं पल्लवं विसलय  
अकुरोत्यत्यन्तर-कालिकत्वात् पल्लवरयं । शरीरात्मधी-समनन्तरं  
शरीरात्तु वृक्षं आत्मानं कूलत्वज्ञानात् रागं इच्छा वंपयिकी । अयं जलं वृक्ष-  
वृद्धिहेतुः कर्मं तु वपुर्वेत्यर्थः । तु पूर्ववत् । कुप्यते कर्मं भोग्यं कर्मं  
कर्तुं च भुज्यते, इत्युक्ते । कर्मं पुण्यापुण्यात्मकं । वपुः स्कन्धं यतश्चात्मा  
उत्पद्यन्ते स मध्यभागे वृक्षस्य स्कन्ध इत्युच्यते । अस्य पत्रं प्राणाद्यो  
वायवः स्कन्धतः प्रसूयन्तत्वात् शाखिका शाखा एव शाखिका ।  
अग्राणीन्द्रियं सहति इन्द्रियाणां महति इन्द्रियसहति इन्द्रियसमुदाय  
चक्षुरादीनां वागादीनां च इन्द्रियाणां प्रणापीनस्थितिकत्वात् । इदं तु  
इन्द्रियप्राणसंवाद्यभूतं प्रसिद्धं । अग्राणां शाखापीनस्थितिकत्वात् । इदं तु  
विषया शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा पुष्पाणि अग्रमवन्धात् कुमुदानी । दुःखं  
फलं विषयेन्द्रियं सवन्धान्तरकालिकत्वात् । शाखाप्रपु पुष्पोत्पत्त्यन्तरं हि  
फलं जायते । यद्यपि सुखमपि फलत्वेन वक्तव्यमिति प्रतीयत पूर्वं कर्म-  
शब्देन पुण्यापुण्यरूपस्य कर्मण उक्तत्वात् सुखस्यापि यदाचिदनुभवाच्च  
अथापि वंपयिकमुग्रमपि दुःखमित्येव परिगण्यते निवेदिमि ।  
तस्माद्यनार्थं तरागं च दुःखस्यैवानुभवात् "ये हि रागमर्जं भोगा दुःख-  
यो न एव ते । आद्यन्तवन्तं वीन्ते न तेषु पुरमते वृषः" इति गीतायामुक्ते  
अत एव एकविंशतिदुःखगण्ये पण्डित्यानि पण्डित्यप्या यदुद्भूतं शरीरं

सुख दुःख चेति दुःखत्वेन मुखमपि परिगणित न्यायशास्त्रे । तच्च दुःख  
नानाकर्म-समुद्भव नाना बहुविधानि यानि कर्माणि तैर्म्य समुद्भवो यस्य  
तत् नानाकर्म-समुद्भव । अतो हेतो यमंण बहुविधत्वात् फल स्वयमपि  
बहुविध अनेकप्रकार । अत्र वक्ष्येयं पक्षी जीव मोक्षता दुरतरूप-फलानु-  
भवीत्यर्थः । तथाच अज्ञानमूलक दुःखैवफलक अय ससारवृक्ष विप-  
वृक्षवद्वेय इति भावः । अनेन देहात्मधीरूप-वधस्य रागद्वेषादिदोषोत्पादन-  
द्वारा धर्माधर्म-रूपमर्महेतुताया, तेन च कर्मणा शरीरपरपरया तत्राहमभि-  
मान इत्येव हृदमूलतया स्थितिरिति "कथं प्रतिष्ठास्य" इत्यस्य प्रश्नस्य  
उत्तरं दत्तं भवति ॥१४७॥

इदानीं वयं विमोक्ष इत्यस्य प्रश्नस्य उत्तरं वक्तुं पूर्वोक्तं बन्ध  
सहेतुकं सफलमनुवदति । अज्ञानति ।

अज्ञानमूलोयमनात्मबन्धो

नैसर्गिकोनादिरनन्त ईरितः ।

जन्माप्यवध्याधि-जरादिदुःख-

प्रवाहताप जनयत्यमुष्य ॥१४८॥

अयं सर्वलोकाप्रसिद्धः अनात्मबन्धः शरीराद्यनात्मतादात्म्याभिमान  
अज्ञानमूलः अज्ञानं स्वस्वरूपाज्ञानं मूलं हेतुयस्य न । नैसर्गिकं पूर्वं-  
पूर्वाध्यास-जन्यमस्यारहेतुव । अनादिः अनाद्यज्ञानरायत्वात् कस्मिन्तन्मये  
जल्पत इति वक्तुं ज्ञातुं न अशक्यः । अनन्तं ज्ञानं विना अतः नाशः न  
विद्यते अस्म्येत्यनन्तः । ईरितः अभियुक्तीरिति शेषः । "नान्तो न चादिः"  
इति स्मृतिरयः । एतादृशं बन्धः । अमुष्य जीवस्य जन्माप्यवध्याधि-  
जरादिदुःखं प्रवाह-तापं जन्म उन्पति शरीरस्य, अप्ययं मरणं, व्याधि-  
रोगः, जरा पाशंष्व आदिपदेन आधिभौतिकाधिदैविकतापपरिग्रहः ।  
तैर्जन्यानि यानि दुःखानि तेषां प्रवाहः परंपरा उपर्युपरि मनिषान् तेन  
ताप उद्देगं जनयति उत्पादयति । पातमितिपाठे श्रृष्ट्यायं प्रवाहपा-  
मनि ॥१४८॥

अस्य परमेश्वरानुदत्तस्य-द्वन्द्व-त्रिवेक-जन्य-स्वभावानुभवमनस्य  
पेनाप्यनुभवेत्येवमात् । नाम्नेर्गिनि ।

नास्त्रैर्न जम्त्रैर्गुनिलेन बह्निना

छेत्तु न शक्यो न च कर्मवोटिभिः ।

विवेकविज्ञान-महासिना विना

धातु प्रमादेन शितेन मजुना ॥१४९॥

अथ वक्ष्य धातु प्रमादेन परमस्वरम्पानुग्रहण शितेन निशितेन तीक्ष्णन दृढेनेति यावत् 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुते । मजुना रमणीयेन, विवेकविज्ञानमहासिना विवेकात् आत्मानात्मविवेचनात् जात यद्विज्ञान ग्रहणाक्षात्कार स एव महाश्चामो अमिदं च इह तेन विना । अस्त्रे आग्नेयादिभि न छेत्तु नाशयितु शक्य जम्त्रं लाहमयं बाणादिभि न छेत्तु नाशयितु शक्य । एव अनिलत वायूना न छत्तु नाशयितु शक्य । बह्निना अग्निना न दग्धु शक्य । न च कर्मवोटिभि वेदोक्तैरपि कर्मणा कोट्य तैरपि न नाशयितु शक्य । अज्ञानमूलकत्वात् ज्ञानैकनित्यं इति भाव । तथाच अस्य वक्ष्य विमोक्ष ईश्वरप्रसादजनित परमात्मा-भेद-साक्षात्कारादिन्युक्तम् वय विमोक्ष इत्यस्य प्रश्नस्य उत्तरम् ॥१४९॥

न च कर्मवोटिभिरित्युक्तत्वात् कर्मणा वैदिकाना नितरात्मनपक्षति-  
पाकाया तेषा बुद्धिगुध्यं अग्रेषा वदन् ता यन्धोच्छदकविज्ञानहुतमाह ।  
श्रुतीति ।

श्रुतिप्रमाणैकमतेस्वधर्मनिष्ठा-तयैवात्मविशुद्धिरस्य ।

विशुद्धबुद्धे परमात्मवेदन तेनैव ससारसमूलनाश ॥१५०॥

श्रुतिरेव प्रमाण श्रुतिप्रमाण 'तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्या-  
कार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहाहंति' इति  
गीतावचनात् । तत्र श्रुतिप्रमाणे एवा अनव्यस्यता मुख्य मति बुद्धि  
यस्य स श्रुतिप्रमाणैकमति तस्य, स्वधर्मस्य कर्तव्यकर्मविषये श्रुत्येक-  
शरणस्यत्वर्थ । स्वधर्मनिष्ठा स्वस्य धर्म स्ववर्णस्य आधमम्य च विहित  
कर्मकलाप स्वधर्म । तत्र निष्ठा नितरा स्थिति एवपर्येण अनुष्ठान  
स्वधर्मनिष्ठा तयैव स्वधर्म अनन्यासाक्ततया स्थित्यैव । अस माधकस्य  
जीवस्य आत्मविशुद्धि आत्मन अन्त करणस्य, विज्ञापेण शुद्धि पापशय  
“ज्ञानमुत्पद्यते पुसा क्षयात्पापम्य कर्मण । कपायपक्ति कर्माणि ज्ञान तु

परमागति । कषाय कर्मभि पक्वे ततो ज्ञान प्रवर्तते इतिप्रमाणानु-  
सारेण विशुद्धा नष्टरागद्वेषादि-सकलविषयोषा बुद्धि यस्य तस्य विशुद्ध  
बुद्ध । परमात्मवेदन अभिदेन परमात्मसाक्षात्कार । तेनैव परमात्म  
वेदननैव ससारसमूलनाश समूल नाश समूलनाश ससारस्य समूलनाश  
ससारसमूलनाश । अज्ञानाविदुस्यान्तस्य बन्धस्य अत्यन्तमुच्छेद इत्यर्थ  
॥१५०॥

विवेकविज्ञानमहासिन् त्वन विवेकजन्य विज्ञानमित्युक्तम्  
' तयोर्विवेक वचनतदुच्यता इति पूर्वं शिष्येण पृष्ट च । पूर्वस्थूलसूक्ष्म  
कारणशरीराणा सामान्यत वचनन सगृहीत तद्विस्तरेण प्रपञ्चयितु  
समारभते । नोशैरित्यादिना ।

कोदौरुमयाद्यं पञ्चभिरात्म न सवृत्तो भवति ।

निजशक्ति-समुत्पन्ने जैवलपटलैरिवावु वापीस्थम् ॥१५१॥

सलिलएकोद्वृष्टा इत्यादिश्रुतिभि निमलज्जलत्ववच्छेद्य आत्मन  
स्फुटतया वृत्तो न भवतिमिति तत्रापि तदेव जल दृष्टान्तयन्  
स्फुटाभानहतुमाह कोनैरिति । निजशक्तिसमुत्पन्ने निज रजनोया  
म्बस्मिन्वल्पिता अविद्या तया समुत्पन्ने जातं अद्यमयाद्यं वक्ष्यमाणं  
पञ्चभि पाशै अस कायस्थितं आवर्य आनन्दमयान्नं । स्योपलब्धि  
प्रतिबन्धवापलब्धि विषयै सवृत्त आवृत्त आत्मा न भाति न विविक्ततया  
स्फुट भासते । तत्र दृष्टान्त निजशक्तिममुत्पन्ने जगत्तद्रवत्वधम  
ममुत्पन्ने । जैवलपटलै रीवास्थ भविव । मया  
वापीगत जगत्त एव जातं जैवालै मयान् आच्छादित न स्फुटतया  
भाति तथा इत्यर्थ ॥१५१॥

दृष्टान्त स्फुटभान हतुमाह । तच्छैवालनि ।

तच्छैवालापनये सम्यक्मलिल प्रतीयते शुद्धम् ।

तृष्णामतापहर मद्यस्त्रीम्य-श्रद्ध पर पुनाम् ॥१५२॥

तत् आवर्य यच्छैवाल तस्यापनय सम्यक्पसारण शुद्ध निमल  
मलिन सम्यक् अप्रतिबन्ध प्रतीयते । तत्र पञ्चाह तृष्णामतापहर

तृष्णया यः सतापं दुःखं हरतीति हरतरस्य नाशकः । पुनः पुरुषस्य पातु  
सद्यस्तोष्यप्रदं दर्शनं स्नानपानादिना प्रवर्षेण सतोपदः । परं श्रेष्ठं  
प्रतीयत इति पूर्वोक्तान्वयः ॥१५२॥

दाष्टान्तिके तदाह । पचानामपीति ।

पचानामपि कोशानां अपवादे विभात्ययं शुद्धः ।

नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परस्वयज्योतिः ॥१५३॥

पचानामपि अपिशब्दः कात्स्न्येन निगधार्यः । बाह्यानां आयस्कानां  
अन्तर्मयायानन्दमयान्तानां श्रुतिदत्त-युक्त्या अपवादे निषेधः कृतः मतिः ।  
नित्यानन्दैकरसः उत्पत्तिनाशशून्यः दुःखासभिन्ना-नन्दैकस्वभावः । प्रत्यग्रूपः  
सर्वान्तरस्वयज्योतिः पराप्रकाश्यः कवलज्ञानस्वरूपः । परं सर्वोत्कृष्टः  
अदमात्मा शुद्धः स्वाभाविकागतुफ-मलासस्पृष्टः । विभाति विक्षपणं भाति  
अनात्माससृष्टतया भासत इत्यर्थः ॥१५३॥

यत एव ततः,

आत्मानात्मविवेकं कर्तव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ।

तेनैवानन्दीभवति स्वविज्ञाय सच्चिदानन्दम् ॥१५४॥

विदुषा शास्त्रजन्यज्ञानवता पुरुषेण । बन्धमुक्तये अध्यासनिवृत्तये ।  
आत्मानात्मविवेकः आत्मा च अनात्मानश्च आत्मानात्मनः तेषां विवेकः  
असंकीर्णतया ज्ञानः । कर्तव्यं यत्नात् संपादनीयम् । तेनैव आत्मानात्म-  
विवेचनैव स्वस्वरूपसच्चिदानन्दः कालत्रयावाधः ज्ञानआनन्दः  
विज्ञाय साक्षात्कृत्य, उक्तं हि द्वितीयश्लोके आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवः  
इति, आनन्दीभवति आनन्दः अभ्यासीति आनन्दी निरतिशय-मार्गविक-  
मुत्तवान्भवतीत्यर्थः ॥१५४॥

विवेचनप्रकारदृष्टान्तेन बुद्धाचारोहयन् ब्रह्मात्मना संस्थितिरूप-  
मुक्तये विवेचनानन्तरकृतव्यमाह । मुञ्जादिति ।

मुञ्जादिपीकामिव दृश्यवर्गात्  
प्रत्यक्षमात्मानमसंगमस्त्रियम् । -

विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं

तदात्मना तिष्ठति यस्स मुक्त ॥१५५॥

मुजात् मुज तृणविशेष तस्मात् । इषीकामिव तन्मध्यवर्ती-मृणाल-  
तनुनिभ-सूक्ष्मांश इषीका तामिव । सा सूक्ष्मा परितस्तृणावृता तस्या  
पृथक्करणे अत्यतमेकाग्रश्च श्रोतृनादिक विना सपूर्णेषीकामहणे घटनविशेषश्च  
अपेक्ष्यते तद्वत् “एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्पा न प्रकाशते । दृश्यते त्वप्रधुमा  
बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ” इति श्रुत्या विहितचर्मभि उपासनया च  
संस्तुतया बुध्या दृश्यवर्गात् अनात्मसमूहात् । प्रत्येक प्रातिलांभ्येन  
अचतीति प्रत्येक असंजड-दुःखाह्वारादिविलक्षणत्वेन सच्चित्सुख-रूपाया  
प्रकाशत इत्यर्थः । त असंग अद्वितीयतया सर्वसंगरहितः । अत्रिय  
अपरिच्छिन्नतया क्रियारहितः । आत्मान विविच्य पृथक्कृत्य तत्र  
प्रत्यगात्मनि सर्वं दृश्यवर्गं प्रविलाप्य प्रकर्षेण विलाप्य अपुनस्मरण  
प्रत्यगात्मव्यतिरेकेण विमपि नास्तीति विनिश्चिन्य । तदात्मना अधिष्ठान-  
भूत-प्रत्यगात्मना यस्तिष्ठति सर्वदा वर्तते स मुक्त सकलविधात् बन्धात्  
इति, ब्रह्मात्मना संस्थिति आत्मानात्मविवेकेन आत्मनि समागोपितानात्म-  
बाधेन लब्धव्या इति प्रपञ्चप्रविलापन विवेकिना कर्तव्यमित्युक्तं भवति  
॥१५५॥

इदानीं पञ्चतु कोशेषु अन्तिममपि प्रथमं स्थूलतया विवेचार्हं  
“अस्माल्लोकात्प्रेत्य, एतमन्नमयमात्मानमुपसन्नामति ” इति श्रुत्युक्तव्रमेण  
सर्वान्तरमात्मानं ग्राहयितुं विवेचयति देहोपमित्यादिना दशभिः श्लोकैः ।

देहोपमन्नमवनोन्नमयस्तु कोशो

ह्यग्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।

त्ववचर्म-मासरधिरास्थि-पुरोपराशि

नाथ स्वयं भवितुमर्हति नित्यगुह्य ॥१५६॥

अन्नाद्भुवनमुत्पत्तिर्यस्य स अन्नभवनं मातापितृ-भुक्ताग्रधिरारादि  
अभ्योत्पन्निरिति तथा । जय देहं परिदृश्यमानं स्थूलदेहं अन्नमयस्तु कान् ,  
तुलाद्दन्तरम्यावांश्च । पचानां शोशानां मध्ये स्थूलदेह एव अन्नमय  
कोशो नैव इत्यर्थः । “अन्नाद्दं प्रजा प्रजायन्ते । अपो अग्रेवजीयन्ति ”



इति धृति । न केवलमुत्पत्त्या अन्नविकारत्वं उत्पत्त्यनंतरमपि अन्नेन जीवति धृतप्राणो भवति । तद्विहीनं विनश्यति म्रियते उत्तमानप्राणो भवतीत्यर्थः । अतः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अन्नाधीनमित्यतिक्रमः तस्य । हि निश्चयः । न केवलं पराधीनोत्पत्तिस्थितिक्रमः अनात्मत्वं हेतुः अशुद्धत्वं चेत्याह त्वगिति । त्वक्चर्म-मांसरुधिरास्थि-पुगीपराणि स्पष्टम् । अयं देहः नित्यशुद्धः "अजो नित्यः" "शुद्धमपापविद्धः" इत्यादिधृति-बोधित-नित्यशुद्धत्वादि-धर्मकं स्वयमात्मा भवितुं नार्हति । देहो नात्मा अनित्यत्वात् अशुद्धत्वात् केनादिवत् ॥१५६॥

अनित्यत्वमुपपादयति स्पष्टं पूर्वमिति ।

पूर्वं जनेरपि मृतेरयं नायमस्ति

जातक्षणक्षण-गुणोनियतस्वभावः ।

नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः

स्यात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ॥१५७॥

जने उत्पत्तेः पूर्वं मरणस्य अथ अनन्तरं अपिरभयश्च मरणेन  
"आदावते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा" इति माण्डूक्यदर्शनान्वया-  
अनिर्वचनीयं दृष्टान्तस्वरूपतया इत्यर्थः । तदेवोपपादयति जातक्षण-  
क्षणगुण इति । क्षणे क्षणे गुणः क्षणक्षणगुणः जातः क्षणक्षणगुणः यस्य स  
तथा प्रतिक्षणं उपचयापचयरूपधर्मवानिति भावः । वायुसमोपादिना  
आध्यात्मिकवायुसंचारेण अन्तःशोपादिना च । अत एव हि पुनः पुनराहरणं  
जलपानादिकं च । अत एव अनियतस्वभावः नियतस्वभावः यस्य स  
नियतस्वभावः न नियतस्वभावः अनियतस्वभावः एकरूपतया न व्यवस्थितः  
इत्यर्थः । नैकः एकस्मिन्जन्मस्यपि बाल्ययौवनादिषु भिन्नत्वेन शायमानः-  
इत्येत्यर्थः । घटवत्परिदृश्यमानः । अत एव जडश्च पराधीनस्त्विति ।  
एतादृशदेहः भावविकारवेत्ता इदानीं वृथा इदानीं स्थूलः इत्यादिनाभाव-  
विकारवेत्ता ज्ञाता स्वात्मा कथं भवति स्वगतधर्मस्य म्बेनाशायमानत्वान्,  
न हि घट एव घटं पश्यति, अतो देहो नात्मा दृश्यत्वात् घटवदित्युक्तं भवति ।  
आत्मा तु नित्यः निर्गुणः एकरूपः एव द्रष्टा च ॥१५७॥

तत्रैव हेत्वन्तरमाह । पाणीति ।

पाणिपादादिमान्देहो नात्मा व्यगेपि जीवनात् ।  
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामक ॥१५८॥

पाणी च पादौ च तेषां समाहारः पाणिपादः तदादि यस्यैतस्य पक्षकुक्ष्याद्वक्ष्यवसामुदायस्य तदस्यास्तीति तद्वान् पाणिपादादिमान् । देहो नात्मा व्यगेपि पाणिपादादिरहितेऽपि जीवनात् आत्मकार्यस्य प्राणधारणस्य सत्वात् । जीवति हि लोके कुण्डलजादयः । दाक्ष्यमनिर्मित-पाणि-पादादिना आदानगमनादिकार्यं कुर्वन्तीति तत्तच्छक्तेः पाणिपादाद्विशक्तेः अनाशाच्च । पाण्यादिमान् देहो नात्मा इत्यन्वयः । उक्तं च चठोपनिषदि “न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवति यस्मिन्नेता-बुपाश्रितौ” इति सर्वज्ञस्याश्रयत्वमात्मनः । न नियम्य आत्मा, नियामकं सर्वेषां देहेन्द्रियादीनां । देहस्तु नियम्य जडत्वात् नियमकत्वा-भाववाच्च । तत् सावयवत्वात् नियम्यत्वाच्च निरवयवः नियामक-आत्मा नेति समुदायार्थः ॥१५८॥

देहस्य आत्मभिन्नत्वमुपपाद्य आत्मनः तद्विलक्षणत्वं विवेक-दान्मर्यादोपदिशति । देहेति ।

देहतद्वर्त्म-तत्त्वार्म-तदवस्थादि-साक्षिणः ।  
सत एव स्वतस्सिद्धं तद्विलक्षण्यमात्मनः ॥१५९॥

तस्य देहस्य धर्मा रूपस्पर्शगन्धादयः तत्त्वमणिः हिताहितप्राप्ति-परिहारार्थक्रिया गमनादयः, तदवस्था उपवेशनस्थानशयनादयः आदि-पदेन स्पर्शस्पर्शास्पर्शविषयाः । देहश्च तद्वर्माश्च तत्त्वमणिः च तदवस्थावि-च देहतद्वर्त्म-तत्त्वार्म-तदवस्थादीनि तेषां साक्षाद्रष्टाः । तस्य सत एव सर्वविश्यामु-वात्यादिषु भिन्नभिन्नरालिनाम्बुषि अविवारितमा-पाल-त्रयेष्वाध्यायमा यन्मानस्यैव आत्मनः तद्विलक्षण्यं तस्माद्विलक्षण्यं तद्विलक्षण्यं देहादिविलक्षणत्वं सत्यं साक्षित्वादेव हेत्वन्तरं यिनैव मिद्धं निश्चितम् इत्यर्थः । आत्मा देहादिविलक्षणः तत्त्वमणित्वान् यथैव तथैव यथा देहादि ॥१५९॥

एव देहस्य अनियन्त्रान् दृश्यन्वान् च अनात्म-प्रमुखादिन इदानीं अनुपपत्त्येन ननुपपादयति । नित्यमिति ।

शत्यराशि मासलिप्तो मलपूर्णोतिकम्पल ।

कथं भवेदय वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षण ॥१६०॥

गत्यानावीवसाना राशि यन स शत्यराशि मासलिप्त मासन लिप्त  
उपदिग्ध मलपूर्ण मलेन पुरीषण पूर्णं दूषिका सिंघाण पित्रूपादिभि  
सहितश्च । अत एवातिकम्पल अत्यन कम्पल अतिकम्पल । स्वेद-  
दुर्गन्धादिभूयिष्ठतया बह्वशुद्ध अयं देह एतद्विलक्षण निर्मल स्वयमात्मा  
यद्य भवेत् इत्यन्वय । अनुगान तु पूर्वं दर्शितम् ॥१६०॥

एवविबेकस्य फलमाह । त्वगिति ।

त्वडमासमेदोस्थिपुरीषराशा-वहर्माति भूतजन करोति ।

विलक्षण वेत्ति विचारशीलो निजस्वरूप परमार्थभूतम् ॥१६१॥

मूढश्चासौ जनश्च भूतजन विचारहीन भ्रान्तबुद्धि मनुष्य  
त्वडमासमेदोस्थिपुरीषराशी देह अहर्माति अहर्मातितादात्म्यबुद्धि परोति  
ब्रूनाति । विचारशील पुमास्तु विलक्षण दहविलक्षण परमार्थभूत  
कालययपि बाधायोग्य निजस्वरूप वास्तविक स्वयायात्म्य परमात्मानमेव  
स्वात्मान जानाति ॥१६१॥

तत्रापि

देहोहमित्येव जडस्य बुद्धि

देहे च जीवे विदुषस्त्वहधी ।

विवेकविज्ञानवतो महात्मनो

ब्रह्माहमित्येव मति सदात्मन ॥१६२॥

जडस्य पामरस्य अहं देह एव नतद्व्यतिरिक्त वद्विचत इति  
बुद्धि । विदुषस्तु शास्त्रजन्यपरोक्षज्ञानवत देहे च जीवे च अहधी  
लौकिकव्यावहारेषु देह वैदिके स्वर्गोपयोगादिकरणार्थं देहव्यतिरिक्त जीवे  
अहधी । विवेकविज्ञानवत विवेकाद्विज्ञान विवेकविज्ञान आत्मानाग-  
विवेचनात् आत्मन्यनात्मप्रविलापनेन जात यद्विज्ञान साक्षात्कार तदस्या  
स्तीति तद्वान् तस्य महान् परिच्छेदप्रयत्नान् आत्मा यस्य स महात्मा ।  
पूर्व परिच्छिन्नपु अनात्ममु कोऽपु आत्मत्वमिषा अत्मा आसीत् इदानी तु

सम्यग्ज्ञानवान् स्वात्मानं विविधपरिच्छेदशून्यं मनुते “यत्र नान्यत्पश्यति  
नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा” “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्  
तत्केन क पश्येत्” इति श्रुते । तादृशस्य गदात्मनि सदा सर्वदापि आत्मानि  
स्वविषये ब्रह्माहमित्येव मति अनुभव इत्यर्थः ॥१६२॥

तस्मात्

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे त्वङ्मासमेदोस्थिपुरीषराशौ ।  
सर्वात्मनि ब्रह्माणि निर्विकल्पं कुरुष्व शान्तिं परमा भजस्व ॥१६३॥

मूढबुद्धे विवेचनरहितान्तं करणं, यद्वा मूढं बुद्धे अहतया ज्ञाते  
अत्र त्वङ्मासमेदोस्थिपुरीषराशौ अत्र स्थूलदेहे आत्मबुद्धिं अहमिति  
मतिं त्यज विमूज । “इदं सर्वं यदयमात्मा” “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”  
इति श्रुत्या सर्वोपादानत्वेन कल्पितसकलाधिष्ठानत्वेन सर्वस्य वस्तुन वास्त-  
विकरूपे निर्विकल्पे विविधकल्पनाशून्ये ब्रह्माणि परमात्मनि इदानीं देहे  
वर्तमाना आत्मबुद्धिं अहमिति मतिं कुरुष्व अहमेव पर ब्रह्मेति जानीहि ।  
तत्कालमाह परमा मुक्तिमुसदा शान्तिं बुध्युपशान्तिं ब्रह्मसंस्थामिति  
यावत् भजस्व प्राप्नुहि । शान्तिं निर्वाणपरमामत्सस्यामधिगच्छतीति  
स्मृते ॥१६३॥

देहादावभिमानरयाग विना केवलशास्त्रजस्यज्ञानाक्षमुक्तिरित्याह ।  
देहेन्द्रियेति ।

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदिता

विद्वानहता न जहाति यावत् ।

तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ता-

प्यस्त्वेव वेदान्तनयान्तर्दशी ॥१६४॥

विद्वान् विवेचनकुशल । असति मिथ्याभते देहेन्द्रियादौ देहद्व-  
न्द्वियाणि च देहेन्द्रियाणि तानि आदीनि यस्य तत् प्राणमनोबुध्यादि  
तस्मिन्, यावत् यावता बालेन भ्रमोदिता भ्रान्तिजनिता अहता आत्मबुद्धिं  
न जहाति न परित्यजति तावत् तावत्कालपर्यन्तं तस्य पुन विमुक्ति-  
वार्तापि नास्ति कुतो विमुक्तिरिति भावः । एष पुमान् वेदान्तनयान्त-

दृश्यं प्यस्तु वेदान्ता एव नय शास्त्र तस्य अन्तः पारः तद्रूपं धीलमस्यास्तीति  
दर्शी वेदान्तनयान्तदर्शी । सोऽपि अभिमानत्यागं विना न मुक्तिमर्हति ।  
अतः निरन्तरनिदिध्यासनेन विपरीतभावना त्यक्तव्येति भावः ॥१६४॥

तस्याः त्यागे विचारः सुलभोपायमाह । छायेति ।

छायाशरीरे प्रतिविद्यमाने

यत्स्वप्नदेहे हृदिकल्पिताग्रे ।

यथात्मबुद्धिस्तत्र नास्ति काचित्

जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥१६५॥

यत् यस्मात्कारणात् छायाशरीरे शरीरच्छायायाः प्रतिविद्यमाने  
दर्पणादौ प्रतीयमानान्तरप्रतिविद्ये स्वप्नदेहे स्वप्नावस्थायाः दृश्यमानशरीरे  
हृदि मनसि कल्पिताग्रे कल्पितं च तत् अग्रे च कल्पिताग्रे तस्मिन् जाग्रदव-  
स्थायाः मनः कल्पितदेहे यथा तत्र काचित् आत्मबुद्धिः अहमितिमिति नास्ति  
न विद्यते । तथैव जीवच्छरीरे च प्राणान्तरच्छरीरं तस्मिन्नपि मास्तु ।  
द्रष्टुं स्वस्माद् भिन्नत्वेन प्रतीतं सर्वत्र अवशिष्टत्वात् इति भावः ॥१६५॥

अत्रमयकोशमुपसर्जिहीर्षु सर्वानर्थकरी देहात्मधीस्त्याज्यत्याह ।  
देहात्मधीरिति ।

देहात्मधीरेव नृणामराद्धिया

जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजः ।

यतस्ततस्तस्य जहि तां प्रयत्नात्

त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवात् ॥१६६॥

यत् यस्मात् अमत्सु ब्रह्मभिन्नेष्वनात्मसु धीर्मेधा ते असाद्विद्ये तेषां  
नृणां भनूजानां देहात्मधीरेव देह एवात्मा इति धीरेव जन्मादिदुःखप्रभवस्य  
जन्म उत्पत्तिरादि मेधा मरणादीनां तानि जन्मादीनि तैर्यद्दुःखं तस्य  
प्रभवः उत्पत्तिः तस्याः बीजं कारणं शरीरगतत्वात् जन्ममरणादेः ।  
तदेवाहमिति जानानस्य तत्सर्वं स्ववीर्यमवेति जानात् दुःखं दुष्परिहरमिति  
भावः । तत् सर्वं दुःखहतत्वात् तां देहात्मधियं प्रयत्नात् श्रवणमनन-  
निदिध्यामनरूपं शास्त्रीयप्रयत्नान् जहि जट्टीहीत्यर्थः । नाशयति वा ।

देहादौ चित्ते त्यक्ते तु मनससचाराभावे वासनात्मनाप्यभिमानाभावे  
पुन मदाशा ससाराशा नेवेत्यर्थः । 'अहभावस्य देहेस्मिन् निश्चोप-  
विलयावधिः । सावधानेन युक्तात्मा स्वाध्यासापनय कुरु' इति वक्ष्यमाण-  
त्वात् । "देहात्मज्ञानवज्ज्ञान देहात्मज्ञानवाधकः । आत्मन्येव भवेद्यस्य  
स जीवन्नपि मुच्यते" इति प्रमाणात् ॥१६६॥

अन्नमय निरूप्य तत आन्तर प्राणमय श्रौतक्रमेण अनात्मान  
निरूपयति । कर्मेन्द्रियैरित्यादिना द्वाभ्याः ।

कर्मेन्द्रियै पचभिरचितोय प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः ।  
येनात्मवानन्नमयोऽनुपूर्णं प्रवर्ततेसौ सकलक्रियासु ॥१६७॥

पचभि वाक्पाणिपादगायूपस्थाख्यै कर्मेन्द्रियै वचनादानविहरणो-  
त्सर्गानन्द-रूपकर्मजनकै इन्द्रियै क्रमेण आकाशादिपञ्चभूतरजोशजातै  
अचित्त विशिष्ट इत्यर्थः । अतपचक समष्टिरज कार्यं प्राण शरीरास्त-  
स्सचारी वायु प्राणमय तच्छब्दवाधित । कोश अशनाया-पिपासादि-  
धर्मे आत्मानमावृण्वन् अपिपास विजिघत्सात्मोपलब्धिप्रतिवधिवा या  
अह पिपासार्तं क्षुत्पीडित इत्यादिरूपलब्धि तद्विषयो भवतीत्यर्थः ।  
"तेनैव पूर्णं, सवा एव पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधता, अन्वय पुरुष-  
विध' इति प्राणमय पर्यायस्थ-युत्यर्थमाह, येन प्राणमयेन आनन्दमय-  
विज्ञानमय-मनोमयद्वारा आत्मप्रतिफलनवत्त्वेन आत्मवत्ता अन्नमय  
'तस्माद्वा एतस्मादप्रसरसमयात् अन्योन्तर आत्मा प्राणमय" इति ध्रुते  
आत्मवान् आत्मप्रतिफलनवान् । तत्र हेतु अनुपूर्ण इति, "स एव इह  
प्रविष्ट आ नक्षात्रेभ्यः" इति ध्रुते प्राणस्य पूर्णतामनुपूर्णं "तस्य  
पुरुषविधता अन्वय पुरुषविध" इति ध्रुते । तयाविधस्सन् सकलक्रियासु  
हिताहितप्राप्तिपरिहारायासु प्रवर्तते । अचेतन चेतनाधिष्ठित कार्यं  
चरोतीति न्यायात् । यद्भागे प्राणसबन्धो नास्ति तत्र निर्व्यापारत्व  
ल्लोपसिद्धमिति प्राणसबन्धादेव शरीरे व्यापारः, मृते तदभावादेव आत्म-  
सबन्धद्वाराभावात् अचेतनत्व । अथ समष्टिव्याप्यत्वायैत्यविशेषसत्येपि  
रजोगुणकार्यत्र समानमिति कर्मेन्द्रियाणां प्राणमयेन्तर्मात्र इति मन्तव्यम्  
॥१६७॥

इदानीं तस्य अनात्मत्वमाह । नैवेति ।

नैवात्माय प्राणमयो वायुविकारो  
गन्तागन्ता वायुवदन्तर्वहिरेष ।  
यस्मात्किञ्चित्वापि न वेत्तीष्टमनिष्ट

स्व वान्य वा किञ्चननित्य परतन्त्र ॥१६८॥

वायुविकार वायोविकार वायुविकार वायुकार्यं अयं प्राणमय  
नैवात्मेति प्रतिज्ञा । तत्र हेतुं वायुवत् एष प्राणमय अन्तर्बहिर्गन्ता  
आगन्ता निश्वासे अन्तर्गन्ता उच्छ्वासे बहिरागन्ता । यथा बाह्यवायुः ।  
सक्रिय परिच्छिन्नश्चायं सर्वव्यापी निष्क्रिय आत्मा न भवतीति भावः ।  
सक्रियत्वात् परिच्छिन्नत्वात् बाह्यवायुवदिति सट्टान्तो हेतुः । एव-  
मचेतनत्वं परतन्त्रत्वं च अनात्मत्वे हेतुमाह उत्तरार्धेन । यस्मादयं  
प्राणमय इष्टमनिष्ट वा सुख दुःख वैत्यर्थं क्वापि कस्मिन्नपि काले देशे  
वा स्व वा अन्य वा स्वात्मानं परं वा न वेत्ति न जानाति नित्यं परतन्त्रं  
जीवनमोनियन्तजन्यसञ्चारवत्त्वात्, प्राणायामादिकाले तस्य निरुध्यमानत्वं  
प्रसिद्धं । अतः सक्रियत्व-परिच्छिन्नत्वाच्चेतनत्वं-पराधीनत्वहेतुभिः एत-  
न्निलक्षणं आत्मानं भवति । यद्ययमात्मा तर्हि मुपुष्टिदशायां जागरूकत्वात्  
चोरादिबाधा जानीयात् । आत्मनः सर्वप्रधानत्वात् स्वभृत्येषु चक्षुरादिषु  
स्वपत्सु स्वयं व्यापारवानिति विरुद्धं च अतः नैवात्मायं प्राणमय ॥१६८॥

इदानीं मनोमयं निरूपयति । ज्ञानेन्द्रियाणीति ।

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयं स्यात्

कोजो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः ।

संज्ञादिभेदबलना-कलितो बलीयान्

तत्पूर्वबोधमनुपूर्वं विजृम्भते यः ॥१६९॥

श्रवणदर्शनादि-कार्यवर्णानि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रचक्षुस्त्वग्निहृत्ता-  
प्राणानि मनः सामसबल्य-निनिमित्ता-श्रद्धादिवृत्तिव मनश्च मनोमयं  
तथाशब्दितं बोधं म्यात् । सर्वेन्द्रियव्यापारस्यापि मनोधीनत्वात् इन्द्रिया-  
भावेऽपि स्वप्ने सत्त्वाच्च मनसः तत्प्रधानतया मनोमय इति मज्ञा न तु  
श्रोत्रमय इति सज्ञा इति भावः । अत्रापि प्रत्येकावागादिपञ्चभूतमत्त्व-

कार्यत्वात् ज्ञानान्द्रयाणां भूतपञ्चकसत्य-समष्टिकार्यत्वाच्च मनस-  
 एकस्मिन्कोशे घटनम् तेषामिति बोध्यम् । अहं शृणोमि अहं पश्यामि  
 अहं स्पृशामि अहं रसये अहं जिघ्रामि अहं कामये सकल्पये इत्यादिना  
 सर्वत्र आत्मबुद्धे सत्वात् “तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् अन्योन्तर आत्मा  
 मनोमय ” इति श्रुत्या अयमपि स्वोपलब्ध्या आत्ममायात्स्योपलब्धिं प्रति-  
 यध्नातीति कोश इत्युच्यते । तस्य कार्यमाह गमाहमिति वस्तुविकल्पहेतु,  
 वैहेन्द्रियादी गृहलोभादौ अहता ममता च मन एव सकल्पविकल्पात्मकत्वात्  
 जनयनीति वस्तुषु वैहेगृहाविषु अहममेत्यादयः ये विकल्पा तेषां हेतुरित्यर्थः ।  
 तस्य स्वरूपमाह सञ्ज्ञादिभेद-कलना-कलित इति । राज्ञा नाम, आदिपदेन  
 रूपं निश्चित इति भेद राजादिरूप यो भेद अस्य वस्तुन घट कलश  
 कुम्भ इत्यादिसञ्ज्ञा, पृथुबुध्नोदराद्याकार रूपं नीलपीतादिकं च इति  
 रीत्या सर्वपदार्थेष्वपि भिद्यमान-नामरूपादिविषयककलनया कलितं विशिष्टं  
 इत्यर्थः । सर्वा अपि वृत्तयः शब्दविषयिण्यर्थविषयिण्यश्च मन, आश्रित्य  
 वर्तन्ते । अतः शब्दार्थव्यतिरिक्त-प्रपञ्चस्य अभावात् सर्वा अपि प्रपञ्चं मनसि  
 स्वविषयककृतमिति वर्तत इति वलीयान्, बन्धस्य मोक्षस्य च एतदधीनत्वात्  
 अन्नमये प्राणमये वा ज्ञानशक्त्यभावात् ततो बलिष्ठत्वं अस्त्विति । एतत्संबन्धा-  
 भावे तन्मात्रमसंबन्धाभावाच्च । तदाह तत्पूर्वकोशमनुपूर्वं इति । तस्य  
 पूर्वकोशं तत्पूर्वकोशं प्राणमयं तं अनुपूर्वं विज्ञानमयकोशेन स्वयं पूरितं  
 तदनु प्राणमयं व्याप्य यो विजृम्भते निरर्गलं स्वकार्यं करोति स मनोमय  
 इत्यन्वयः । तत्पर्यायेऽपि श्रुति “स वा एष पुरुषविष एव तस्य पुरुष-  
 विषयता अन्वयः पुरुषविष ” इति श्रौत्या ॥१६९॥

तस्य बन्धकत्वं विशदयति । पचेन्द्रियैरित्यादिना चतुर्भिः ।

पचेन्द्रियैः पचन्निरेव होतृभिः

प्रचीयमानो विषयाज्यघारया ।

जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्यत्र

मनोमयोऽग्निं दहति प्रपञ्चम् ॥१७०॥

मुखप्रतिपत्तये मनोमयमग्नित्वेन श्रोत्रादीन्द्रियाणि होतृत्वेन पुनः  
 पुनः उपतप्तं विषयानाज्यघारात्वेन निषयवासना इन्धनत्वेन रूपयति । पच



च तानि इन्द्रियाणि च पचेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि तरेव  
 पचन्नि होतृभि हविरग्निःसयोमानुबूल-व्यापारवद्भि प्रक्षेप्तृभि । विप-  
 याज्यधारया विपया शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धा त एव आज्य तस्य धारा तया  
 प्रचीयमान सवध्यमान नैरतयेण तत्तदिन्द्रियं तत्तद्विपयाणा मनसि  
 निपात्यमानत्वात्, इन्धनेषु सत्सु आज्यधारा चेत् ज्वलनमधिक अत आह  
 बहुवासनेन्धनैरिति बहुध्य या वासना "दुग्धभावनयात्यक्तपूर्वापरविचारग ।  
 यदादान पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता " इति बन्धकत्वेपि विपयाणा मुख-  
 करत्वभ्रान्त्या तेषु उपादेयत्वभावेना ता एव इन्धनानि शुष्ककाष्ठानि  
 इन्धनाभावे केवलाज्यधाराया बहुकालज्वलनहेतुत्वाभावात् वासनाभावे  
 विपयाणा बन्धकत्वाभावाच्च । तै बहुवासनेन्धनं जाज्वल्यमानं पौन-  
 पुन्येन निरतर ज्वलन् मनोमय मनोरूपं अग्निं प्रपच दहति भस्मीकरोति  
 सर्वान्पुरुषान् पुरुषार्थयोग्यान् करोतीति यावत् ॥१७०॥

अन्वयव्यतिरेकाम्या तस्य बन्धकत्वमाह । न ह्यस्तीति ।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोतिरिक्ता  
 मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतु ।

तस्मिन्विनष्टे सकल विनष्ट

विजृम्भितेस्मिन् सकल विजृम्भते ॥१७१॥

मुमुक्षौ वारणाविद्यासद्भावेपि बन्धस्याभावात् तत्कार्यमनस एव  
 बन्धवत् तदा तस्य लीनत्वात् बन्धाभाव इत्यभिप्रेत्य । मनसोतिरिक्ता  
 अविद्या नास्ति इत्युक्तम् । हि निश्चित । हि यत भवबन्धहेतु अविद्या  
 तत्कार्यत्वात् मन एव । मनमत्वे देशादावभिमान-रूपबन्धात् तदभावे  
 तस्मिन्विनष्टे मनसि विधोषेण निर्वात्मन नष्टे रावल विनष्ट । स्पष्ट हि  
 मुमुक्षो जगदेव नास्तीति । अस्मिन्विजृम्भिते वर्धमाने भक्तल विजृम्भते  
 सर्वमपि वृद्धिमाप्नोतीत्यर्थ ॥१७१॥

तदेव विस्तरेणोपपादयति । स्वप्न इत्यादिना ।

स्वप्नेर्थशून्ये सृजतिस्वयकत्या भोक्त्रादि विश्व मन एवमवम् ।  
 तथैव जाग्रत्यापि नो विशेष तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥१७२॥

प्रथमेनान्वयमाह, अर्थशून्ये शरीरान्तर्वर्तिनाडीषु मनस्सचार-दशया  
 स्यन्नावस्थेति श्रुत्या बोधितत्वात् केशतोपि सूक्ष्मासु तामु नाडीषु  
 गिरिन्दी-ममुद्वादीना तदा प्रतीयमानाना असम्भाविततया चक्षुरादीना तदा  
 जगत्तद्व्यापारत्वात् तद्वारा मनस वह्निर्गमनाभावात् शरीराद्वह्निर्वर्त-  
 मानाना प्रतीयमानाच्च केवल मनोवर्तिवासनावशात् तदा अर्था बाह्या इव  
 प्रतीयन्ते ननु यस्तु सत इति अर्थशून्ये इत्युक्त । तथाविधे स्वप्ने  
 स्यसक्त्या वासनाभि केवल स्वस्मिन् आत्मप्रतिफलनसामर्थ्येन च सर्व  
 भोक्त्रादि विद्वज्जगत् मन एव सृजति निर्ममोते । यद्यपि जीव भोक्ता  
 वर्तत इति भोक्त्रादीति कथमिति शका भवितुमर्हति । तथापि भोग्याभावे  
 भोक्तृत्वाभावात् भोग्यसृष्टिहेतोर् मनस एव निरूपकदानेन भोक्तृसादृश-  
 मन्तव्यम् । तथैव स्वप्नवदेव जाग्रत्यपि जाग्रदवस्थायामपि मन एव सर्व  
 सृजति नो विशेष । तत् तस्मात् सर्वमेतत् जगत् मनसो विजृम्भण  
 विलास ॥१७२॥

व्यतिरेकेण इममर्थं द्रढयति । सुषुप्तीति ।

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने नैवास्ति किञ्चित् सकलप्रसिद्धे ।

अतो मन कल्पित एव पुस ससार एतस्य न वस्तुतोस्ति ॥१७३॥

सुषुप्तिकाले सुषुप्त्यवस्थाया मनसि प्रलीने परिणामान् विहाय  
 कारणरूपना अवतिष्ठमाने नैवास्ति किञ्चित् जगत् । सकलप्रसिद्धे  
 सर्वप्राप्यनुभवात् न किञ्चिदवेदिमिति । अत एतस्य बद्धस्य पुस ससार  
 मन कल्पित एव । वस्तुतः परमार्थतः नास्ति मनस्तत्त्वे स्वप्नजाग्रतो-  
 ससारोपलब्धे मनस असत्त्वे सुषुप्तावनुपलभात् । मृदन्वयव्यतिरेकानु-  
 विपायि-घट इव मृद्व्यतिरेकेण मनोव्यतिरेकेण ससारो नास्त्येति  
 तस्मिन्विनष्टे इति यदुक्त पूर्वं तदुपपादितम् ॥१७३॥

बायुदूष्टान्तेन एकस्यैव तस्य विरुद्धद्वयहेतुत्वमाह । बायुनेति ।

बायुना नीयते मेघ पुनस्तेनैव लीयते ।

मनसा कल्प्यते बन्ध मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥१७४॥

रूपदम् ॥१७४॥

दाष्टान्तिके बन्धहेतुत्व मोक्षहेतुत्व च उपपादयति । देहेति ।

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य राग  
वध्नाति तेन पुरुष पशुवद्गुणेन ।

वैरस्यमत्र विषयत् गुविधाय पश्चा-  
देन विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ॥१७५॥

देह आदि यस्य स, सर्वश्चानौ विषयश्च शब्दस्पर्शादि पुनादिश्च  
देहादिश्चासौ सर्वविषयश्च । शब्दादौ रागस्यापि देहमूलकत्वात्  
देहादीति । तस्मिन् देहादिसर्वविषये । राग परिकल्प्य दृढ जनयित्वा तेन  
रागेण गुणेन रज्जा पशुवत् पशुमिव पुरुष वध्नाति स्वप्तिन-परमपद-  
प्राप्त्ययोग्य करोति । पश्चादनन्तरं तत् यद्बन्ध जनयामास तत् मन  
एव । अत्र देहादौ विषये वैरस्य वैराग्य अनासक्ति विषयत् विग इय  
अनर्थकरवजापनेन सुविधाय मुष्टत्वाच्च एन पुमास बन्धात् देहाद्यभिमान-  
लक्षणात् विमाचयति पिशोपेण मोचयति । सदापि ब्रह्मणि नश्यदा  
पुनर्यथा देहादिक नाभिमन्यते तथा करोतीत्यर्थं ॥१७५॥

बन्धमोक्षहेतुत्व उपपादित निगमयति । तस्मादिति ।

तस्मान्मन कारणमस्य जन्तो

बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने ।

बन्धस्य हेतु मलिन रजोगुणे

मोक्षस्य हेतु विरजस्तमस्कम् ॥१७६॥

तस्मात् पूर्वोक्तहेतो अस्य जन्तो प्राणिन बन्धस्य मोक्षस्य च वा  
विधाने उत्पादने । मन कारण "मन एव मनूप्याणा" इति श्रुते ।  
एकस्य विरद्धद्वयहेतुत्वकथिताया आह रजोगुणै, प्रवृत्तय बहुविधा रज-  
वार्या इति बहुवचन । नानाविधतया वहिर्मुगत्वापादकं वामश्रो-  
त्रोमादि-रजोगुणैरिति वा अर्थ । मलिन क्लृप्तं मन बन्धस्य हेतु ।  
दुष्ट निर्मल, तत्र हेतुमाह विरजस्तमस्कमिति । रजमा तमसा च नितराहरित  
मन मोक्षस्य हेतुरित्यर्थ । अतो मनम एवत्येपि मुणभेदान् विरद्धद्वय-  
हेतुत्व पालभेदेन अविरुद्धमिति भाव ॥१७६॥

मोक्षहेतुतया मनसबुद्धि कथं संपादनीयेति शक्यामुत्तरमाह ।  
विवेकेति ।

विवेक-वैराग्य-गुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै ।  
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्ताभ्या दृढाभ्या भवितव्यमग्रे ॥१७७॥

विवेकश्च वैराग्यं च विवेकवैराग्ये ते एव गुणौ सफलप्रदधर्मा  
तयोरतिरेक अतिशय विवेकवाङ्मयं वैराग्ये तीव्रतरत्वं च । तस्मात्  
विवेकवैराग्यगुणातिरेकात् । ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येव निश्चये मिथ्या-  
वस्तुनि कामानुभयात् आब्रह्मलोकं वैराग्यं प्रकृष्यते । कामानुपहृतेरेव  
बुद्धिशब्दार्थत्वात् । तदुभयगुणयुक्तं मनः शुद्धत्वं निर्मलत्वं आसाद्य  
प्राप्य विमुक्त्यै बहिर्मुखत्वशून्यतया ऐदम्पर्येण ब्रह्मसत्यं आत्यंतिकबन्ध-  
निवृत्तये हेतुर्भवति । अतो विवेकवैराग्यातिरेक-विशिष्टमनसो विमुक्ति-  
हेतुत्वात् । बुद्धिमतः बुद्धिरस्यास्तीति बुद्धिमान् तस्य उपायपुत्रालस्येत्यर्थः  
मुमुक्षो मोक्षरूपफलेच्छावतः अग्रे आदौ ताभ्यां विवेकवैराग्याभ्यां  
दृढाभ्यां आशिशिलाभ्यां प्रकृष्यमाणभ्यां च भवितव्यम् उपायेच्छा  
प्रति फलेच्छाया कारणत्वात् । मोक्षच्छावान् पुमान् विवेकवैराग्ये आदौ  
प्रयत्नेन संपादयति चेत् फलमवर्जनीयमिति कथितं भवति ॥१७७॥

मोक्षार्थं मनो निर्विषयं कर्तुं विषयेभ्यः निवर्तयितुं विवेकवैराग्ये  
हेतुः उक्त्वा रत्ने यदि झिलाबुद्धिः जायते वा भयं ततः । समीचीनत्वधी-  
नेति नोपादेयत्वधीरपि । इति वस्तुविचारवत् भयस्यापि यतो भयं ततो  
निवृत्तिहेतुत्वात् तेषु भयमाह । मन इति । दयया भयोत्पादनद्वारा  
तेभ्यो निवर्तयति ।

मनो नाम महाव्यग्रं विषयारण्यभूमिगु ।

चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥१७८॥

विषयारण्यभूमिषु विषया एव अरण्यभूगम्यं अनेकानघंसकुलत्वात्  
“विषयास्तेषु गोचरान्” इति श्रुतेः च । तामु मनो नाम महाव्यग्रं  
मनस्सज्जक-चण्डपुण्डरीकं चरति सचरति । परानि खानीति श्रुते  
विषयप्रवणता मनसः स्वभावः निम्नभूमिगमनमिव जलस्य । ततः  
“वन्द्याय विषयासक्तः” इति श्रुते जीवस्य महान्नयस्संभवति ।

तदुक्तं गीतायाम् सगात्सजायते वाम वामात्त्रोषाभिजायते । नोवाद्भवति  
समोहः समाहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रमाद्वुद्धिनाशः बुद्धिनाशात्-  
प्रणश्यति " इति । अतः यः सायव सत्पुरुषा गमुक्षय गाक्षवक्षिण  
ते अत्र विषयारण्यभमिषु न गच्छन्तु मागमन् । विषयस्य मना निवर्तयन्तु  
मोक्षाय इत्थमिप्रायः । कश्चिद्धीर प्रत्यगान्मानमंक्षत् आयुत्तचक्षुरमृतत्व-  
मिच्छन् इति श्रुतेरिति भावः ॥१७८॥

न ह्यस्य विद्या मनसोतिरिक्तेत्युक्त उपपादयन् तस्य बन्धवत्  
विषयदयति मनः प्रमूत इत्यादिना चतुर्भिः ,

मनः प्रसूते विषयानुशेषान् स्थूलात्मना मूढमतया च भोक्तुः ।  
शरीरवर्णाश्रम-जातिभेदान् गुणक्रियाहेतु-फलानि नित्यम् ॥१७९॥

भोक्तुः जीवस्य जातदवस्थायाः स्थूलात्मना तत्तद्देवतानुगृहीत-  
तत्तदिन्द्रियजन्यानुभवः विषयतया स्थूलात्मना स्वप्नावस्थायाः इन्द्रियाणा-  
मुपरते मूढमतया कथलमाक्षिपेद्यतया च अग्नेपानं सर्वान् विषयान् भोग्य-  
पदार्थान् मनः प्रमूते उत्पादयति । ते विषया क इत्याकाशायामाह  
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान् शरीरं च वर्णाश्च आश्रमाश्च जातयश्च  
शरीरवर्णाश्रमजातयः तासां भेदाः प्रवागः तान् देवतार्यङ्गमनुप्यादि-  
शरीरतः प्राह्यण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्ररूपवर्णान् ग्रहचारि-गृहस्थ वानप्रस्थ  
सन्यास्याश्रमान् देवमनुप्यादि-शरीरं च देवत्वादिकातीत्यैव प्रसूते ।  
मुपुप्यादाः मनसोभावे एतेषां भेदानां अभावान्न भवति मनसा कल्पित-  
मेवेति भावः । एव गुणक्रियाहेतुफलानि गुणा इत्यादयः क्रिया उत्क्षेपणा-  
दयः हेतवः तत्तत्कार्यनिमित्तोपादानानि । फलानि घटादीनि तत्तत्कार्याणि  
एतत्सर्वं मनः एव नित्यं सदा प्रमूते । नान्यनिमित्तं इह मनसोभावे कस्याप्य-  
भावात् । तदेव सर्वस्य मलकारणमिति भावः । शरीरेत्यत्र भिद्यन्ते  
इति भेदा इति व्युत्पत्त्या वमधारयो वा ॥१७९॥

असगचिद्रूप-ममु विमोह्य देहेन्द्रिय-प्राणगुणैर्निबध्य ।

अहममेति भ्रमयत्यजस्र मनस्स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥१८०॥

मनः क्व असगचिद्रूप असया सर्वसगविधुरा या चित् अवच्छ-  
जान तदेव एष यस्य स असगचिद्रूपः तः अमु आत्मानः । देहेन्द्रिय-

प्राणगुणं. विमोक्ष स्ववास्तवरूप ज्ञातुसमर्थं कृत्वा तेज्ज्वेव देहेन्द्रिय-  
प्राणगुणेषु देहेन्द्रियप्राणेषु अहमिति तद्गुणेषु तद्धर्मेषु ममेति निबध्य ।  
अजस्रं सततं स्वकृत्येषु लोकिव-वैदिक-कर्मसु । फलोपभुक्तिषु तत्तत्कर्म-  
जन्यफलभोगेषु भ्रमयति ऊर्ध्वमधश्च नयति । “कुर्वते कर्म भोगाय कर्म  
कर्तुं च भुजते” इत्युक्ते । उक्तं हि श्रुत्या “आत्मानं चेद्विजानीयात्  
अयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु सज्जरेत्”  
इति । अतः विज्ञातस्वकासग-विदानन्दरूपं पुरुषं नैव किंचित्कामयते  
न वा कर्माणि करोति । ततः कर्तृत्वं वा भोक्तृत्वं वा देहेन्द्रियाद्यभिमान-  
निवन्धनम् । स चाभिमानं मनोमूलं सुषुप्तावदर्शनात् तदा मनसो  
लीनत्वात् । अतः स्वरूपसत्या अविद्याया मनो विना बन्धहेतुत्वा-  
भावात् सर्वबन्धहेतुत्वं मनस एवेति भावः ॥१८०॥

इदानीं तस्य बन्धद्वारा दुःखहेतुत्वमाह । अध्यासेति ।

अध्यासयोगात्पुरुषस्य समृतिः  
अध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः ।

रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो  
जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥१८१॥

रजस्तमोदोषवतः रजश्च तमश्च रजस्तमसौ ते एव दोषौ तावम्य-  
स्त इति तद्वान् तस्य रजस्तमोदोषवतः आवरणविशेषहेतुभूत-दोषद्वय-  
विशिष्टस्य अतः एव अविवेकिनः आत्मानात्मभेदज्ञानरहितस्य पुरुषस्य  
अध्यासयोगात् अनात्मस्वात्मबुद्धियोगात्, ममूतिः जन्ममरण-प्रबन्धा-  
विच्छेदः । समृतिहेत्यध्यासं मनोमूलं इत्याह अध्यासवर्णनं इति । अध्यास-  
रूपो यो बन्धः स तु सोपि, शरीरेन्द्रियादयः मनसा प्रसूयन्ते इति “मन-  
प्रसूते” इत्युक्तम् । इदानीं तत्र अध्यामोपि अमुनैव वक्ष्यते जनिता-  
इत्यपि ज्ञेयार्थः । ततः जन्ममरण-प्रबन्धाविच्छेद-लक्षण-ममूनिहेतुभूता-  
ध्यास-हेतुत्वेन । एतत् मन एव जन्मादिदुःखस्य जन्ममरण-जरा-रोगादि-  
जन्य-मल-विषदुःखस्य निदानं आश्लेषम् ॥१८१॥

अतः प्राहुर्मनोऽपि यथा पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।  
येनैव भ्राम्यते चिद्व्यं वायुनेवाग्न-मण्डलम् ॥१८२॥

तदुक्तं गीतासु "समात्सजायते वाम कामात्त्रयोधोभिजायते । योवाद्भवति  
समाहं समोहात्समृतिविभ्रम । स्मृतिभ्रशाद्वुद्धिनाशं बुद्धिनाशात्-  
प्रणश्यति " इति । अतः ये सावय सत्पुरुषा ममुक्षव मोक्षकाक्षिण  
ते अत्र विपर्ययरूपमपि न गच्छन्तु मागमन् । विपर्येभ्य मनो निवर्तयन्तु  
मोक्षाय इत्यभिप्रायः । कश्चिद्दीर प्रत्यगान्मानमंजत् आवृत्तचक्षुरमृतत्व-  
मिच्छन् इति श्रुतेरिति भावः ॥१७८॥

नह्यग्न्यविद्या मनसोतिरिक्तेत्युक्तं उपपादयन् तस्य वन्द्यवत्त्वं  
विशदयति मनः प्रसूत इत्यादिना चतुर्भिः ,

मनः प्रसूते विषयानशेषान् स्थूलात्मना मूक्षमतया च भोक्तुः ।  
शरीरवर्णाश्रम-जातिभेदान् गुणक्रियाहेतु-फलानि नित्यम् ॥१७९॥

भोक्तुः जीवस्य जाग्रदवस्थायां स्थूलात्मना तत्तद्देवतानुगृहीत-  
तत्तदिन्द्रियजन्यानुभव-विषयतायां स्थूलात्मना, स्वप्नावस्थायां इन्द्रियाणा-  
मुपरते मूक्षमतया क्वलराक्षिवेद्यतया च अशेषान् सर्वान् विषयान् भोग्य-  
पदार्थान् मनः प्रगृहेत् उत्पादयति । ते विषया के इत्याकाशायामाह  
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान् शरीरं च वर्णाश्च आश्रमाश्च जातयश्च  
शरीरवर्णाश्रमजातयः नामा भेदा प्रकारा तान् देवतार्यङ्गमनुप्यादि-  
शरीराणि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वंश्य-वृद्धरूपवर्णान् ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वानप्रस्थ-  
सन्यास्याश्रमान् देवमनुप्यादि-शरीरं च देवत्वादिजातीश्च प्रसूते ।  
मुपुप्यादी मगमोभावे एतेषां भेदानां अभावात् सर्वमिदं मनसा कल्पित-  
मेवेति भावः । एव गुणक्रियाहेतुफलानि गुणा शब्दादयः निर्या उत्क्षेपणा-  
दयः हेतवः तत्तत्त्वार्थनिमित्तोपादानानि । फलानि घटादीनि तत्तत्कार्याणि  
एतत्सर्वं मनः एव नित्यं सदा प्रसूते । नान्यनिमित्तं इदं मनसोभावे कस्याप्य-  
भावात् । तदेव सर्वमयं मूलवारणमिति भावः । शरीरेत्यत्र भिद्यन्ते  
इति भेदा इतिव्युत्पत्त्या कर्मधारयो वा ॥१७९॥

असगचिद्रूप-ममु विमोह्य देहेन्द्रिय-प्राणगुणैर्निबध्य ।

अहममेति भ्रमयत्यजस्रं मनस्स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥१८०॥

मनः कर्तुं असगचिद्रूपं असगा सर्वगविघ्नुरा या चित् अक्षय-  
ज्ञानं तदेव एष यस्य स असगचिद्रूपः तः । अमुं आत्मानं । देहेन्द्रिय-

प्राणगुणं विमोहा स्ववास्तवरूपं ज्ञातुसमर्थं कृत्वा तेष्वेव देहेन्द्रिय-  
प्राणगुणेषु देहेन्द्रियप्राणेषु अहमिति तद्गुणेषु तद्गर्भेषु ममेति निवध्य ।  
अजस्रं सततं स्वकृत्येषु लौकिक-वैदिक-कर्मसु । फलोपमुक्तिषु तत्तत्कर्म-  
जन्यफलभोगेषु भ्रमयति ऊर्ध्वमधश्च नयति । “कुर्वते कर्म भोगाय कर्म  
कर्तुं च भुजते” इत्युक्ते । उक्तं हि श्रुत्या “आत्मानं वेद्विजानीयात्  
अयमस्मीति पूरुष । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु सज्वरेत्”  
इति । अतः विज्ञातस्वकासन-चिदानन्दरूपं पुरुषं नैव किञ्चित्कामयते  
न वा कर्माणि करोति । ततः कर्तृत्वं वा भोक्तृत्वं वा देहेन्द्रियाद्यभिमान-  
नियन्धनम् । रा चाभिमानं मनोमूलं सुषुप्तावदर्शनात् तदा मनसो  
लीनत्वात् । अतः स्वरूपसत्या अविद्यायां मनो विना बन्धहेतुत्वा-  
भावात् सर्वबन्धहेतुत्वं मनस एवेति भावः ॥१८०॥

इदानीं तस्य बन्धद्वारा दुःखहेतुत्वमाह । अध्यासेति ।

अध्यासयोगात्पुरुषस्य समृति

अध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः ।

रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो

जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥१८१॥

रजस्तमोदोषवतः रजसश्च तमश्च रजस्तममौ ते एव दोषौ तावस्य  
स्त इति तद्वान् तस्य रजस्तमोदोषवतः आवरणविशेषहेतुभूत-दोषद्वय-  
विशिष्टस्य अतः एव अविवेकिनः आत्मानात्मभेदज्ञानरहितस्य पुण्यस्य  
अध्यासयोगान् अनारम्भात्मबुद्धियोगात्, समृतिः जन्ममरण-प्रवन्धा-  
विच्छेदः । समृतिहेत्वध्यासः मनोमूल इत्याह अध्यासग्रन्थ इति । अध्यास-  
रूपो यो बन्धः स तु सोऽपि, शरीरेन्द्रियादयः मनसा प्रसूयन्ते इति “मन  
प्रसूते” इत्यत्रोक्तं । इदानीं तत्र अध्यासोऽपि अमुनैव बन्धितः जनिनः  
इत्यपिशब्दायं । ततः जन्ममरण-प्रवन्धाविच्छेद-निराण-ममृतिहेतुमना-  
ध्यास-हेतुत्वेन । एतत् मन एव जन्मादिदुःखस्य जन्ममरण-जरा-रोगादि-  
जन्ममरण-विषयस्य निदानं आदिवारणम् ॥१८१॥

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।

येनैव भ्राम्यते विद्वन् वायुनेवाग्न-मण्डलम् ॥१८२॥



तत्त्वदर्शिन तत्त्व द्रष्टुं शीलं येषां ते । पण्डिता श्रुतवेदान्ता  
 पुरुषधोरिया । अतः ससृतिमूल-कारणत्वान्मनसं मन एव अविद्या प्राहुः  
 अविद्याकार्यत्वात् । केचन अविद्यायां समृतिहेतुत्वाभावाच्च । मन एवा-  
 विद्येति वक्ष्यते युक्तमिति बोधयितुं प्रेत्युपमर्गः । तत्र हेतुं येनैव मनसैव  
 विद्वत् सर्वजगत् सर्वे जीवा इति यावत् । भ्राम्यते अन्यथाग्रहणेन ऊर्ध्व-  
 मधश्च नीयते । तत्र दृष्टान्तं वायुनेवाभ्रमण्डलं, मेघसमुदायं वायुना  
 यथा सर्वांसु दिक्षु भ्राम्यते तथा ॥१८२॥

इदानीं मुमुक्षुजनवर्तव्यमाह । तदिति ।

तन्मनश्शोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।

विशुद्धे सति चैतस्मिन् मुक्तिं करफलायते ॥१८३॥

तत् पूर्वकथितकारणात् रजस्तमोदोषवत् पसं अक्षयान्द्वारा  
 समृतिहेतुरितिरूपात् । मुमुक्षुणा मोक्षेच्छायात् पुरुषेण प्रयत्नेन प्रकृष्ट-  
 यत्नेन मनश्शोधनं मनोगतं रजस्तमोरूपं दोषापनयनं कार्यं विधेयं ।  
 चकारो हेत्वर्थः यत इति । एतस्मिन् मनसि विशुद्धे रजस्तमोहीने  
 वैचल्यमत्प्रधाने भवितुं करफलायते करगणफलवत् मुष्टिं वेद्यां भवतीत्यर्थः  
 ॥१८३॥

मनश्शुद्धिहेतुं प्रयत्नप्रकारमाह । मोक्षेति ।

मोक्षैकसक्त्या विषयेषु रागं निर्मूल्यं सन्यस्य च सर्वकर्म ।  
 सच्छ्रद्धया यश्श्रवणादिनिष्ठो रजस्त्वभावसं धुनोति बुद्धे ॥१८४॥

मोक्षे एकस्मिन् सक्ति आसक्ति तीव्रमुमुक्षा तया, विषयेषु  
 देहादिषु रागं सुखजनवत्त्वभ्रान्त्या आसक्ति निर्मूल्यं अहंताभिरसनेन  
 परित्यज्य, सर्वकर्म निष्कामवभाषि नित्यनैमित्तिकानि च, मनस्य स्वहृष-  
 तोषि परित्यज्य । सच्छ्रद्धया मतिं कालत्रयावाधये ब्रह्मणि या श्रद्धा, मती  
 अचञ्चला वा या श्रद्धा गुरवेदान्तवाक्यविश्वासः तया यः पुमान् श्रवणादि-  
 निष्ठ श्रवण आदि ययो मनननिदिध्यासनयो तेषु श्रवणादिषु निष्ठो  
 नितरा स्थिति यस्य स श्रवणादिनिष्ठः स पुरुष बुद्धे रजस्त्वभाव रजस-  
 रवभीषं विक्षेप-तः । धुनोति चालयति नितरां नाशयतीति यावत् ।

देहादिषु रागसत्त्वे कर्म करोति कर्मराले विक्षेप । रागनिर्मूलनेन सर्वं  
वर्मत्यक्त्वा श्रवणादिभि अन्तर्निष्ठस्य श्रद्धालो बुद्धिविक्षेपस्य नैवावसर ।  
अतो विरक्तेन सन्यासिना श्रवणादिक श्रद्धया बुद्धिदोषनिवृत्तये कार्य-  
मित्युक्तं भवति ॥१८४॥

इदानीं मनोमयस्य अनात्मत्व निगमयति । मनोमय इति ।

मनोमयो नापि भवेत्परात्मा

ह्याद्यन्तवत्त्वात् परिणामिभावात् ।

दुःखात्मकत्वात् विषयत्वहेतो

द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्ट ॥१८५॥

मनोमयोपि परात्मा परमात्मा न भवदेत्यन्वयः । तत्र हेतवः  
संगृह्यन्ते आद्यन्तवत्त्वात् गुप्यन्ती न्यात् जाग्रदादौ उत्पत्तेरप्य आद्यन्तगत्य  
आत्मा न भवति एव परिणामिभावात् परिणामिन भाव परिणामिभाव  
विषयत्वत्वात् कामसंगत्याद्यात्मना परिणममानत्वात् अविवारी आत्मा  
न भवति । दुःख आत्मा स्वरूप यस्य दुःखात्मक तस्य भाव सत्त्व । अत एव  
निराध्यते बोध्यते च । अध्यासद्वारा सर्वदुःखहेतुत्व उपपादित । अत आनन्द-  
रूप आत्मा न भवति । विषयत्वमेव हेतु तस्मात् “अन्यत्र मना अभूव  
नाप्राप्तम् अन्यत्रमना अभूव नाथौष ” इति श्रुते । माक्षिणा विषयीक्रियत  
इति विषयत्वरूपहेतोश्च सर्वसाक्षी आत्मा न भवति । तदिदमाह  
द्रष्टाहोत्यादिना, हि यत द्रष्टा पश्यतीति द्रष्टा ज्ञाता य स दृश्यात्मतया  
विषयतया न दृष्ट न लोबसिद्ध इत्यर्थः । अत गर्वदा मनश्चिन्तित्यागे  
तदभावे च माक्षिणा सद्भावाभावयो ज्ञायमानतया वस्तुनूपमैविरोधात्  
स्वद्रष्टृत्वस्य स्वस्मिन् विरुद्धत्वाच्च दृश्य मन न द्रष्टृत्वस्य आमा  
इत्यनात्मत्व तस्य निश्चयम् ॥१८५॥

इदानीं विज्ञानमयत्वेन निरूपयति । बुद्धिर्गतिः ।

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियं मायं गच्छति यमैकक्षण ।

विज्ञानमयत्वेन मन्यात् पुन गमाग्रागणम् ॥१८६॥

बुद्धोन्द्रियं पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियं श्रोत्रादिभिर्गार्थं मह । मयूति  
 वृत्त्या निदध्यान्मिवया मह वनेन त्रिणि मयूति बुद्धिं वतुंलक्षणं वतुंलक्षणं  
 ज्ञानेच्छाद्विनिमत्तं यस्य म वतुंलक्षणं । विज्ञानमयसोऽयं म्यात् तत्तमजव  
 कोणो भवति । तस्य कार्यमाह पुन इत्यादिना पुन आत्मन समारकारण  
 'म ममानम्भुभो लोकास्तनुमचरति, मयी मयूति भूत्या ध्यायतीत्य  
 लेलापतीत्य' इत्यादिवृत्तिम्य तद्विज्ञानं तद्विज्ञानं तद्विज्ञानं तद्विज्ञानं  
 इति, निदध्यान्मिववृत्तिमत् बुद्धिर्गतिं वध्यते । तत्र मनस्य करणत्व  
 बुद्धेर्पतुंलक्षणं । निदध्यान्मिह वगति । अतः पूर्वापनेभाववत्त्वेन मनोबुद्धो  
 यद्विज्ञानमय इति मनागयानन्तरं बुद्ध्यात्मक-विज्ञानमयस्य पार्थक्येन  
 कथ्यते । नो चेत् पञ्चानां ज्ञानेन्द्रियाणां उभयपार्थक्येन तद्विज्ञान-  
 रिति बोध्यं । तस्माद्वा एतन्मात्मनोमयान् । अन्योन्तरं आत्मा विज्ञान-  
 मय ' इति श्रुतेऽप्य । तत्राप्ययमेवाभिप्राय ॥१८६॥

अनुब्रजन्निवप्रतिविब्रजन्ति  
 विज्ञानसज्ज प्रकृतेर्विकार ।

ज्ञानत्रियावान् अहमित्यजन्त्र  
 देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ॥१८७॥

भूतपञ्चकत्व-समष्टिकार्यत्वाद् बुद्ध स्वच्छन्त्या तत्र चिदवश्य  
 प्रतिनिवत इति अनुब्रजन् य चित्ते चिद्वृत्त्यः परमात्मन प्रतिनिव  
 जीव तस्य चित्तवर्तमानत्वरूपा यस्य भासकप्रतिविब्रजस्यापि भामकत्वान्,  
 प्रमिद्वि हि लोके दर्पणादिविद्यितमूर्त्यप्रतिविब्रजस्यापि मूर्त्यप्रवजायोम्यान्ध-  
 कारावृत्त-भूविब्रजादिगत-वस्तुभासकत्व इति । अनुब्रजन्निवप्रतिविब्रज-शक्ति  
 चिदनुप्रवेष्टाच्चिच्छक्तिविशिष्ट अत एव विज्ञानसज्ज विज्ञानमिति मया  
 यस्य म ' विज्ञानं यज्ज तनुते " इति श्रुते । प्रकृते मूलप्रवृत्ते अविद्याया  
 विचारं मूढमभूतपञ्चक-सत्त्वसमष्टिकार्यत्वात् मूढमभूतपञ्चकस्य अविद्या-  
 कार्यतया परंपरया अविद्याकार्यत्व अस्ति कोमस्य । ज्ञानत्रियावान् ज्ञान-  
 च त्रियात्मक त्रिया च विषयविचार ध्यान लोकांतरगमनादिरूपा ज्ञान-  
 त्रिये ते अस्य स्त इति ज्ञानत्रियावान् देहेन्द्रियादिषु उक्तं हि पूर्वं  
 "अन्तःकरणमेतेषु चक्षुर्गादिषु वप्सणि । अहमित्यभिमानं तिष्ठत्याभास  
 तेजसा" इति । अतः जीवस्य योभिमानं देहादी तस्य बुद्धिं विना

असंभवात् जीवत्वस्यापि बुद्ध्युपाधिनिवन्धनत्वात् अयं कोश एव  
आध्यासिकतादात्म्यापन्नतया जीवाभिन्नत्वेन विवक्षित इति अजम् सर्वदा  
जाग्रत्स्वप्नयो भूषण अत्यन्त बहुमित्यभिमान्यते । अहं मनुष्य स्थूल  
गच्छामि तिष्ठामि लब्ध्यामि अहं पश्यामि अहं शृणोमि अहमुच्छ्वसिमि  
निश्वासिमीत्यादिप्रकारेण तादात्म्याभिमानवान् भवतीति ज्ञानवत्वमुप-  
पादित ॥१८७॥

त्रिधावत्वमुपपादयति । अनादीत्यादिना ।

अनादिकालोपमहस्वभावो जीवस्समस्त-व्यवहारबोद्धा ।  
करोति कर्माण्यनु-पूर्ववासन पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥१८८॥  
भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु द्रजन् आयाति निर्यात्यथ ऊर्ध्वमेव ।  
अत्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्था मुखदुःखभोग ॥१८९॥

यद्यपि प्रकृतेर्विवार इत्युक्तत्वात् सादित्यं वक्तव्यम् । अद्यापि  
महाप्रलयेऽपि कारणात्मना अव्यक्ततया वर्तमानत्वात् पूर्ववर्तमानाश्रय-  
बुद्धेः अत्यन्तनाशे पुनः सृष्टेरनुपपत्तेः सृष्टिकार एव अनेन जीवेनात्मना  
इति परदेवतया नामरूपव्यापारणार्थं ईक्षणश्रुतेश्च आविदेहवैक्यस्य  
आत्यंतिकनाशो नास्तीति पुनः ससारकारणभूतया बुद्धेरपि अनादित्य  
अवश्यं वक्तव्यमिति तत्प्रयोज्य-देहेन्द्रियाद्यभिमानोऽपि स्वप्रागभावकालत्व-  
व्यापक-स्वसजातीय कवरूपानादित्यवान् भवति । अनादि काल  
यस्य अनादिकार इदमिदानीं आरब्धमिति वक्तुमशक्यत्वात् । अयं  
वेहेन्द्रियादिषु अहमितरवभाव अभिमान वासना यस्य स अहरवभाव  
इति श्रुते लौकिक-वैदिकसर्वव्यवहारवर्ती । तदुपपादयति अनुपूर्वयामन  
अनुगता पूर्ववासना यः स अनुपूर्ववासन 'त विद्यावर्मणा समन्वारभजे  
पूर्वप्रज्ञा च' इति श्रुते "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापं पापेन"  
इति च श्रुते । पुण्यानि शास्त्रविहितानि अपुण्यानि तन्निषिद्धानि विहित-  
निषिद्धान्यानि उदासीनानि भोजनस्वापादीनि च करोति । भोजनं  
वर्जितं । तत्फलानि तेषां श्रुतविहित-निषिद्धकर्मणां फलानि । विचित्रां  
देवतियङ्मनुष्यादिचतुरशीति-रूपाग्रमेदामु योनिषु द्रजन् भुङ्क्तेऽपि पुनः

दुःखानुभवभाववत्यपि । तदयं अयं नरवादी आयाति आगच्छति,  
ऊर्ध्वं मृगादीं नियाति नियच्छति एष जीव इत्यथ । अहं जायमि अहं  
स्वयमि अहमभ्याप्त अहं मुमी दुःखीत्यादिरीत्या आत्मनि प्रतीयमान  
धर्मा सर्वेऽपि एतत्तादात्म्यामिमानादिति निधमवमान्मान इना विवेचयति ।  
अभ्यैव विज्ञानमयस्य जाणस्वप्नावस्था आदिपदेन मुपुत्तिसमाधि  
परिग्रहः । मुखदुःखभोग अनुभव भोग ॥१८९॥

देहादिनिष्ठाधम धमकम-गुणाभिमान सतत ममति ।  
विज्ञानकाशायमत्तिप्रकाश प्रकृष्टसन्निध्य वशात्परात्मनः ।  
अतो भवत्यप उपाधिरस्य यदात्मघो समरति भ्रमण ॥१९०॥

देहादीति । आदिपदेन चक्षुरादीन्द्रिय प्राणपरिग्रहः । तन्निष्ठा  
य आश्रमा बहुचर्यादय धर्मा मनुष्यत्वं राक्षसत्वादय कर्माणि  
स्थितिगयादीनि शैबिकानि मनोच्चारणादीनि बहिरङ्गानि गुणा  
हृस्वत्यबोधत्वादय सोमण्यवगुण्यादयो वा एतेषु मनत ममत्यभिमान  
आत्मप्रतिफलनानुब्रिद्धा बुद्धि इन्द्रियेषु प्राणेषु देहं च मवध्यमाना  
तदीयधर्मानात्मयारोपयति । स्वता जडाया अप्यस्या चेतनवदेवन्वित्यतो  
निमित्तमाह परात्मनः चेतनश्चेतनाना इति श्रुत्या कवर्गनिमलसग  
चित्रपम्य परमात्मनः प्रकृष्टसन्निध्यवशात् परमसुखनिष्पक्षप्रतिफलन  
महिम्ना अयं विज्ञानबोण बुद्धिरूपकोश अतिप्रकाशः । इतरेषु इन्द्रियेषु  
साक्षाच्चतय-सवधाभावादियमिप्रायः । अतः प्रकृष्टसन्निध्यस्य  
सत्वात् अस्य आत्मनः एष कोश उपाधि जीवइति भवदहं भवति ।  
वक्तव्यं भोक्तृत्वं निवासभूत जीवत्वधर्मधियं मल्लहं । यदात्मघो  
यस्मिन्नुपाधौ आत्मघो अहमिति मतिमान भ्रमण भ्राया ससरति  
वक्तव्यादिदुःखमनुभवति ॥१९०॥

तदेवोपपादयति । योयमित्यादिना निनि ।

योयं विज्ञानमय प्राणेषु हृदिस्फुरत्स्वयज्योतिः ।

कूटस्थस्सजात्मा वर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थ ॥१९१॥

पापाण चूष इतिवत् मामीप्यसन्तमी । प्राणेषु चक्षुरादिसमीप ।  
एतेन अहमिति प्रतीतिविषयत्वस्य बहुषु सत्वात् वक्तव्यं आत्मा इति

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्या

जनकप्रश्नोत्तरवाक्ये “प्राणेषु” इति पदेन प्राणशब्दबोधितेन्द्रिय-मुग्ध-प्राणत्व-मात्मनो नास्तीति कथितं भवति । प्राणसामीप्य बुद्धेरप्यस्ति अतः व्यावर्तयति हृदिस्फुरत्स्वयज्योतिरिति हृदयपुण्डरीकावच्छिन्नबुद्धौ प्रकाश-मान पराप्रकाश्य यज्ज्योति चैतन्य सर्वाविभासका तद्रूप योय विज्ञानमय आमोक्ष द्युद्धधा न विना भूयतेऽनेनति तत्प्रचुरत्वात्तन्मयत्व । स्वार्थं मयद्वा विज्ञानस्वरूप इत्यर्थः । इन्द्रगात्मा कूटस्थ कूटवसिष्ठतीति कूटस्थ अयोधनवत् निर्विकार सप्तपीति अपिशब्दो योजनीय । उपाधिस्य उपाधौ ज्ञानश्रियावत्या बुद्धौ तादात्म्येन आविर्लकेन वर्तमान कर्ता भोक्ता भवति यथा स्फटिके लौहित्य भ्रमात् तथा ॥१९१॥

तदेवस्फुटयति । स्वयमिति ।

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धे

तादात्म्यदोषेण परं मृपात्मनः ।

सर्वात्मकस्सन्नपि वीक्षते स्वयं

स्वतः पृथक्त्वेन मृदोघटानिव ॥१९२॥

मृपात्मन मिथ्यास्वरूपवत्या बुद्धे, तादात्म्यदोषेण परं केवलं न तु स्वतः इत्यर्थः स्वयं परिच्छेदं अल्पत्वं उपेत्य प्राप्य स्वयं सर्वात्मक-स्मन्नपि इदं सर्वं यदयमात्मा ” ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ इत्यादिभ्युते । अक्षुशलमिति मृदं पक्वगी घटानिव यथा मृदुपादानवतया तदव्यतिरिक्तान् घटान् पृथक्पश्यति भिन्नत्वेन वीक्षते तथा मर्षोपादानतया स्वव्यतिरेकेण वरपाप्यभावेपि स्वतः पृथक्त्वेन भेदेन वीक्षते अहं स इदं त्वं इत्यादिभेद-बुद्धिमात्राभवतीत्यर्थः ॥१९२॥

इममर्थं निर्विकारस्य भविवारस्य सूक्ष्ममन् आत्मा ” इत्यनेन च गदुष्टान्नं वक्ष्यति । उपाधीति ।

उपाधिसम्बन्धवशात्परात्माप्यु-

पाधिधर्माननुभाति तद्गुणः ।

अयोधिवारानविराग्विद्विषन्

मदेव रूपोपि परं मयभायान् ॥१९३॥

अयोविकारान् अयम. विकाराः अयोविकारा. दीर्घत्व-वर्तुलत्वादयः  
तान् अविकारिवर्तुलिवत् वस्तुतः तादृशधर्मदून्ध-वर्तुलिव अयमि दीर्घं  
दीर्घां वर्तुलिव वर्तुले वर्तुल इति आम्यन्ति लोके। तथा परमात्मापि  
परमात्मापि उपाधिसंबन्धवशात् स्वप्रकाशेनापि उपाधिना अविद्यया  
कल्पित य. तादात्म्यरूपमवन्ध-तद्वशात् उपाधिधर्मान् कर्तृत्वभोक्तृत्वादीन्  
“ ध्यायतीव लेखायतीव ” इति श्रुते, बुद्धौ ध्यायन्त्या ध्यायतीव लेखायन्त्या  
चलन्त्या चलतीव इत्यर्थं श्रुते। अनुमृत्य तद्गुण उपाधिधर्मवानिव भाति  
अहं करोमि मुखौ दुःखीत्यादिप्रकारेण। वस्तुतः मदा स्वभावात् स्वकीय-  
सन्निधानस्वरूपतः परं नित्यगुण-बुद्धमुक्तस्वभावः। अतः एकरूपोपि  
विकारदून्धोपीति पूर्वं योजनीयः। प्रकाशके चक्षुः दृष्टान्ते परमात्मनि  
च दृष्टान्तिके मवेप्रकाशके विकारदून्धत्वेन एकरूपत्व समान ॥१९३॥

शिष्य उवाच ।

भ्रमेणाप्यन्यथावास्तु जीवभाव परात्मन ।

तदुपाधेरनादित्वात् नानादेर्नाश इष्यते ॥१९४॥

अतोस्य जीवभावोपि नित्यो भवति संसृतिः ।

न निवर्तते तन्मोक्ष. कथं मे श्रीगुरो वद ॥१९५॥

‘परात्मन’ असंसारितया सर्वोत्कृष्टस्य परमात्मन जीवभावः  
जीवत्व भ्रमेण वा भ्रान्त्या वा अन्यथापि वा वस्तुतो वा अस्तु तदुपाधेः  
जीवभाव. येनोपाधिना उच्यते तस्य उपाधेः विज्ञानमयकोशस्य “ अनादि-  
कालीयमहस्वभाव जीव ” इत्युक्ततया अनादित्वात् आत्मन इव अनादेः  
नाश. कस्यापि नेष्यते अतः जीवभावप्रयोजकलोपाधेरनादित्वात् नाशा-  
संभवाच्च अस्य परात्मन. जीवभावोपि नित्यो भवति न नश्यति संसृतिः  
जीवभावनित्यत्वे नित्येति न निवर्तते नैव नश्येत् सत् तस्मात् मोक्ष. कथं  
मे मम संसारनिवृत्तिः कथं श्रीगुरो वद उपदिश ॥१९५॥

श्रीगुरुस्वाच ।

सम्यक्पृष्टं त्वया विद्वन् सावधानेन तच्छृणु ।

प्रमाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना ॥१९६॥

## श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

हे विद्वन् बुद्धिमन् त्वया सम्यक्पृष्ट । तत् पृष्ट यद्वस्तु तत्  
सावधानेन विषयान्तर-संचाररहित-मनसा शृणु श्रुत्वावधारयेत्यर्थः ।  
‘भ्रान्त्या मोहितकल्पना मोहोऽस्य सजात मोहित मोहश्च प्राप्तज्ञाय-  
मानताक-वस्तुन, ज्ञानाभाव तामस धर्मः । वस्तुतः निर्मलज्ञानस्वरूपत्वेपि  
अज्ञानजनितभ्रान्त्यादूढोभूतया मोह पूर्वोक्त तद्विशिष्टस्य पुरुषस्य या  
कल्पना स्वस्य असंसारिणोऽपि सत्सारित्वकल्पना सा प्रामाणिकी न भवति  
यथार्था न भवति प्रमाणसिद्धा न भवतीत्यद्वयाराध्यं । अमप्रयोज्यमोह-  
मूलकत्वात् मुग्धस्य सम्यग्ज्ञानासम्पत्त्वात् ॥१९६॥

भ्रान्तिं विना त्वसगस्य निष्क्रियस्य निराकृते ।  
न घटेतार्थसंबन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥१९७॥

तुरवधारणार्थं नत्रा सवध्यते । असगस्य वस्तुतः सगशून्यस्य  
“असगोह्य पुरुष ” इति श्रुते सुपुष्पावनुभवाच्च । निष्क्रियस्य  
निर्विकारस्य “निष्कल निष्प्रिय” इति श्रुते “अव्यक्तोपमचिन्त्योय  
अविनायोपमुच्यते” इति स्मृतेश्च । निराकृते ‘न तस्य कार्यं करणं च  
विद्यते, अस्थूल अणु” इत्यादि श्रुते । भ्रान्तिं विना स्थूलसूक्ष्म-कारण-  
शरीरेषु तादात्म्याभिमानं विना अर्थमवस्थं दृश्यसंबन्धं नैव घटेत् । नभस-  
गगनस्य असगस्य निष्क्रियस्य निराकृते नीलतादिवत् । उक्तं हि ‘अप्रत्यक्षे  
पिह्वाकाने बालास्तलमलिनतादात्म्यस्यन्ति” इति भाष्ये । अविवेचिन-  
गगनमपि नीलं पीतं इन्द्रनीलकटाह इति वक्ष्यन्ति इति गगनस्य यथा  
नीलत्वादिकं अप्रामाणिकं न घटेत् तथेत्यर्थः । एव परमात्मन्यपि जीव-  
भावः अप्रामाणिक इति भावः । नहि वक्ष्यनामात्रात् गगनं नीलादिरूपं  
भवति एव प्रकृतेऽपि इति बोध्यम् ॥१९७॥

तदेव स्फुटयन् ससारनिवृत्तिमुपपादयति द्वाभ्या आत्मन-  
यास्तविवस्वरूपं श्रुतिसिद्धं विद्वदनुभवसिद्धं च वक्ष्यति । तत्र जीवस्य  
मिथ्यात्वमिदमे । स्वस्येति ।

स्वस्य द्रष्टुर्निगुणस्याप्रियस्य  
प्रत्ययबोधानन्दरूपस्य बुद्धेः ।

भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न मत्तो  
मोहापाये नान्यवस्तु ग्यभावान् ॥१९८॥



द्रष्टु साक्षिण निर्गुणस्य केनापि धर्मेण रहितस्य अनियस्य  
निष्क्रियस्य विकारशून्यस्य प्रत्यग्बोधानन्दरूपस्य सर्वान्तर यो बोध  
स प्रत्यग्बोध सचासावानन्दश्च प्रत्यग्बोधानन्द स एव रूप यस्य  
स प्रत्यग्बोधानन्दरूप तस्य स्वस्य आत्मन बुद्धे भ्रान्त्या तादात्म्याभि  
मानन प्राप्त कल्पित जीवभाव न सत्य अवाध्य न भवति ।  
स्वम्बरूपविषयकसाक्षात्कारे भ्रान्ते नाग्रन वाच्यत्वात् । तदेवाह मोहापाये  
श्रुत्याचार्योपदेशजनित-तत्त्वमाक्षात्कारण अज्ञाननाशे तज्जनितभ्रान्ते-  
रभावात् तदभावं मोहस्य दूरपलायितत्वात् तस्य अपाय अवस्तु  
यत्कल्पित तत् स्वभावात् स्वधर्मेन कल्पनाविषयत्वेन नास्ति । यद्वा  
स्वभावात् कल्पिताना मोहापाय अप्रतीयमानतया नास्ति त्वस्य स्वभावात्  
अयमेव स्वभाव आरोपिताना वस्तुना भ्रान्त्यभावे पूर्ववदप्रतीयमानत्वम्  
इत्यर्थं ॥१९८॥

पूर्वदलोकचतुर्थं-यादायंमुपपादयति । यावदिति ।

यावद्भ्रान्तिस्तावदेवाम्य सत्ता

मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात् ।

रज्ज्वा सर्पो भ्रान्तिबालीन एव

भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोस्ति तद्वत् ॥१९९॥

परमस्य मिथ्यात्व यन् कारण विशिनष्टि मित्यति । मिथ्या-  
ज्ञानोज्जृम्भितस्य मिथ्याभूत अधिष्ठानमाक्षात्कारनिवर्त्य यदज्ञान-  
तस्मादुज्जृम्भितस्य सजनितस्य अस्य अवस्तुन प्रमादात् अधिष्ठाना-  
रोप्याविवेकात् । यावद्भ्रान्ति विपरीतज्ञान तावदेव सत्ता अस्तित्वेन  
प्रतीयमानत्व । तत्र दृष्टान्त रज्ज्वा सर्प रज्ज्वाज्ञानात् रज्ज्वाक्षात्कार-  
वाच्यात् प्रमादात् पुरोव्यक्ती नाय सर्प इतिविवेकाभावात् उज्जृम्भित  
भ्रान्तिबालीन एव यावत्पर्यन्त अय सर्प इतिभ्रान्ति तावदेव अस्तित्वा-  
प्रतीयते । नाय सर्प पितु रज्ज्जुरिति विशेषदग्ने भ्रान्ते अय सर्प-त्या-  
वारिखाया नाने वाध नैव सर्पोस्ति । तद्वत् अह ब्रह्माहमीति माक्षात्कार-  
पर्यन्त मूलाज्ञानजनित प्रमादात् ममारित्वभ्रान्ति वस्तुतः ससार वशापि  
नास्त्येव । रज्ज्वा सर्प इव पूर्वं भ्रान्त्या प्रतीयते स्म । ज्ञाते च ज्ञाने

यथार्थं न प्रतीतिरपि तस्येति केवलं ब्रह्मात्रमवशिष्यते स्वरूपसाक्षा-  
त्कारस्य अज्ञानतत्कार्य-सकलनाशकत्वात् "अविष्टानावशेषो हि नाश  
कल्पितवस्तुनः" इतिप्रमाणात् ॥१९९॥

एतावतापि तदुपाधेरनादित्वाद्यानादेर्नाश इष्यते इत्यस्य  
स्पष्टमुत्तरमलभमानमिव शिष्य ज्ञात्वा तदेवानुद्य समादधाति श्रोगुह  
साधंश्लोकद्वयेन । अनादित्वमिति ।

अनादित्वमविद्याया कार्यस्यापि तथेष्टते ।

उत्पन्नाया तु विद्याया आविद्यकमनाद्यपि ॥२००॥

प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ।

अनाद्यपीदं नो नित्यं प्रागभाव इव स्फुटः ।

अनादेरपि विध्वंसं प्रागभावस्य बोधित ॥२०१॥

यद्युक्तं त्वया उपाधरनादित्वमिति तत्तथैव अविद्याया कार्यस्यापि  
विज्ञानमयकोशस्य तथा अविद्याया इव अनादित्वं इष्यते । अविद्याया  
एकरूपत्वात् विचित्रसृष्टं विचित्रोपाधिविबन्धनत्वात् सर्वसमस्य परम-  
कृपालो ईश्वरस्य विचित्रकर्माश्रय-बुद्धिरूपाध्यपेक्षाया आवश्य-  
कत्वात् बुद्धेरपि तत्कारणभूताया अनादित्वमकामनाप्यधीनतय्य इति-  
भावः । इदानीं तस्य निवृत्तिमाह विद्याया उपनिपज्जन्त्या अविष्टान-  
साक्षात्काररूपामा प्रमाया उत्पन्नाया सत्यामिति शेषः । सुशब्दं पक्ष  
व्यावर्तयति अनादेर्नामो नास्तीतिरूपम् । आविद्यकं अविद्याप्रयोज्यं ।  
अनाद्यपि सृष्ट्यादिव्यवहारसिद्ध्यर्थं अनादित्वेनागोचृतमपि प्रबोधे निद्रा  
त्यक्त्वा जागरे प्राप्ते स्वप्नवत् सहमूलं विनश्यति । न केवलं स्वयमेव  
स्वस्य मूलभूता शार्चयिषा तया सह मूलभूतनिद्रया सायं स्वाप्तिवन्तु-  
जातमिव जागरे सर्वं विनश्यति । तेजस्तमसोरिव विज्ञानविद्ययोरेव  
साक्षाद्विरोधं तया निद्राजागरयोः । अविद्याया विद्याया नाशिताया  
"तत्र सो मोहो बन्धोऽहंकारश्चैव तन्मयः" इत्युक्तं "यत्र स्वस्य मयमात्मैवाभूत्  
तत्तत्रैव न श्येत्" "यत्र नान्यत्पश्यति नायच्छृणोति नान्यद्विजानाति  
रा भूमा" इत्यादिभूत्वा तादात्म्यमविद्याया ममारुतेत्वविद्याया ममूत्राण  
रहितान् मूर्तेरिदमेव ब्रह्मैवावेव अविद्यायायंम्यं ब्रह्मादेर्नाशं तर्हि

भाव । नहि निद्राया नष्टाया तत्कालप्रतिपन्नसुषुप्तुखादिव जायत ।  
 तथा सम्यग्ज्ञानवत नाज्ञानकालिष्वसत्कारित्व निमित्तापायात् । अनादेरपि  
 नाशोऽस्ति इत्यत्र परमतरोक्त्या दृष्टान्तमाह अनाद्यपीति । उद अविद्या  
 तत्कार्यं च अनाद्यपि आदिग्रहितमपि नो नित्य नैव नाशाप्रतियोगि  
 इतिस्फुट । यथा ताविकै उत्पत्तिर्नित्यत्वेन अगोत्रियमाणोऽपि तत्प्रति-  
 योगिनि कार्यजाते नश्यतीत्यगीक्रियते एव प्रवृत्तमपि । यद्यपि अनादि-  
 भावस्य नाशो नास्तीति दृष्टान्ते प्रागभावे वैषम्यमापादयितुं शक्य-  
 अविद्यातत्कार्यस्य अभावरूपत्वाभावात् तथापि प्रागवस्थायाम् भावरूपतमा  
 तत्रैव कार्यानिव्यक्त्यनन्तर-मदृश्यमानाया उक्तार्थस्य वक्तुं शक्यत्वात्  
 ताविकैरपि प्रागभावनिरूपणावसरे "तथाप्यस्तु कश्चिदतिगिन पदार्थ  
 तथापि तस्य सप्रतियोगिकत्वे मानाभाव' इति स्वीकाराच्च । नाभायो  
 विद्यते सत" इति गीतावचनात् । विनागिना अविद्यातत्कार्याणां गत्व-  
 रूपभावत्वस्य अनाद्यव्यक्तत्वाच्च । श्रुत्यनुरारेण अविद्यादिक अनादिदेन  
 स्वीकुर्यता लोकप्रसिद्धेनादरणीयत्वाच्च इति दिक् । कस्मिंश्चन पदार्थे  
 उत्पत्तिशून्यत्वस्य नाशाप्रतियोगित्वस्य च शास्त्रमन्तरा ज्ञातुमशक्यत्वाच्च  
 दृष्टान्तभूतात्मनि तादृशत्वस्य शास्त्रेणैव ज्ञातत्वाच्च "जीवेनावाभावेन  
 परोति" "मायाज्विद्या च स्वयमेव भवति" इत्यनूदित्वस्य भूयश्चान्ते  
 विश्वमायानिवृत्ति " इतिनाजस्य च अविद्यादौ श्रुत्यैवावगमितत्वाच्च  
 नान सक्षयप्रसक्ति । एतावत काल अज्ञातमिव इदानीं ज्ञात इतिभ्यव-  
 हारात् कदा अज्ञातमिति प्रश्नाभावात् अज्ञानानादित्वस्य ज्ञानात-  
 क्षागम्य च अनुभवमिदत्वाच्च । अनादिभावत्वस्य आत्मनोऽन्यत्र कुत्राप्य-  
 भावादिति सर्वमनाकुलम् । कार्योत्पत्ते प्राक् कार्यसमवायिकारणे इह  
 कपाले षटे नास्तीति व्यवहारसाक्षि अभाव प्रागभाव इत्युच्यते ।  
 स च षटे उत्पत्ते नश्यति अत अनादेरपि उत्पत्ते प्रागनादितया स्थितस्य  
 कार्योत्पत्त्यनन्तर प्रागभावस्य विध्वसा बोधित तथा ज्ञानोत्पत्तौ  
 अज्ञान अनाद्यपि नश्यति । नष्टे तस्मिन् तत्कार्यं कुतस्त्यमिति  
 भाव ॥२०१॥

उपाधेर्निवृत्तौ औपाधिकस्य जीवत्वस्यापि निवृत्तिमाह ।  
 यदित्यादिना द्वाभ्याम् ।

यद्बुद्ध्युपाधिसवन्धात् परिकल्पितमात्मनि ।

जीवत्व न ततोऽन्यत्तु स्वरूपेण विलक्षणम् ॥२०२॥

आत्मनि परमात्मनि बुद्ध्युपाधिसवन्धात् बुद्धिरेवोपाधि बुद्ध्युपाधि  
तस्य सवन्ध आज्ञानिकतादात्म्य तस्मात् परिकल्पित यत् जीवत्व मिथ्या-  
भूत तत् अन्यत् सत्यभूत, स्वरूपेण असंसारित्वादिरूपेण विलक्षण भिन्न  
नन्तु नैवेत्यर्थः ॥ भ्रमेणाप्यन्यथा वास्तु जीवभाव परात्मन इति शिष्ये-  
णोक्तत्वात् अन्यथावास्तु इति वास्तविक जीवत्व यथा सुधामा हरिद्रायाश्च  
योगे रक्षिता वास्तुतया इत्यभिप्रेत्य प्रस्तव्य कृतत्वात् तमभिप्राय  
निरसितु आत्मनि बुद्ध्युपाधिसवन्धयथात् यत्परिकल्पित जीवत्व तद्विना  
स्वरूपेण विलक्षण ततोऽन्यथास्तीत्युक्त श्रीगुरुणा ॥२०२॥

“असंगो ह्ययं पुरुष” इति श्रुत्या अवस्तुभूत एव सवन्ध बुद्ध्या सह  
तस्य वक्तव्य इत्याह । सवन्ध इति ।

सवन्ध स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरस्सरः ।

विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ॥२०३॥

स्वात्मन निरवयवतया सयोगादेवंक्तु-मशक्यत्वात् सयोगस्यले  
परस्परधर्मस्य परस्परसिगन् प्रतीत्यभावाच्च । अयोन्योऽस्य सयोग-  
समवेपि धर्मो बहति बह्निर्दीर्घ इति व्यवहारस्य परस्पराध्यासेनैव  
उपपाद्यमानत्वात् बुद्ध्यात्मनो कर्तृत्वचैतन्यादिधर्माणां प्रतीयमानानां  
अन्योन्याध्यासमूलवत्त्वस्यैव वक्तव्यतया धर्मितादात्म्याध्यास धर्माणा-  
मध्यासे कारणमित्याध्यासिततादात्म्यमेव मिथ्याभूताज्ञानमूलक बुद्ध्या  
ज्ञान सवन्ध इति भावः । तस्य अज्ञानमूलकस्य सवन्धस्य सम्यग्ज्ञानेन  
विनिवृत्तिर्भवेत् रज्जादौ प्रतीत-मपतादात्म्यस्य रज्जुप्रमया वाघदर्शनात् ।  
नान्यथा आज्ञानिवनिवृत्तौ प्रवासान्तर नास्तीत्यर्थः । मिथ्याज्ञानपुरस्सर  
इत्यत्र मिथ्या च तदज्ञान च मिथ्याज्ञान तत्पुरस्सर पूर्वमायि गम्य इति  
विग्रहे मिथ्याज्ञानमूलकत्व लभ्यते सवन्धस्य । मिथ्याज्ञानपदेन भ्रमा-  
परपर्यायस्य अध्यासस्य परिग्रहे स पुरस्सर पूर्व घटश्च यत्र इत्यर्थेन  
आध्यासिक-तादात्म्यरूपसवन्धे पूर्वमध्यासस्य घटवत्त्वात् मन्वन्ते तद्विनोपपन्न  
योजनीयम् । अयं द्वयमणि मुखवम् ॥२०३॥

भ्रमप्रमादादि-दोषदूषितै पुरुषै इदमेव सम्यज्ज्ञानमिति ज्ञातु-  
मशक्यत्वात् निर्दोषथृत्यनुसारेण सम्यज्ज्ञानं दर्शयति । ब्रह्मेति ।

ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानं सम्यज्ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ॥२०४॥

ब्रह्म च आत्मा च ब्रह्मात्मानौ तयोरेकत्वं भेदाभावः तस्य विज्ञानं  
अनुभवः सम्यज्ज्ञानं इति श्रुतेर्मतम् । "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि"  
"अयमात्मा ब्रह्म" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्"  
'स यश्चायं पुरुषः' यश्चासावादित्ये । स एकः । 'एष त आत्मा  
अन्तर्याम्यमृतः' 'एष त आत्मा सर्वान्तर नान्योतोऽस्ति द्रष्टा नान्यो-  
तोऽस्ति श्रोता नान्योतोऽस्ति मन्ता नान्योतोऽस्ति विज्ञाता । स वा एष महानज-  
आत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यादि श्रुतिभ्यः  
जीवब्रह्म-भेद निराकरणात् ॥२०४॥

तत्र हेतुगाहः । तदात्मेति ।

तदात्मानात्मनो सम्यग्विवेकेनैव सिध्यति ।

ततो विवेकः कर्तव्यः प्रत्यगात्मासदात्मनो ॥२०५॥

तत् सम्यग्विज्ञानं आत्मानात्मनो आत्मा च अनात्मा च जात्येव-  
वचनं आत्मानात्मानौ तयोरात्मानात्मनो सम्यक् विवेकेन निरक्षीरवत्  
विभेदग्रहणेनैव सिध्यति । भेदग्रहे अध्यासव्यापनस्य भेदाग्रहस्य अमभावात्  
तदभावे भ्रमरूपस्य अध्यासस्य व्याप्यस्य अभावात् तदभावे विशेषग्रहण-  
मन् बहिर्मुखत्वग्रहणं सत् श्रवणमनननिदिध्यासनं सर्वान्तरं ब्रह्म साक्षा-  
त्करोतीति भावः । ततः विवेकस्य सम्यज्ज्ञानहेतुत्वात् । प्रत्यगात्मा-  
सदात्मनो असन् मिथ्याभूत आत्मा असदात्मा प्रत्यङ् सर्वान्तर आत्मा  
परमात्मा प्रत्यगात्मा च अमदात्मा च प्रत्यगात्मासदात्मानौ तयो विवेक-  
श्रुत्याचार्यदत्तयुक्त्या पृथक्तया ज्ञानानुबूलव्यापार मननरूपः कर्तव्यः  
॥२०५॥

तथाकृते तस्य स्फुटमानं सदृष्टान्तमाह । जलमिति ।

जलं पक्वदस्पाष्टं पकापाये जलं स्फुटं ।

यथा भाति तथात्मापि दोषाभावे स्फुटप्रभः ॥२०६॥

पकमस्यास्तीति पकवत् पकिल जल अस्पष्ट विजातीयेन पार्थिवेन पकेन मिथितत्वात् । पकापाये पकस्यापाये तत् उद्धृत्यापनयने जल स्फुट इतरामिथ्य शुद्ध यथा भाति तथा आत्मापि परमात्मापि दोषाभावे स्फुटप्रभ स्फुटा प्रभा प्रकृष्टा भा प्रभा असंख्यचेतन्यप्रकाश यस्य स स्फुटप्रभ 'सलिल एको दृष्टा' इत्यादिश्रुते निर्मलजलवत् अनात्मा-विषयकतया भासत इत्यर्थः ॥२०६॥

तदेव स्फुटयन् अनात्माविषयकतया भानार्थं प्रयतितन्यमित्याह । असन्निवृत्ताविति ।

असन्निवृत्तौ तु सदात्मन स्फुटप्रतीतिरेतस्य भवेत्प्रतीच ।  
ततो निरास करणीय एवासदात्मन साध्वहमादिवस्तुन ॥२०७॥

यत् एतस्य समीपतरवर्तिन प्रतीच सर्वान्तरस्य सदात्मन काल-त्रयेष्वबाध्यस्य आत्मन परमात्मन स्फुटप्रतीति इतरामिश्रणेन भान असन्निवृत्तौ तु असता अक्षमयादीना अनात्मना निवृत्तौ तु निवृत्तावेव भवेत् नतु तेषामपि प्रतीयमानत्वे । तत् तस्मात् कारणात् असदात्मन असन् मिथ्या आत्मा स्वरूप यस्य स असादात्मा तस्य अहमादिवस्तुन अह अहकार आदिर्यस्य तदहमादि तच्च तदस्तु अहमादिवस्तु तस्य अहकारादिदेहान्तस्य आत्मत्वेन भ्रमविषयतया स्वरूपावरकस्य साधु यथा इत् पर अहतास्पदतया न प्रतीयते तथा निरास प्रतिकोषा नायमात्मेति दृढतमविवेचनेन निरास बाध करणीय एव । उक्तं हि पूर्वं "पचानामपि स्वयज्योति" इति । सर्वथा मुख्यतामय जन इति बहुप्रकारे उपदिशति करणानिधि श्रीगुरु । तत्र दोषालावृत्तजल दृष्टान्ततया कथित । अत्र विजातीयपकमिथ्य तत् सर्वप्रकारे अनात्मभेदस्य प्रतीचि सिध्यर्थम् ॥२०७॥

इदानीं विज्ञानमयस्य अनात्मत्व निगमयति । अत एति ।

अतो नाय परात्मास्यात् विज्ञानमयशब्दभाक् ।  
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुत ।

दृश्यत्वाद् व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते ॥२०८॥

अतः वक्ष्यमाणहेतुस्य विकारित्व-जडत्व परिच्छिन्नत्व-दृश्यत्व-  
व्यभिचारित्व-रूपस्य विज्ञानमयशब्दभाक् विज्ञानमय इति शब्द भजत  
इति विज्ञानमयशब्दभाक् अयं कोऽयं परात्मा मूल्यात्मा न स्यात्  
मरुतोयवत् आभासमात्र-सत्ताश्रयत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् । "नित्यो  
नित्याना" इत्यादिश्रुते, "नित्यत्वाच्च ताव्य" इति सूत्रेण  
नित्यमुक्त्यन्वयिरवयवकत्वा च नित्य आत्मा विकारित्वादिहेतुभि  
अनित्य विज्ञानमयकोश नैप्यते । विज्ञानमयकोश आत्मभिन्न विकारि-  
त्वात् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वात् दृश्यत्वात् व्यभिचारित्वात् स्थूलदेहवत्  
इतिप्रयोगः । हेतुवादूल्य अनात्मत्वदाह्यायैम् । एतावत्सु हेतुषु मत्स्वपि  
तत्र मोहादात्मत्व कल्पितमिति पौनःपौन्येन गृहविधत्तया अनात्मत्व  
द्रवनीयमिति वैभवम् । तत्र विचारित्व जन्मानागतत्वं जडत्वं अस्व-  
प्रकाशत्वं, परिच्छिन्नत्वं असर्वगतत्वं, दृश्यत्वं चिद्विषयत्वं व्यभिचारित्व  
अभावप्रतियोगिव इति भद ॥२०८॥

इदानीं आनन्दमयकोश निरूपयति । आनन्देति ।  
आनन्दप्रतिबिम्ब-चुम्बिततनु वृत्तिस्तमोजृम्भिता

स्यादानन्दमय प्रियादिगुणक स्वेष्टार्थलाभोदय ।  
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूप स्वयं

भूत्वानन्दति यत्र साधु तनुभून्मात्र प्रयत्न विना ॥२०९॥

आनन्दस्य परमात्मस्वरूपानन्दस्य प्रतिबिम्ब प्रतिफलन तेन चुम्बिता  
ध्याप्ता तनु शरीर स्वरूप यस्या वृत्ते सा आनन्दप्रतिबिम्ब चुम्बिततनु ,  
तमोजृम्भिता तमसा अविद्यया जृम्भिता जनिता अविद्यापरिणामरूपा वृत्ति  
आनन्दमयकोश स्यात् । स्फुटतया तं बुद्धावारोहयति प्रियादिगुणक  
इति । "तस्य प्रियमेव शिर मोदो दक्षिण पक्ष, प्रमोद उत्तर पक्ष, आनन्द  
आत्मा, ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा" इतिश्रुत्या दृष्टवस्तु-दर्शन-लाभ भोगजन्य-  
सुखविशेषावयवक प्रियादि प्रमोदान्त गूण अवयव यस्य स इति विग्रहः ।  
तस्य वादाचित्कत्वमाह स्वेष्टेति । स्वस्य दृष्ट स्वेष्ट स चासावर्थश्च  
स्वेष्टार्थं पुत्रमित्रादि शब्दादिर्वा तस्य लाभे, लाभ इत्युपलक्षण दर्शन-  
भोगयो । तदा उदय उत्पत्ति यस्य स कोऽयं स्वेष्टार्थलाभोदय । वृत्तिना

घोमता पुण्यस्य प्रावृत्तस्य फलोन्मुखस्य अनुभवे फलानुभवकाले विभाति विशेषेण भाति । तमेवार्थं स्पष्टयति यत्र यस्मिन्काले तनुभूतमात्र सर्वोपि दारीरीप्रयत्न विना तात्कालिक-प्रयत्न विना इत्यर्थं पुण्यस्यानुभव इति पूर्वप्रयत्नस्य हेतुकृतत्वात् । स्वयमानन्दरूप भूत्वा यदा आनन्दरूपः भूत्वा साधु नन्दति तदा आनन्दमयकोशेन योग अवगन्तव्य इति भावः । यक्षमति च "देहप्राणेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः । यैर्वैवृत्तेस्समा-योगः तत्तद्भूतोस्य योगिनः" इति । तथा च पुण्यवशात् सुखाकारा जायन्तेस्त्वयस्यो स भवन्ती तामसी वृत्ति आनन्दमयकोश इत्युक्तं भवति । तस्यापि स्वरूपावर्तकत्वमस्त्येव । न हि तद्योगे निरामय सुख नित्य निरुपाधिकं सुज्ञानम् । अत एव "न प्रहृष्येत्प्रिय प्राप्य" "आत्मानं हर्ष-लोकाभ्यां वाग्भ्यामिव नापयेत्" इत्युक्तं दृष्टो धर्ममतिक्रामति । "हर्षमिर्गमयोद्वेगे मुक्तो यस्स च मेप्रिय" इत्यादिप्रमाणैः हेयत्व तस्य । अत्र पुण्यशब्देन काम्यकर्मजन्यमपूर्वं ग्राह्य "मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतं पुण्यं विना लभ्यते" इति "वर्म अशुक्लाकृष्ण योगिनः त्रिविध-मितरेषाम्" इति "वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि । अदृष्टाद्वा सङ्गदभ्यास-तत्कारसन्ध्याद्भवेत्" इत्यादिना योगज-पुण्यस्य ज्ञानद्वारा अनावृत्तानन्दाभिव्यजकत्वं आनन्दावगन्तसोभजकत्वं इति तादृशानन्दस्य कोशत्वाभावात् तदा तमोजुम्भितत्वाभावात् वृत्तेरिति बोध्यम् ॥२०९॥

तामसी गुहाकारवृत्ति आनन्दमयकोश इतिकृत्वा सुपुप्ती तस्य उत्कटत्वं दर्शयति तदानीं पुण्याजन्यस्य स्वरूपसुखस्यैव अविद्यावृत्ति-विषयत्वात् प्रत्यह आरब्धपुण्यस्य एव दैनदिनप्रलयरूप-सुपुप्तिर्भवत् । उक्तं हि सूत्रभाष्ये "अदृष्टमपि भोगप्रसिध्यर्थं न प्रलयप्रसिध्यर्थमिति" ।

आनन्दमयकोशस्य सुपुप्ती स्फूर्तिरुत्फटा ।

स्वप्नाजागरयोरीपदिष्टसदृशनादिना ॥२१०॥

उत्कटा अधिका स्फूर्ति स्फुरण सुपुप्ती आनन्दमयकोशस्य, तदा सुखस्य दुःखासभित्त्वादिति भावः । तथाप्यज्ञानेनावृत्तत्वात् न मुख्यानन्द-रूपत्वम् । स्वप्नजागरयो ईप्सु स्वत्या स्फूर्ति इष्टसदृशनादिना आदिपदेन लाभभोगपरिग्रहः । तदा भित्तविषयकवृत्तिभिः अस्या वृत्ते नास्मान्नात्वात् सुपुप्ती वृत्त्यतयाभावात् उत्कटत्वमिति भावः ॥२१०॥



तस्याप्यनात्मत्वं वदति । नैवेति ।

नैवायमानन्दमय परात्मा मोषाधिकत्वात् प्रकृतेर्विकारात् ।  
कार्यत्वहेतो मुकृतन्याया विकारसंघात-समाहितत्वात् ॥२११॥

अयमानन्दमय परात्मा मृग्यात्मा नैव । तत्र हेतव मोषाधिकत्वात्  
मतिमित्तत्वात् इत्यर्थं टाटमदमंनादिजन्यन्यान् प्रकृते मूलप्रवृत्ते-  
रविद्याया विकारात् शिवारत्त्वान् इत्यर्थं तमोजुगितवृत्ते तथात्वात् ।  
मुकृतन्याया पुण्यकर्मण कार्यत्वहेता कार्यत्वात् । 'पुण्यस्यानुभवे  
विभाति' इत्युक्ततया मृगाकारविद्यावृत्तेरपि जागर्ग्वज्जन्वाविद्याया  
पुण्यजन्यत्वात् । विकारमघात-समाहितत्वात् प्रियादिगुणक इत्यनेन  
"तस्य प्रियमेव शिर" इत्यादिश्रुत्या दर्शन-रूपभोग-जन्य-मुक्त्वावयव  
ममुदापसजनितत्वात् । पुण्यवशात् इष्टार्थदर्शन लाभे च तमोभिधमखोद्भव  
जायमाना वृत्ति गुणाकारा अहं सुखीतिरूपा एव भोगे 'कौन्योस्मि  
सदृशोमया यद्वै दास्यामि मोदिष्ये' इत्यादिरूपा उत्तुप्यमाणा तस्या  
पुण्येष्टविषयादिविकारजन्यत्वादिति वा अर्थं ॥२११॥

कोदापचक-विवेकानन्तर-कृत्यमाह । पचानामिति ।

पचानामपि कोशाना निषेधे युक्तित कृते ।

तन्निषेधावधि साक्षी बोधरूपोवशिष्यते ॥२१२॥

पचानामपि कोशाना निषेधे प्रतिकोश नायमात्मा इति निषेधे  
निराकरणे सति, तन्निषेधावधि तद्वाधाधिष्ठानभूत साक्षी यत्पर्यन्त  
निषेध स अवधि सोमा इति यावत् । साक्षी साक्षित्वोपलक्षित ।  
बोधरूप नैवर्तनिर्विषयज्ञानस्वरूप अवशिष्यते ॥२१२॥

स एव मृग्यात्मेति श्रेय इत्याह । योयमिति ।

योयमात्मा स्वयज्योति पचकोशविलक्षण ।

अवस्थात्रयसाक्षी सन्निविकारो निरञ्जन ।

सदानन्द स विज्ञेय स्वात्मत्वेन विपश्चिता ॥२१३॥

य अवशिष्यते अयमात्मा इति पूर्वश्लोकेन सवन्ध । उपशमव-  
वाक्यतया परमात्मनिरूपणमुपसहरति । "अस्ति कश्चित्त्वय नित्य अह-

प्रत्ययलबन । अवस्थात्रयसाक्षी सन् पञ्चकोशविलक्षण " इत्यादिना उपक्रान्त एतावता कोशपञ्चयनियमेन तद्विलक्षणतया उपपादित जाग्रदादि-साक्षी अवाध्य विकारशून्य निर्लेप सदा आनन्दस्वरूप स विपरिचिता विवेककुशलेन स्वात्मत्वेन स्वस्वरूपतया विज्ञेय येष्वात्मत्व कल्पित तेषा निरासे कृते तदधिष्ठान " ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठेति " श्रुत्या बोध्यमान पर ब्रह्मैव वास्तवस्वरूप । अत एवोक्त श्रुत्या असंशय स भवति, असद्-ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेन ततो विदुरिति इति । ब्रह्माण स्वस्वरूपत्वे तदसदिति वेद चेत् स्वस्यासत्त्व तस्यान्यत्वे स्वेनात्मत्वेन ज्ञाताना कोशाना निरासे नैरात्म्यमेव प्रसज्येत इत्यर्थः ॥२१३॥

शिष्य उवाच ।

मिथ्यात्वेन निपिद्धेषु काशेष्वेतेषु पञ्चसु ।

सर्वाभाव विना किञ्चित् न पश्याम्यत्र हे गुरो ।

विज्ञेय किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनात्र विपरिचिता ॥२१४॥

स्पष्टोर्थः ॥२१४॥

श्रीगुरुवाच ।

सत्यमुक्त त्वया विद्वन् निपुणोऽसि विचारणे ।

अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यय ॥२१५॥

सर्वे येनानुभूयते यस्त्वय नानुभूयते ।

तमात्मान वेदितार विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया ॥२१६॥

हे विद्वन् त्वया सत्यमुक्त यथाज्ञात कथित । विचारणे निपुणोऽसि पूर्वमुञ्चाज्जतया प्रतीतस्य सर्वस्यापि यथा नभान तथा पिचारस्य वृत्तत्वात् इति श्लाघया तद्बुद्धिमुत्लास्य वक्तव्य सूक्ष्ममाह अहमादौति । ते पूर्वमनुभूता अहमादिविकारा अय इदानी अयं तदभावोऽपि पूर्व-प्रतीताना सर्वेषा अभावोऽपि । एते सर्वे येनानुभूयते पूर्वमनुभूता तादात्म्येन इदानी पृथक्तया तदभावो वा अनुभूयते । य स्वय नानुभूयते त वेदितार सर्वसाक्षिण सुसूक्ष्मया बुद्ध्या एनाग्रया अनन्यविषयकया बुद्ध्या आत्मान विद्धि जानीहि ॥२१६॥

तदेवोपपादयति स्फुटतया ज्ञानाय । तत्साक्षिकमिति ।

तत्साक्षिक भवेत्तत्तदद्यद्येनानुभूयते ।

कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्व नोपपद्यते ॥२१७॥

यद्यत् येनानुभूयते अनुभवविषयीक्रियते तत्तत् स साक्षी यस्य तत् तत्साक्षिक भवेत् । त्वया सर्वाभाव विना किञ्चिन्नपश्यामीत्युक्तत्वात् सर्वाभाव त्व पश्यस्योति सिद्ध भवति । त्वया दृष्ट स अभाव त्वत्साक्षिक इति तत्साक्षी स्व आत्मेति भाव तत्र हनुमाह अननुभूतार्थे स्वकीयानुभवा- विषये अर्थे कस्यापि पुरुषस्य साक्षित्व नोपपद्यते अकर्तृत्वे मति बौद्धपुरुषस्यैव साक्षित्वात् ॥२१७॥ सामान्यत उक्त्वा प्रकृते त्वाह । असाविति ।

असौ स्वसाक्षिको भावो यतस्त्वेनानुभूयते ।

अत पर स्वय साक्षात् प्रत्यगात्मा नचेतर ॥२१८॥

असौ अहमादिसर्वविकाराणा अभाव स्वसाक्षिक । स्व स्वय साक्षी यस्य स स्वसाक्षिक । तत्र हेतु यत यस्मात्कारणात् स्वेन पचाना कोशाना निषेधेन अवशिष्टेन स्वेन अनुभूयते । तत्र सर्वाभाव विना किञ्चिन्नपश्यामीत्युक्तरेव भाव सर्वाभाव विना किञ्चिन्नपश्यामीत्युक्तौ सर्वाभाव पश्यामीत्युक्तमेव भवति इति तस्याभावस्य दर्शनविषयस्य, तव द्रष्टृत्व अत प्रत्यगात्मा स्वय साक्षात् नित्यापरोक्ष "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इति श्रुते पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म इतरो न च ब्रह्मभिन्न नवेत्यर्थ ॥ ॥२१८॥

उक्तमर्थं रूपं विस्तरेण कथयति । जाग्रदिति ।

जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु स्फुटतर यासौ समुज्ज्वलभते

प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यत स्फुरन्नेकधा ।

नानाकारविकार-भाजिन इमान् पश्यन्नहधीमुखान्

नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति त विद्धि स्वमेत हृदि ॥२१९॥

प्रत्यग्रूपतया सर्वान्तरतया सदा एकधा एकस्मिन् अहमहमिति अनिदन्तया स्फुरन् स्वय प्रकृतमान अहधीमुखान् अहवारप्रमुखान्

## श्रीविवेकचूडामणि मन्त्राख्य

देहान्तान् कोशान् नानाकार-विकारभाजिन नानाविधा ये आकारा  
 अवयव-संस्थानविशेषा ते च विकारा जन्मस्थितिविपरिणामवृष्ट्य-क्षय  
 नाशरूपा ये नाना बहव विकारा तान् भजन्त इति नानाकारविकार-  
 भाजिन तान्, अहंकारस्याप्यन्त करणपदवाच्यस्य देहाद्याकारेण परिणम-  
 मानत्वात् नानाकारत्वं बोध्यम् । इमान् दृश्यपदार्थान् पश्यन् विषयीकुर्वन् ।  
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु सफलप्राणिसिद्धासु तिसृष्वप्यवस्थासु, स्फुटतर  
 अतिस्फुट योसौ अविवेचिन विप्रकर्षादिदशस्वप्रयोगः । समुज्जृम्भते  
 पर्दनिरपेक्ष भासते । नित्यानन्दचिदात्मना स्वयंप्रकाशनित्यानन्दस्वरूपेण  
 हृदि स्फुरति तमेतं अविबुधा दूरमपि विदुषा प्रत्यक्तया प्रत्यासन्नतर  
 स्त्र स्वात्मानं विद्धि जानीहि ॥२१९॥

एव सर्वसाक्षितया स्फुटस्य कुतस्तया विविक्ततया अग्रहणमिति  
 पाकाया मौढ्यमेव मूलमिति सद्गुणान्माह । घटोदके इति ।

घटोदके विवितमर्कविवम्

आलौक्यमूढो रविमेव मन्यते ।

तया चिदाभासमुपाधि-सस्य

भ्रान्त्याहमित्येव जटोभिमन्यते ॥२२०॥

मूढ घटोदके घटान्तर्वर्तिजले विवित प्रतीयमान अर्कविव सूर्यमण्डल  
 प्रतिविव आलौक्य दृष्ट्वा रविमेव मन्यते । न तस्य तत्र सूर्यं भिन्न  
 भयतु तत्प्रतिविव इति ज्ञानं, तथा उपाधिमस्य उपाधिषु युष्मादिषु  
 प्रतीयमान चिदाभास चित्प्रतिविव भ्रान्त्या अविवेकेन अहमित्येव  
 अभिमन्यते भ्राम्यति विपरीतं प्रतिपद्यते इत्यर्थः ॥२२०॥

यस्तुतस्तु

घट जल तद्गतमर्कविव

विहाय सर्वं दिवि घोष्यते ।

तटस्थितस्तत्प्रितयावभासव

स्वयंप्रकाशो विदुषो यथा तथा ॥२२१॥

घटमिति । घट जल, तद्गत घटगतजलगत अर्कविव मूर्त्यप्रतिविव सर्व विहाय । तदस्थित उदासीन, नीनेतान् अतिरिच्य वर्तमान । तत्र हेतु तत्प्रत्ययावभासक घट-तद्गत-जलतद्गत-प्रतिविवरूप-वदाय-त्रयप्रकाशय । स्वयंप्रकाश स्वेतरबहिर्ज्योतिरनवभास्य यथा अर्थ मूर्त्यं विवि वीक्ष्यते अन्तरिक्षे अवलोक्यते तथा ॥२२१॥

देह धिय चित्प्रतिविवमेत  
विसृज्य बुद्धौ निहित गुहाया ।  
द्रष्टारमात्मानमखण्डबोध  
सर्वप्रकाश सदसद्विलक्षणम् ॥२२२॥

नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म  
अन्तर्वेहिज्जन्यमनन्यमात्मन ।  
विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेतत्  
पुमान्विपाप्मा विरजा विमृत्यु ॥२२३॥

देहमिति । देह घटवदवस्थित स्थूलदेह धिय स्वच्छतया सूक्ष्मतया च जलवत्तदन्तर्गता बुद्धि, गुहाया आवाकत्वेन अनेकानयसकुलाया गुहा-सदृश्या बुद्धौ निहित न एत भ्रान्त्या अहमिति प्रतीयमान चित्प्रतिविव विसृज्य त्यक्त्वा । पूर्ववत् तदस्थित तत्प्रत्ययावभासक द्रष्टार सर्व-साक्षात् आत्मान सर्वान्तर । अखण्डबोध अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूप अत एव सर्वप्रकाश सर्वस्य प्रकाश यस्मात् त । सदसद्विलक्षण सत् प्रत्यक्ष तेज आप अन्न च । असदप्रत्यक्ष प्रायुराकाश च । एद्विलक्षण तद्भिन्न व्यक्ताव्यक्तमितमिति वा अर्थ । नित्य कालपरिच्छेदमून्य विभु दैरा-परिच्छेदमून्य सर्वगत सर्वोपादानतया अन्वयिन । अथापि सुसूक्ष्म रूपादिरेहिततया दुर्ज्ञेयम् 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्सा न प्रकाशते' इति श्रुते । अन्तर्वेहिज्जन्य 'अनन्तरमवाप्तमिति' श्रुते । आत्मन अनन्य न अन्य अनन्य आत्मन ब्रह्मण भेदरहित 'अयमात्मा ब्रह्मोति' श्रुते पूर्वोक्तयुक्तेश्च । यदा अनन्य न विद्यते अन्य यस्मात् स अनन्य अद्वितीय इत्यर्थं तम् । आत्मन निजरूप वास्तविकस्वरूप विज्ञाय एतन् । पुमान् पूर्वमन्यथा ज्ञातवान् मय एव पुमान् विपाप्मा विगतपाप 'ज्ञानाग्नि

सर्वकर्माणि " इत्यादिस्मृते । तत्र हेतु विरजा निर्गुणब्रह्मनिष्ठतया तत्स्वरूपतया च तापहेतुरजश्चूय पापपद पुण्यस्याप्युपलक्षक तस्यापि बन्धकत्वेन मुमुक्षोरनिष्ठत्वात् अत एव जन्मनिमित्तकमंशून्यतया विमृत्यु-  
मृत्युसहितससार-रहित इत्यर्थः । स्वरूपव्यतिथून्य इति यावत् । भवतीति शेषः । " प्रमाद यै मृत्युमहं व्रवीमि " इति सनत्सुजातोक्ते ॥२२३॥

अत एव

विशोक आनन्दधनो विपश्चित्  
स्वयं कुतश्चिन्न विभेति कश्चित् ।

नान्योस्ति पन्था भवबन्धमुक्ते  
विना स्वतत्त्वावगम मुमुक्षो ॥२२४॥

विशोकं निर्दोषं अत एवानन्दधन आनन्द एवधन मूर्ति यस्य स आनन्दधन निरामयानन्दस्वरूप इत्यर्थः । विपश्चित् सर्वज्ञ इत्यर्थं सर्वोत्तमब्रह्मवितात्, स्वयं कुतश्चित् न विभेति द्वितीयाभावात् । अतः मुमुक्षो नित्यनिरतिशय-निरामयस्वयंप्रकाश-मुखरूपमोक्षेच्छुवत् स्वतत्त्वावगमं विना स्वभावात्प्राप्त्यावबोधं विना भवबन्धमुक्ते पन्था अन्यं पश्चित् नास्तीत्यन्यथ ॥२२४॥

एव त्वपदार्थ अवस्थाप्रयसाक्षित्वेन पञ्चयोरान्विलक्षणत्वेन असगत्वेन विशोध्य सप्रपञ्चत्वेन ज्ञात तत्पदवाच्यार्थं परिगोच्य तयोरैक्यं सर्वोपनिष-  
त्तात्पर्यविषयीभूत सप्रदायानुसारेण विस्तरेण वदन् पातनिवामत्त्वमिति ।  
ब्रह्मेत्यादिना ।

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।

येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्मं संपद्यते बुधः ॥२२५॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं अहंब्रह्मास्मीत्यपरोदानुभवः भवमोक्षस्य समारम्भोक्तौ कारणं येन विज्ञानेन अद्वितीयं निर्भेदं आनन्दं मुक्तस्वरूपं ब्रह्मं बुधः संपद्यते प्राप्नोति भवतीति वा अर्थः "ब्रह्मविदाप्नोति" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः । "अगतो मा मद् गमय मृत्युर्वा अमृतं मद् गमय" इति श्रुतेः । "अगतो मा मद् गमय मृत्युर्वा अमृतं मद् गमय" इति श्रुतेः । "अगतो मा मद् गमय मृत्युर्वा अमृतं मद् गमय" इति श्रुतेः ।  
एव मोक्षः ॥२२५॥

सद्वितीयत्व रज्ज्वा । यदि जगदादे परमार्थत्व सदा भासेत तदभावात् न  
वस्तुत्व । तदाह सम्यक्परतत्त्वयोधमुदशाया इति । इदानी अन्यथा अविवक्षा  
ज्ञातत्वात् सम्यगिति । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिश्रुत्या परतत्त्वविषयक-  
सम्यग्ज्ञानं यदा तस्या शोभनायामवस्थाया । हि यस्मात् अन्यत्किंचि-  
न्नास्ति अतः स्वभिन्नवस्त्वभावात् इव सत् परमाद्वैतमित्यन्वयः ॥२२८॥

अज्ञानायस्थायामपि ' तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ' इतिन्याय-  
निर्णीतं प्रपञ्चस्य ब्रह्माव्यतिरेकमाह यदिदमित्यादिना ।

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।

तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभायनादोपम् ॥ २२९ ॥

अज्ञानात् नानारूपं सकलं विश्वं यत् इदं प्रतीतं कल्पितं तत्सर्वं  
प्रत्यस्ताशेषभायनादोपं अशेषाश्च ता भावनाश्च अशेषभायना तद्रूप  
दोपं प्रत्यस्तं निरस्तं यस्मात् तत् प्रत्यस्ताशेषभायनादोपं सकलकल्पना-  
रूपदोपशून्यं ब्रह्मैव ॥२२९॥

तदुपपादयति मृदित्यादिना सदृष्टान्तम् ॥

मृत्कार्यभूतोपि मृदो न भिन्नं कुम्भोस्ति सर्वं न तु मृत्स्वरूपात् ।  
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भं कुतो मृदा कल्पितनाममात्रं ॥२३०॥

मृत्कार्यभूतोपि मृदुपादेयोगि कुम्भं मृदो भिन्नो नास्ति सर्वत्र तु मूले  
अग्रे पाश्चैर्गोर्वा सर्वत्रापि मृत्स्वरूपात् मृदभिन्नत्वात् पृथुपृष्णोदराद्यावार-  
विशेषविशिष्टा मृदेव कुम्भइत्युच्यते न कुम्भरूपं पृथगस्ति मृदपव्यतिरेकेण  
कुम्भस्य रूपं नीलादिव नास्ति मृदावारव्यतिरेकेण कुम्भस्वारारो  
पश्चिदावारः । " वाचारभण विचारो नामधेयः " इतिभूत्या मृदावल्पित-  
नाममात्रं कुम्भः । तुतः तस्माद्वैतो पृथगस्ति मृद्रूपभिन्नरूपं नास्ति  
मृदावारव्यतिरिक्तारारो नास्ति । कुम्भ इतिमात्रं परं कल्पितं । तापता  
एव एष देवदत्तं मातृचित्तमृत्पादं प्रसारितहस्तपादद्वयं यदा न गच्छते  
तदहं कुम्भापि मृद इत्यपि ॥२३०॥

रसुटप्रतिपत्त्यर्थं पुनरुपपादयति । नेनापीत्यादिना ।  
केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूप घटस्य सदशयितु न शक्यते ।  
अतो घट कल्पित एव मोहात् मृदेव सत्य परमार्थभूतम् ॥२३१॥

केनापि पुराणेण ग्रहणापीति वा । घटस्य स्वरूप मृद्भिन्नतया  
सदशयितु न शक्यते यत अतो घट मोहात् भिन्नतया कल्पित एव । मृदेव  
सत्य परमार्थभूत घटशब्दस्य मुरवार्यभूतम् मृत्तिकेत्येव मर्यामिति  
श्रुते आदावन्ते च वर्तमानत्वात् ॥२३१॥

एव मृदुघटदृष्टान्तेन उपादानव्यतिरेकेण उपादेय कार्य नास्ती-  
त्युक्त्वा घाट्टान्तिके तदाह । सद्ब्रह्मोति ।

सद्ब्रह्मकार्यं सकल सदैव

सन्मात्रमेतन्नततोऽन्यदस्ति ।

अस्तीति यो वक्ति न तस्यमोहो

विनिर्गतो निदितवत्प्रजल्प ॥२३२॥

सत्रा यद् ब्रह्म तस्य कार्यं सकल विषयादि सदैव यदापि ब्रह्मैव ।  
परमते सत्पदानादिकार्यं घटादि भिन्नमपि सदैवोच्यते । नद्ब्रह्मेत्याह  
सन्मात्रमेतत् यथा घटो मृदेव एव विषयादि ब्रह्मैव न ततोऽन्यदस्ति ।  
तत्तदुपादेयस्य तदुपादानव्यतिरेकेणासत्त्वात् सर्वोपादानत्वात् ब्रह्मण  
तदव्यतिरेकेण किमपि नास्तीत्यर्थः । अत एव श्रुतौ मृत्तिकेत्येव सत्यमिति  
ज्ञापदेन योगः । मूष्मय सर्व सत्य चेत् मृत्तिकेत्येव मृत्तिनात्वेन सत्य  
न स्वरूपत इत्यर्थः । एव मृद तदुपादानरूपेण तस्या पचीकृतभूत-  
कार्यत्वात् तदव्यतिरेकेणाभाव इति तद्रूपेण सत्यस्य । “यदाग्ने रोहित  
रूप तेजसस्तद्रूप, यच्छुक्ल तदपा यत्प्लवण तदन्नस्य, अपागादग्नेरग्निव,  
वाचारम्भण विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य” इति श्रुत्यनुसारेण  
तेषां भूतानां अपचीकृतभूतरूपेण पृथक्करणे पृथिव्या अद्रूपेण अपा  
तेजोरूपेण तस्य वायुरूपतया तस्य विद्यत्वेन तस्य सत्त्वेन इति मद्रूपब्रह्म-  
भिन्नतया किमपि सत्य नास्तीति सन्मात्रमेतदित्युक्तम् । ततोऽन्यत्रास्तीति  
तदेव स्पष्टीकृतम् । एव स्थितेऽपि अस्तीति यो वक्ति ब्रह्मभिन्नतया



विषदादिकं जगत् अस्तीति यो ब्रवीति तस्य मोहं भ्रमं अज्ञानं वा न  
विनिर्गन्तं गच्छेत् नाभूत् निद्रितवत् निद्रितस्येव प्रजल्पं यथा सुप्त  
अनन्वितायकं किंवा किंवा असवद्वदति तद्वत् विचारजन्यज्ञानमन्तरा  
कथंन उपादानव्यतिरेकेण कार्यमस्तीति ॥२३२॥

छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेण कथितं अयं गतिसामान्याय आपर्वणिकश्रुत्या  
आह । ब्रह्मैवेदमित्यादिना ।

ब्रह्मैवेद विश्वमित्येव वाणी

श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा ।

तस्मादेतद् ब्रह्ममाणं हि विश्वं

नाधिष्ठानाद् भिन्नतारोपितस्य ॥२३३॥

श्रौती सामान्यतः वैदिकीति, विशेषत आह अथर्वनिष्ठेति । अथर्व-  
निष्ठा अथर्ववेदभट्टकीभूता अथर्वस्य ब्रह्मज्येष्ठपुत्रनिष्ठा वा श्रौती  
वैदिकी अत्यन्तवरिष्ठा वाणी ब्रह्मैवेद विश्वमिदं वरिष्ठ इतिहपा, इदं  
विश्वं सत्यं जगत्, ब्रह्मैव नातिरिक्तमित्येव एवकारेण पूषक् सत्ता निपिध्य  
ब्रूते यस्मात् तस्मादेतत्सर्वं ब्रह्ममाणं विश्वं । हि विश्वं आरोपितस्य  
कल्पितस्य अधिष्ठानाद् भिन्नता न । एतेन अज्ञानादेरनादे ब्रह्मोपादानक-  
त्वाभावात् भिन्नत्वशका परास्ता ॥२३३॥

एवं श्रुत्या प्रपञ्चसत्यत्वनिरस्य युक्त्यापि तदनुसारिण्या निरस्यति ।  
सत्यमिति ।

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽ

नतत्त्वहानि-निगमा-प्रमाणता ।

असत्यवादित्वमपीशितुं स्यात्

नेतत्रय साधु हितं महात्मनाम् ॥२३४॥

एतत् जगत् परिदृश्यमानं विश्वं यदि सत्यं अकल्पितं स्यात् आत्मनो  
जननत्वहानि अन्योन्याभावाप्रतिषेधयोग्यत्वात् यन्मुपनिच्छेदशून्यत्वं न स्यात्  
अकल्पितेन जयता यन्मुमतेन परिच्छिद्यमानत्वात् । हीयतामनन्तत्वमिति

चेत् निगमाप्रमाणता "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति" वेदस्य वाधितार्थ-  
बोधकता स्यात् । इष्टापत्तिरिति चेत् ईशितुरपि परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य  
परमेश्वरस्य असत्यवादित्वं अयथार्थवक्तृत्वं स्यात् । तदपि भवत्विति चेत्  
महात्मना आस्तिकानां इत्यर्थः । महानात्मा येषां श्रुत्याचार्योपदेशेन  
परिच्छिद्य पञ्चकोशात्मवर्द्धिं त्यक्त्वा कृतब्रह्मासाक्षात्कारतया अखण्डाकार-  
वृत्तिमदन्तं करणानां वा तेषां । नैतदनयं माधु हितं मौनस्यकरं मम्मत्त-  
मित्यर्थः । स्वानुभवविरोधात् ॥२३४॥

प्रपञ्चमिथ्यात्वे भगवद्गीता प्रमाणयति । ईश्वर इति ।

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाह तेष्वावस्थितः ।

न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीकथत् ॥२३५॥

अज्ञानाभावेन भ्रमादिदोषशून्यं वस्तुयाथात्म्यज्ञानवानीश्वर  
"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेष्वावस्थितः । न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे  
योगमेश्वरम्" इत्येकस्मिन्वाक्ये मत्स्थानि सर्वभूतानि न च मत्स्थानीति  
प्रतियोग्यभावयो एकत्र विरोधशङ्काया पश्य मे योगमेश्वरम्, इति ईश्वरस्य  
मम अपटितघटनोपायरूपं योगं माया इत्यर्थं पश्येति मायिकत्वमुक्त-  
वान् । तदेव मिथ्यात्व प्रतिपत्तोपाधी अभावप्रतियोगित्वस्यैव मिथ्यात्वात् ।  
मत्स्थानि न च मत्स्थानीति पदाम्ना अयमर्थः उक्तः । स्वाध्यायत्वनाभिमत-  
यावन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वं स्वप्रकारवधी विज्ञेयताव्यापकत्वान्ताभाव-  
प्रतियोगित्वपर्यवसितं प्रतिपत्तोपाधी इत्यादेरर्थः । तथा न मत्स्थानीत्यत्र  
ईश्वर भूतानामाश्रय इति ज्ञातः । न च मत्स्थानीत्यनेन भूतानां तन्निष्ठा-  
त्वेन सम्प्रते । प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावात् प्रति मृपातमता "इति चित्पुत्राचार्य-  
यचनेन पूर्वोक्तमिथ्यात्वं जगति मिदम् । घटवत्स्यात् भ्रमविज्ञेयनिष्ठा-  
भावप्रतियोगित्वं परमतेष्यस्तोति अर्धान्तरवारणाय स्वप्रकार-  
धीविज्ञेयताव्यापकेति । तथाच यन्नास्तीति प्रमा तत्रापि स्वरूपत-  
कल्पितत्वेनशभावान् यत्र यत्र स्वप्रकारवधीविज्ञेयता तत्र सर्वेन  
घटादेर्वस्तुतोऽभावान् तत्प्रतियोगि यं मृपादमिति बोध्यम् । "मया तत-  
मिदं सर्वं जगदप्यन्तर्मातृना" इति सर्वाधिष्ठानतया इदं सर्वं जगद्व्याप्यं,

ननु तदधिष्ठानकत्वमम 'स भगव कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि,  
यदि वा न महिम्नि' इति निराधारत्वमय कथितत्वात् । अतः  
जगदधिष्ठानकत्वमम निराकरोति न चाह तेष्ववस्थित' इति ।  
धूम्रेण व्याप्तं गृहमित्यादौ गृहाधिकरणकत्वमम प्रतीयते तद्वदिदं मया  
तत्तमित्यादिना ज्ञेयमिति । तथाच नाधिष्ठानाद भित्तरारोपितस्यति  
ब्रह्माधिष्ठानकं तनारेपितं तदव्यतिरेकेण नास्तीति मिथ्यत्ययव्यञ्जीवयत्  
अबोधदृश्यर्थे ॥२३५॥

जगन्मिथ्यात्वे युक्तिमाह । यदिति ।

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुपुप्तावुपलम्ब्यताम् ।

यन्नोपलम्ब्यते किञ्चिदतोऽमत् स्वप्नवन्मूपा ॥२३६॥

मत्त्वस्य तदा भानमावश्यकं यथात्मनः । यदि विश्वजगतः सत्यं  
भवेत् सुपुत्त्यवस्थाया उपलम्ब्यताम् । यत यस्मात् किञ्चिदपि नोपलम्ब्यते  
"न किञ्चिदवेदिष्यम्" इति स्मृते गतं स्वप्नवत् नागरे अनुपलम्ब्यमानं  
स्वप्नं यथा असन् तथा । असदित्यस्यायं मूषति । ननु शशबिषाणवदसत्त्वं  
चित्तु दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् मिथ्या इति भाष्यं ॥२३६॥

इदानीं ब्रह्मव्यतिरेकेण जगत् अभावनिगमयति । अत इति ।

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः

पृथक्प्रतीतिस्तु मूपा गुणादिवत् ।

आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताऽ

धिष्ठानमाभाति तथा भ्रमण ॥२३७॥

अतः स्वप्नवत् तदा उपलब्धाभावात् जगत् परात्मनः ब्रह्मण  
पृथक् नास्ति व्यवहारदशाया पृथक्पटादिरूपणं प्रतीतिः गुणाहितम्  
गुणं रज्जु, अहिं सर्पं रज्ज्वाभासपितं यथा मूपा तथा जगदपि मूपा  
तु मूषवेत्यर्थः । अर्थविभागादि साभावादपि मूपा मत्त्वमाह आरोपितत्वेन ।  
आरोपितस्य कथितस्य अथवत्ता प्रयोजनवत्ता अपात्रित्यापान्तिमिति  
यावत् अस्ति चि ? तान्यथेति भाष्यं । तर्हि मूपा प्रतीतिरन्यथा अभिहित,

चेत् निगमाप्रमाणता "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति" वेदस्य वार्धितार्थ-  
बोधकता स्यात् । इष्टापत्तिरिति चेत् ईशितुरपि परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य  
परमेश्वरस्य असत्यवादित्वं व्यर्थार्थवक्तृत्वं स्यात् । तदपि भवत्विति चेत्  
महात्मना आस्तिकानां इत्यर्थः । महानात्मा येषां धृत्याचार्योपदेशेन  
परिनिष्ठ-पञ्चकोशात्मवृद्धिं त्यक्त्वा कृतब्रह्मसाक्षात्कारतया अखण्डाकार-  
वृत्तिमदन्तं करणानां वा तेषां । नैतन्नयं साधु हितं मौनमन्यकरं मम्मत्त-  
मित्यर्थः । स्वानुभवविरोधात् ॥२३४॥

प्रपञ्चमिव्यात्वे भगवद्गीता प्रमाणयति । ईश्वर इति ।

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः ।

न चमत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीकथ्यत् ॥२३५॥

अज्ञानाभावेन भ्रमादिदोषशून्यं वस्तुयाथात्म्यज्ञानवानीश्वर  
"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः । न च मत्स्थानि भूतानि परममे-  
योगमेश्वरम्" इत्येकस्मिन्वाक्ये मत्स्थानि सर्वभूतानि न च मत्स्थानीति  
प्रतियोग्यभावयोः एकत्र विरोधशङ्कायां पश्य मे योगमेश्वरम्, इति ईश्वरस्य  
गमः अघटितघटनोपायरूपं योगमाया इत्यर्थः पश्येति मार्गिकत्वमुक्त-  
वान् । तदेव मिथ्यात्वं प्रतिपन्नोपायो अभावप्रतियोगित्वमैव मिथ्यात्वात् ।  
मत्स्थानि न च मत्स्थानीति पदार्थाः अयमर्थः उच्यते । स्वाध्यायत्वेनाभिमत-  
यावन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वं स्वप्रकारकधी विज्ञेयताव्यापकात्यन्ताभाव-  
प्रतियोगित्वपर्यवसितं प्रतिपन्नोपाधौ इत्यादेरर्थः । तथा च मत्स्थानीत्यत्र  
ईश्वरं भूतानामाश्रय इति ज्ञातं । न च मत्स्थानीत्यनन्तं भूतानां तन्निष्ठा-  
रूपान्ताभावप्रतियोगित्वमवगम्यते । तथाच 'सर्वेषामेव भावानां स्वध्याय-  
त्वेन सम्गते । प्रतियोगित्वमत्यन्ताभासं प्रति मृषात्मता' इति चित्तसुखाचार्य-  
वचनेन पूर्वोक्तमिव्यात्वं जगति सिद्धम् । घटवत्तया भ्रमविशेषनिष्ठा-  
भावप्रतियोगित्वं परमतेष्यस्त्येति अर्थान्तरवारणाय स्वप्रकारक-  
धीविशेष्यता यापकेति । तथाच यथास्तीति प्रमा तत्रापि स्वरूपत-  
व्यतिरिक्तत्वेनैव भावानां यत्र यत्र स्वप्रकारकधीविशेष्यता तत्र सर्वत्र  
घटादेवस्तुतोऽभावात् तत्प्रतियोगित्वं मृषापादमिति बोध्यम् । 'मया तत्  
निदं सर्वं जगदव्यवतमूर्तिना' इति सर्वाधिष्ठानतया इह सर्वं जगद् व्याप्तं,

श्रीचिबेकचूडामणि सव्याख्य

ननु तदधिष्ठानकत्वमगम “स भव कस्मिन् प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नि,  
यदि वा न महिम्नि” इति निराधारत्वमन्य कथितत्वात् । अत  
जगदधिष्ठानकत्व-भ्रम निराकरोति “न चाह तेष्ववस्थित” इति ।  
धूमेन व्याप्त गृहमित्यादौ गृहाधिकरणकत्व धूमे प्रतीयते तद्वदिदं मया  
ततमित्यादिना ज्ञेयमिति । तथाच नाधिष्ठानाद् मिश्रतारोपितस्येति  
ब्रह्माधिष्ठानक तन्मारेपित तद्व्यतिरेकेण नास्तीति मिथ्येत्येव व्यचीकृत  
अबोधदिव्यर्थ ॥२३५॥

जगन्मिथ्यात्वे युक्तिमाह । यदिति ।

यदि सत्य भवेद्विषय सुपुप्तावुपलम्ब्यताम् ।

यन्नोपलम्ब्यते किञ्चिदतोऽसत् स्वप्नवन्मूपा ॥२३६॥

सत्यस्य सदा भानमावश्यं यथात्मन । यदि विश्वजगत् सत्य  
भवेत् सुपुत्त्यवस्थाया उपलम्ब्यता । यत् यस्मात् किञ्चिदपि नोपलम्ब्यते  
“न किञ्चिद्वेदिपम्” इति स्मृते अत स्वप्नवत् जागरे अनुपलम्ब्यमान  
स्वप्न यथा अमन् तथा । असदित्यस्यार्थ मूयति । ननु शरीरविषयवदसत्त्वं  
किंतु दृष्टनष्टस्वप्नत्वात् मिथ्या इति भाव ॥२३६॥

इदानीं ब्रह्मव्यतिरेकेण जगत् अभाव निगमयति । अत इति ।

अत पृथङ्नास्ति जगत्परात्मन

पृथक्प्रतीतिस्तु मूपा गुणाहिवत् ।

आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताऽ

धिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥२३७॥

अत स्वप्नवत् सदा उपलम्ब्यमावात् जगत् परात्मन ब्रह्मण  
पृथक् नास्ति व्ययहारदशाया पृथक्पटादिरूपेण प्रतीति गुणाहितम्  
गुण रज्जु, अहि सर्प, रज्जामागेपिन यथा मूपा तथा जगदपि मूपा  
तु मूपावेत्यर्थः । अर्थत्रिमात्रास्त्विमात्रादपि मूपात्मत्वनार आरोपितत्वेन ।  
आरोपितस्य विपरित्य अर्थवत्ता प्रयोजनरता अर्थविपरित्यमिति  
यावत् अस्ति च ? नास्त्येवेति भावः । तन्नि पुन प्रतीतिरत आह अतोऽति,

अधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण, नहि भ्रमस्थले प्रयोजनगवेषणा विफल-  
प्रवृत्ते सिद्धत्वात् ॥२३७॥

दष्टान्तातरेण जगत् ब्रह्माव्यतिरेक द्रव्यति । भ्रान्तस्येति ।

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमत प्रतीत

ग्रहैव तत्तद्रजत हि शुक्ति ।

इदतया ब्रह्म सदेव न्यप्यते

त्वारोपित ब्रह्मणि नाममानम् ॥२३८॥

भ्रान्तस्य भ्रमत यद्यत्प्रतीत तत्तत् अधिष्ठानभूत ग्रहैव हि  
यस्मात् ध्रुवत्यजानात् शुक्तौ भात रजत शुक्तिरेव तथा ब्रह्मण्यारोपित  
वस्तुत विचार्यमाणे ब्रह्म सदेव इदतया न्यप्यते तत्तु नाममात्र  
'वाचारभणश्चते' इत्यर्थः ॥२३८॥

प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन तत्कारणत्वमपि तत्पदप्रवृत्तिनिमित्त तादृश-  
भवेति शोधित तत्पदार्थमुपमहरति अत इति चतुर्भि ।

अत पर ब्रह्म सद्वितीय

विशुद्धविज्ञानधन निरजनम् ।

प्रशान्तमाद्यतविहीनमक्रिय

निरतरानन्द-रसस्वरूपम् ॥२३९॥

निरस्तमायाकृत-सर्वभेद

नित्य ध्रुव निष्कलमप्रमेयम् ।

अरूपमव्यक्त-मनाख्यमव्ययम्

ज्योति स्वय किञ्चिदिद चकास्ति ॥२४०॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयशून्यमनन्त निर्विकल्पकम् ।

केवलाखण्डचिन्मात्र पर तत्त्व विदुर्वृद्धा ॥२४१॥

अहेयमनुपादेय मनोवाचामगोचरम् ।

अप्रमेयमनाद्यत ब्रह्म पूर्ण महन्मह ॥२४२॥

अत जगत् पृथक्सत्ताशून्यत्वात् आरोपिततया नाममात्रत्वात् पर  
ब्रह्म अवाध्य विजातीयरहित निर्विषय-विज्ञानशरीर अज्ञानास्पृष्ट  
अपरिणामि जन्मनाशरहित अमूर्त अखण्डानन्दविग्रह निरस्ता माया-  
कृता, सर्वभेदा यस्मात् यस्मिन्निति वा निर्मेद सजातीय-स्वगतभेदशून्य  
आद्यन्तविहीनत्वान्नित्य अत्रियत्वात् ध्रुव कूटस्थ निष्कल निरवय  
अप्रमेय फलव्याप्तिरहित अरूप "अगज्वदमस्पगस्वरूपमव्यय" इति  
श्रुते न चक्षुषा गृह्यते इत्यादेश्च । अत एवाव्यक्त । वागगोचरतामाह  
अनाख्यमिति नामशून्य प्रवृत्तिनिमित्ताना जातिगुणत्रियासबधाना-  
मभावात् । अव्यय नव्येति इत्यव्यय अपक्षयरहित । ज्योति स्वय  
पराप्रकाश्य । किञ्चिदिव अपरोक्ष चकास्ति प्रकाशते । निश्चलतया तत्र  
बुद्धे स्थापनार्थं तत्र तत्र श्रुत्युक्तानि तावन्ति विशेषणानि पुनरहं शानु-  
ज्ञानमेयशून्य त्रिपुटीरहित । तत्रहेतु अनन्त परिच्छेदत्रयशून्यमिति ।  
अत एव निर्विकल्पक । केवलाखण्डविन्मात्र सर्वोपाधि-सर्वन्ध-विधुरा-  
परिच्छिन्न-ज्ञानरूप पर तत्त्व बुधा विदुः । स्वात्मत्वेन अद्वैतमनुपादेय  
मनोवानामगोचर "यतो वाच" इति श्रुते अप्रमेय श्रवणमनन-निदि-  
ध्यासन-संस्तुत-मनोवृत्तिव्याप्य अनारान्य कालदेजपरिच्छेदशून्य अत  
पूर्ण महत् सूर्यादिभासक मह ज्योति ब्रह्म इति तत्त्वदार्थशोधन ॥

पदार्था शोधयित्वा वाक्यार्थं वक्तुमारभते । तत्त्वमित्यादिना ।

तत्त्वपदाम्यामभिधीयमानयो

ब्रह्मात्मनो शोधितयो-यदित्यम् ।

श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्य-

गेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥२४३॥

तत्त्वमसीत्यत्र तत्त्वदेन त्वपदेन च जगत्कर्तृत्वादिविनिष्टत्वेन  
जापदायवन्ध्याविनिष्टत्वेन च अभिधीयमानयो शक्या बोध्यमानयो  
ब्रह्मात्मनो ब्रह्म च आत्मा च ब्रह्मात्मानो तयोरोदयरजोययो । द्रव्य  
पूर्वोक्तप्रकारेण शोधितयो । तत्त्वमसीति श्रुत्या तयो बोध्यमानयो  
एवमेव मुहुः नवार्थ छान्दोग्ये पनादुक्तयो भेदे मानाभावात्  
नव्यप्रतिपाद्यो, तदेवमिति उक्तेन मध्य ॥२४३॥

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययोः  
निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः ।

खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः  
कूपांबुराड्योः परमाणुमेवोः ॥२४४॥

किञ्चिज्ज्ञत्व-सार्वत्रत्वविषये दृष्टान्तः खद्योतभान्वोरिति अति-  
परिच्छिन्नापरिच्छिन्नप्रकाशवत्वात् । नियम्यनियामकभावविषये राज-  
भृत्ययोरिति दृष्टान्तः श्रीपास्मादित्यादिश्रुते । मानन्दलेशाष्टारानन्द-  
विषये कूपांबुराड्ययोरिति । एकदेशगतत्व-सर्वगतत्वविषये परमाणुमेवो-  
रिति । एव अन्योन्यविरुद्धी ऐक्याद्योम्यौ यौ धर्मिणौ तयोः अन्योन्यविरुद्ध-  
धर्मिणोः वाच्ययो तयोः जीवेश्वरयो ऐक्यं न निगद्यते बाधितत्वात् ।  
किंतु लक्षितयो लक्षणावृत्त्या बोधितयो निगद्यते उपक्रमादिलगावगत-  
तात्पर्यानुसारेण कथ्यत इत्यर्थः ॥२४४॥

अन्योन्यविरोधे कारणमाह । तयोरिति ।

तयोर्विरोधोऽय-मुपाधिकल्पितो

न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेव ।

ईशस्य माया महदादिकारण

जीवस्य कार्यं शृणु पञ्च कोशाः ॥२४५॥

तयोर्वाच्ययो अयं विरोधः ऐक्याद्योम्यत्वरूपः उपाधिना कल्पितः ।  
न वास्तवः स्वाभाविकः कश्चित् । क उपाधिरिति चेदाह उपाधिरेव इति ।  
तत्र तत्पदार्थस्य उपाधिमाह ईशस्य माया । तत्स्वरूपमाह महदादि-  
कारण महत्त्वाहंकार-यन्त्रतन्मात्रादिसकलजगत्कारणं माया ईश्वरस्य  
उपाधिः । जीवस्य त्वंपदार्थस्य कार्यमुपाधिः । किं तदिति चेत् शृणु पञ्च  
कोशाः । “कार्योपाधिरस्य जीव कारणोपाधिराश्वरः” इति श्रुतेः ॥२४५॥

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः

साम्यलूनिरासे न परो न जीवः ।

राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकः

तयोर्स्पोहे न भटो न राजा ॥२४६॥

जीवपरयो एतावुपाधी माया पञ्चकोशाश्च । “नात्र काचन  
भिदास्ति” “नेह नानास्ति किञ्चन” “असंगो ह्ययं पुरुषः” “असंगो नहि



वीक्षिकचूडामणिः सञ्चाल्यः

सज्जते" इत्यादिश्रुतिभिः तत्त्वपदार्थशोधिकाभिः तयोस्माद्योः सम्यङ्-  
निरासे, न परो न जीवः केवलचिन्मात्ररूपत्वात् भेदकाभावात् । तत्र  
दृष्टान्तमाह नरेन्द्रस्य राज्यमुपाधिः खेटकः आयुध-विशेषः भटस्य उपाधिः  
भेदकधनः । तयोरेषोहे अभावे न भटो न राजा, स्पष्टम् ॥२४६॥

उपाधिनिरासः कथं करणीय इति चेदाह । अयैति ।

अथात आदेश इतिश्रुति-स्वयं

निषेधति ब्रह्मणि कल्पित द्वयम् ।

श्रुतिप्रमाणानुगृहीत-युक्त्या

तयोर्निरास करणीय इत्यम् ॥२४७॥

"अथात आदेशो नेति नेति" इतिश्रुतिः स्वयं ब्रह्मणि कल्पितं  
द्वयं द्वैतं वस्तु निषेधति । इति शब्दस्य इदमित्यर्थः । वीप्सा सकल-  
दृश्यवर्गनिषेधार्था । इदमिदमिति यद्यत्प्रतीयते तत्सर्वमपि अधिष्ठान-  
श्रुतिरेकेण नास्ति स्वतः सत्तास्पृतिशून्यम् । एव श्रुत्यैव साक्षात्प्रतिषेध-  
मानत्वात् सकलग्रमाणमूर्धन्य-श्रुत्यनुगृहीतयुक्त्या तयो मायाकोशपक्व-  
रूपोपाध्योः । इत्यवश्यमाशरीत्या निरास करणीय ॥२४७॥

नेदं नेदं कल्पितत्वाच्च सत्यं

रज्जौ दृष्टव्यालवत्स्वप्नवच्च ।

इत्थं दृश्यं साधुयुक्त्या व्यपोह्य

ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्गः ॥२४८॥

नेदमिति । प्रथमेदशब्देन ईशोपाधिर्माया, द्वितीयेदपदेन मौनपञ्चर  
जीवोपाधिः ग्राह्यः प्रत्येकं निषेधे नञ्द्वययोगः । कारणं वा माया, पार्श्वं  
वा कोशपक्वः कल्पितत्वात् न सत्यं "भूयश्चान्ते विश्वमायानिपूति"  
इतिमायानाशयवणात् । मौनपञ्चनस्य दृष्टनष्टम्यरूपत्वमुपादितामेव  
अवस्थात्रयेनूतयभावात् । "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरति ते"  
इति गीतावगमनाच्च । "तेष्वाप्तयोगानुमता अरदयन् देवात्मगतिं  
स्वगुणनिगूहो" इति तस्या अपि दृढत्वश्रुतेः । अत एदं कारणं माया-  
रूपोपाधिः न यस्तुतोस्ति, सत्ये निपूत्ययोगात् "नामापो विदो ना"

एति गीतावचनात् । एव बोधपञ्चमपि निपुण विचारयतो नैवास्ति  
धीमता शिष्येण सर्वाभाव निना किञ्चित् पश्यामि इत्युक्तत्वात् । अत  
पूर्वाक्तोपाधिद्वयमपि रज्जौ दष्टव्यान्वत सपञ्चत स्वप्नवच्च न सत्यम् ।  
इत्थं दृश्य साधुयुक्त्या श्रुत्यनुसारिण्या युक्त्या साऽप्युपोह्य निरस्य  
पश्चात् तयो अनपहितयो केवञ्चो चिमात्रयो य एकभाव भदाभाव  
स ज्ञेय ॥२४८॥

ततस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ तयोरखण्डैकरसत्यसिद्धय ।  
नाल जहत्या न तथाऽजहत्या कितूभयार्थैकतयैव भाव्यम् ॥२४९॥

तत इति । तत यत दृश्यव्यगोहान्तर अल्लापव तथा एकत्व ज्ञेय  
तत तत्मात्कारणात् तौ गडौ लक्षणया शक्यसम्बन्धो रक्षणा तथा अथ  
स्मृत्यनुकूलपक्षपदाध्वसम्बन्धरूपया वत्या सुलक्ष्यौ मय्यनुपस्थापनीयो । अत्र  
स्वात्मनिरूपण गानान्तरोपरोधात् मुस्यायस्यापरिग्रह जाते । मुर्याविना  
वृत्तेर्ये वा वत्तिससव लक्षणा प्रोक्ता इयक्तम् । प्रमाणान्तरविरोधवगात्  
मुस्यायस्य वाच्याधस्य अपरिग्रह जाते वाच्यायविषयकावयवोधानुपपत्तौ  
नयामिति यावत् मुर्याविनावृत्ते वाच्यावदर्थे या वत्ति सा लक्षणा  
इत्यर्थ । प्रकृते विशिष्टयोरक्य वाधित इति तत्त्वपदाम्या गडौ आत्मानौ  
लक्षणीयौ तत्र विशिष्टतादात्म्यरावधस्य सवात् लक्षणा शक्यसम्बन्धरूप  
निबद्धति । तदपि तत्र स्पष्टमुक्त देहद्रियादिधर्मानात्मयारोपयत्  
भदेन । कृतृत्वाद्यभिमानौ बोधस्त्यात् त्वपदस्य वाच्योप । देहस्य  
चेद्रियाणा साक्षी तेभ्यो विलक्षणत्वेन । प्रतिभाति योवबोध प्रोक्तौसौ  
त्वपदस्य लक्ष्योप । वेदावसानवाचा सवेद्य सकलजगदुपादान ।  
सवशताद्युपत नतय तत्पदस्य वाच्योप । विविधोपाधिविमुक्ता विद्वा  
तीत विगुहमद्वत । अक्षरमनुभववेद्य नतन्य तत्पदस्य लक्ष्योप इति ॥  
प्रत्यक्षवपरोक्षत्वे परिपूर्णत्व च सद्बितीयत्व । इतरेतर विरुद्ध ततश्च  
भवंतव्यभव लक्षणया इति च ॥ त्वपदार्थे प्रत्यक्षत्व तत्पदवाच्य परोक्षत्व  
अहमिति प्रतीत्यभावात् एवमीश्वरस्य परिपूर्णत्व जीवस्य सद्बितीयत्व  
अत्यत्वमिति यावत् । इतरेतरविरुद्ध कथ तयोरक्यत्वाच्च इतिमानात्तरोप  
रोध प्राप्ते उपपत्तिर्मादिग्रावधत-तात्पर्यमनुपपत्त्या गडौ लक्षणया  
बोधनीयो । तत्र लक्षणा त्रिविधा जहत्लक्षणा अजहत्लक्षणा जहजदह



लक्षणया तत्त्वपदार्थयोः ससर्गाविषयक-यथायं-ज्ञानविषयत्वसिद्धये भाव्यम्  
॥२४९॥

तद्दृष्टान्तपुरस्सरमाह । म इति ।

स देवदत्तोयमितीह चैकता विरुद्धधर्माशमपास्य कथ्यते ।  
यथा तथा तत्त्वमसीति वाक्ये विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ॥२५०॥  
सलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनो अखण्डभाव परिचीयते दुर्धै ।  
एव महावाक्यशतेन कथ्यते ब्रह्मात्मनोरैक्य-मखण्डभाव ॥२५१॥

सोऽयं देवदत्त इतीह तल्लक्ष्यस्य तद्देशतत्कालवृत्तित्वविशिष्टोर्ध्वं ।  
अयमिति इदमिदस्य एतद्देशतत्काल-वृत्तित्वविशिष्टं अर्थं । तत्र  
विशेषणयोः अत्यन्तभिन्नत्वात् विशिष्टं कथमनुपपन्नम् । कालावने देशान्तरे-  
स्थित देवदत्त इदानीमनागत इत्यप्यर्थस्य ज्ञातत्वात् व्यक्तिमान-  
विषयक-बोधतात्पर्येणोच्चरितादस्माद् वाक्यात् स्वघटवत्तद्विवेकदाभ्या  
उभयत्र विरुद्धाश तद्देश-तत्काल-तद्देश-तत्कालरूप अपास्य हित्वा  
देवदत्तस्य विशेषोप्याशमानगुणस्याप्यते । तत्र भेदो नास्तीति एकता यथा  
कथ्यते तथा तत्त्वमसिवाक्ये वारणोपाधि-कार्योपाधि-प्रत्यस्त्व-परोक्षत्व-  
परिपूर्णत्व-सद्वितीयत्वादिरूपान् विरुद्धधर्मान् उभयत्र हित्वा चिन्मानतया  
ईगजीवी सलक्ष्य तयोः अखण्डभाव वस्तुपरिच्छेदशून्यत्व वृधै विद्वद्भि-  
रिचीयते अनुभूयत इत्यर्थं । एवमैक्यबोधप्रकार उपदिश्य अन्यप्राति-  
दिशति, एव महावाक्यशतेन ब्रह्मात्मनोरैक्य तदर्थं अखण्डभाव कथ्यत  
इति ॥२५१॥

विधिमुत्तेन जीवग्रहण्यबोधकं यावय उदाहृत्य निवेधमुखेन  
तदोपधकं वाच्यमुदाहरति । अस्थूलमिति ।

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य सिद्ध स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम् ।  
अतो मृपामानमिदं प्रतीतं जहोहि यत्स्वात्मतया गृहीतम् ।  
ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥२५२॥

“अस्थूलमनन्तरहस्व-मदीर्घम्” इत्यादिवाक्यानि स्थूलशरीरादि-  
नादात्म्याभिमानेन तथा न्वात्मानं जानान जीव तद्रूपत्वं परिहाप्य ब्रह्म-

## श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

स्वरूप बोधयन्ति । तदाह एतत् दृश्यमान असत् स्थूल शरीरादि, अस्थूल-  
मिति निरस्य निषिध्य, सकलनिषेधसाक्षित्वेन स्वतः सिद्ध, व्योमवत्  
आकाशवदप्रतर्क्य नह्याकाशस्य आयाम एतावानिति तर्कयितुं शक्यते,  
तथा शास्त्रमन्तरेण तर्कानधिगम्यमित्यर्थः । तादृशं ब्रह्म बहुमित्येव  
विशुद्धमुच्यते मनननिदिध्यासन-संस्कृतबुद्ध्या, स्व आत्मानं अपाण्ड्योत्र  
बिम्बि । अतः यत् स्यात्पतया गृहीतं स्थूलशरीरादिकं इदं प्रतीतमज्ञानात्  
ज्ञातं मृषामात्रं मिथ्याभूतं जहीहि परित्यज इत्यन्वयः ॥२५२॥

छान्दोग्यपठ्याध्याये श्वेतकेतुं प्रति उद्दालकेन कृतमपदेन शिष्य-  
मुक्तबोधाय सगृह्योपदिशति । मृत्कार्यमिति ।

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मानमेवाभित  
तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम् ।

यस्मान्नास्ति सत परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं  
तस्मात् तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥२५३॥

मृत्कार्यं मुदुपादानवत्, घटादि घटशराबोदधनादि तत्फलं, सततं  
बालश्रयेऽपि उत्पत्तेः प्राक् उत्पत्त्यनन्तरं नाद्यानन्तरं च, अभित सर्वं प्रागुच्यं  
पदवाच्यं पार्श्वयोः, मृन्मात्रमेव मृद्व्यतिरेकेण नास्ति पित्तरेणेदमुपपादित-  
मपस्तात् "मृत्कार्यमूत" इत्यादिश्लोकाभ्याम् । तद्वत् "शदेव सोम्येदमग्रं  
आसीत्, एवमेवाद्वितीयं, तदेकत, तत्तेजोऽमृजत, तदपोऽमृजत, तदन्नममृजत"  
इत्यादिना "सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा"  
इत्यन्तं श्रुत्या बोधितप्रकारेण शब्दजनितं घटं सन् पटं सन् इति सामानाधि-  
करण्यविषयप्रतीत्याय सदात्मकमिदमग्नित्वं सन्मात्रमेव । यस्मान् ना  
परप्रत्ययं परं भिन्नं किमपि नास्ति तत् सर्वोपादानभूतं, गत्य पादत्रया-  
वाध्यं, स आत्मा तव मुख्यं स्वरूपं स्वयं सत्तात्पर्यं परस्परसंज्ञा,  
तस्मादेते अद्वयं स्वतत्ताव्यतिरिक्तं-मत्ताव-अदायं नूनं, प्रशान्तं निर्विकारं,  
अमलं अज्ञानावस्पृष्टं, यत्परं ब्रह्म तदेव स्वयमसि इत्यर्थः ॥२५३॥

निद्रा-नल्पित-देशबाल-विषयज्ञानादि सर्वं यथा  
मिथ्या तद्वदिहापि जायते जगत्स्वाज्ञान-मार्गवत् ।

यत्पर सकलवागगोचर गोचर विमलबोध-चक्षुष ।  
शुद्धचिद्धन-मनादि वस्तु यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५६॥

यदिति । यत्पर सर्वोत्कृष्ट, सकलवागगोचर 'यतो वाचो  
निवर्तन्ते' इति श्रुते उपनिषद्भिरपि लक्षणावृत्या प्रतिपाद्यमानत्वात् ।  
विमलबोधरूपं यच्चक्षु तस्य गोचर 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व ततस्तु  
त पश्यते निष्कल ध्यायमान' इति श्रुते । शुद्धा निर्विषया या चित् सैव  
यन मूर्ति यस्य, यद्वा शुद्ध च तत् चिद्धन निरुपहितज्ञानस्वरूप, अनादि  
वस्तु नित्य यथार्थं यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५६॥

पङ्क्तिर्मभिरयोगि योगिहृद्भावित न करणैर्विभावितम् ।  
बुध्यवेद्यमनवद्य-भूति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५७॥

पङ्क्तिरिति । क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यु ऊर्मियत् तरंगवत्  
उपर्युपरि सञ्चरन्तीति एते पङ्क्तय इति कथ्यन्ते । तै पङ्क्ति ऊर्मिभि  
अयोगि योगरहित सवन्धशून्य, त्रमेण प्राणमनश्चरीराश्रितत्वात् तेषा ।  
योगिहृद्भावित विषयेभ्यो निरुद्धचित्ता योगिन तेषा हृदा मनसा भावित  
आदरेण ध्यातमित्यर्थ । न करणैर्विभावित "न ननुपा गूढते नापि वाचा,  
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा, न तत्र चक्षुर्गच्छति न  
वागगच्छति" इत्यादिश्रुतिभ्यः । शब्दस्पर्शरूपादिरहितत्वात् बुध्यवेद्य  
सौक्ष्म्याद्यप्यत्वाहीनबुद्ध्या वेत्तुमशक्य, अनवद्य भूति अनवद्या भूति महिमा  
यस्य निर्दोषैश्वर्यमित्यर्थ "वेद्यमनैर्षुष्ये न सापेक्षत्वात्" इति सूत्रात्  
"निरवद्यम्" इति श्रुतेश्च । तादृशं यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि  
॥२५७॥

भ्रान्तिकल्पित-जगत्कलाश्रय स्वाश्रय च सदसद्विलक्षणम् ।  
निष्कल निरूपमान-मूढिमात् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५८॥

पादोस्य सर्वा भूतानीति श्रुते भ्रान्त्या कल्पिता या जगद्रूपा बला  
अन तादाश्रय अधिष्ठान, "न शक्यं यस्मिन् प्रतिष्ठित इति, म्ये  
महिम्नि" इति श्रुते स्वमाश्रय यस्य अनाभार सत्त्वमित्यर्थ । सदसद्वि-  
लक्षण प्रत्यक्षपरोक्ष-मचभूतविलक्षण, निष्कल निरवद्य, निरूपमान

असदृश "न तत्समश्चाभ्यधिवद्वच दृश्यते" इति श्रुते । ऋद्धिमत् "एष सर्वेश्वर" इत्यादिश्रुते "सत्यकाम सत्यसकल्प" इत्यादिश्रुतेऽपि ।  
एतादृश यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५८॥

जन्मवृद्धि-परिणत्यपक्षय-ध्याधिनाशनविहीन-मव्ययम् ।

विश्वसृष्ट्ययनघातकारण ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५९॥

जन्म उत्पत्ति तदनन्तरकालिकस्थितेरुपलक्षण, वृद्धि अवयोपचय, परिणति विपरिणम पाकादिना रूपातरोत्पत्ति आन्नादिपलादिषु अपक्षय अवयवापचय ध्याधि रोग नाशन अन्त्यधिकार तैविहीन पदभावविवारशून्य इत्यर्थ । अत एव अव्यय न व्यतीत्यव्यय स्वतो वा परतो वा नाशरहित नित्य, विश्वसृष्ट्ययनघातकारण यतो वा इमानि भूतानि जायते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्याभिसंविशति इद सर्व-मसृजत "आकाश परावण" आकाश प्रत्यस्त यन्ति इत्यादि-श्रुतिभ्यः सकलप्रपञ्च-सृष्टिस्थिति-संहारविवरण यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भाव-यात्मनि ॥ २५९ ॥

अस्तभेद-मनपास्त-लक्षण निस्तराजलराशि निश्चलम् ।

नित्यमुक्त-मविभक्तमूर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६०॥

अस्तभय अस्त गत भेद यस्मात् एकमवाङ्मतीय इद सर्वं यदयनात्मा" इति श्रुते अनपास्तलक्षण अनपास्तमत्यक्त अनपादि सार्वदिकमित्यर्थं लक्षण सच्चिदानन्दस्वरूप यस्य तत् । निर्गता तरगा यस्मात् सचासी जलराशिश्च समुद्र तद्वतिश्चल नित्यमुक्त यदापि बन्धरहित, अविभक्तमूर्ति सच्चिदानन्दस्वरूपत्वेऽपि तत्पदलक्ष्याराण्ड-स्वरूपभेदाभावात् अविभक्ता भेदरहिता मूर्ति स्वरूप शरीर यस्य तत् अविभक्तमूर्ति निरवयवमिति वा यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६०॥

एकमेव सदनेव कारण कारणान्तरनिरासकारणम् ।

कार्यकारणविलक्षण स्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६१॥

एवमेव सत् कल्पिताना अनकपा अधिष्ठानत्वेन कारण, कारणान्तर-निरासकारण "परास्य अक्षितविविधैव श्रूयते" इति श्रुते स्वभित्तकारण-

निरपेक्षमित्यर्थः । सकल-दृश्यनिषेधसाक्षित्वेन कारणान्तरस्य आकाशादे  
निराग्रे नेति नेतीति निषेधे कारणमिति वा, कार्यकारणविलक्षण "तदेतद्  
ब्रह्मापूर्वं-मनपर" इति श्रुते कार्यं जगत् कारणं माया तद्विलक्षण "उत्तम  
पुरुषस्तदस्य परमात्मेत्युदाहृत" इति श्रुतीतो न तेऽत्र । यद्यप्येवकारण  
इत्यस्मिन्नेव श्लोके कारणत्वमुक्तं तथापि तस्य मिथ्याकार्यनिरूपितत्वेन  
मिथ्यात्वात् यस्तुतः कारणत्वं नास्तीत्यपि मनस्ययं जगज्जन्मादि-  
कारणत्वस्य तदस्यलक्षणत्वात् । यावत्तद्व्यकालं मनवस्य तदव्यावर्तकं  
तदेव तदस्यलक्षणं । खयं स्वतः सिद्धं ब्रह्म यत् तत्त्वमसि भावयात्मनि  
॥२६१॥

निर्विकल्पकं मनस्तत्त्वमक्षरं यत्क्षराक्षर-विलक्षणं परम् ।  
नित्य-मव्ययसुखं निरञ्जनं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६२॥

निर्विकल्पकं मायिकत्वात् विकल्पानां यस्तुतः विवक्ष्यमानं अनल्पं  
यो वै भूमा "ज्यायानाकाशात् इत्यादिश्रुते । अक्षरं न क्षरति  
अनन्ते व्याप्नोतीति वा अक्षरं । यत्क्षराक्षरविलक्षणं द्वाविमौ पुरुषौ  
श्लोके क्षरत्वाक्षर एव च । क्षरन्सर्वानि भूतानि कूटस्थाक्षर उच्यते"  
इति स्मृते । पूर्वं नार्मवारणविलक्षण इत्युक्तं विप्लवपदात्तरेण जगन्माया-  
विलक्षणं तत्त्वमित्यर्थः । अत एव परं सर्वोत्पद्यते नित्यं अक्षरत्वात्प्रत्य  
'नित्यो गित्याना' इति श्रुते । परं नित्यमिति या अवयवः । अव्ययमुक्तं  
यो वै भूमा तत्तुल्यं नात्मे सुखमस्ति इति श्रुते अगच्छन्गुणरूपं निरञ्जनं  
नमद्भूतं यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६३॥

यद्विभाति सदनैव ध्या भ्रमाभ्यामरूप-गुणविधियात्मना ।  
हेमवत्स्वयं-भवित्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६४॥

यथा एव हेमं सुवर्णं पटव-मुष्टाङ्गदाकाशमना विभाति स्वयंभू-  
रूपं वातव्यापारमात्रेण एव यत् स ब्रह्म स्वयं यदा भवित्रियं भ्रमात्  
नामरूपगुणविनिर्गमात् अनन्तरं विभाति तद् ब्रह्म तत्त्वमसि भाव-  
यात्मनि ॥२६५॥



यच्चकास्त्यनपर परात्पर प्रत्यगकरसमात्मलक्षणम् ।  
सत्यचित्सुखमनन्त मव्यय ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६४॥

तदतद ब्रह्मापूर्व मनपर इति श्रुते अनपर न विद्यते पर काय  
यस्य वस्तुभूतवायूय परात हिरण्यगर्भादिपि पर यद्वा सनकायकारणात्  
अज्ञानात् पर अक्षरात्परत् पर इति श्रुत स एतस्माज्जीवप्रज्ञात्  
परात्पर पुरिषाय पुरुषमीक्षते इति श्रुते परशब्देन हिरण्यगर्भोपि ग्रहीत  
शक्यते । प्रत्यगकरम् जीवाभिन्न सर्वात्पर यच्चाप्नोति यदादत्त यच्चाति  
विषयानिह । यच्चास्य सततो भाव तस्मादात्मा प्रकीर्तित इत्युक्तात्म  
लक्षणोपेत सत्यचित्सुख अनन्त अपरिच्छिन्न अव्यय नित्य ब्रह्म तत्त्वमसि  
भावयात्मनि ॥२६४॥

उक्तमर्थमिमं मात्मनि स्वयं भावय प्रथितयुक्तिभिर्धिया ।  
संशयादिरहितं कराबुक्त्वा तेन तत्त्वनिगमो भविष्यति ॥२६५॥

उक्तमिति । इमं एकयरूप उक्तमर्थं प्रथितयुक्तिभि युक्तिषु  
प्रथित्य श्रुत्यनुसारित्व धिया निमलान्त करणन आत्मनि बुद्ध्या स्वयं  
भावय । तेन भावनन कराबुक्त्वा हस्तगतजं यथा निस्संशय स्पष्ट  
गृह्यते एवं तत्त्वनिगम तत्त्वनिगम संशयादिरहितं यथा तथा भविष्यति ।  
रहितपदस्य राहित्यमर्थ । संशयादीति विषय आदिपदेन गृह्यते  
असंभावना च । असंभावना-संशय विषयभावना राहित्य यस्मिन्  
कस्यि तद्यथा भवति तथा एति भविष्यतीत्यत्र भवनक्रियाविशेषणम्  
॥२६५॥

स्व बोधमानं परिशुद्धतत्त्वं  
विज्ञाय तच्च नृपवच्च सैन्यम् ।  
तदात्मनोऽयात्मनि सवदा स्थितो  
विलापय ब्रह्माणि दृश्यजातम् ॥२६६॥

स्वमिति । मय बहुयोपघटिते मय छत्रादिचिह्नन नृपमिव  
मय शरीरेन्द्रियप्राणाह्वार रूपवायवरणसघाते परिशुद्धतत्त्वं परिशुद्ध  
तत्त्वं याथात्म्य यस्य ॥ परिशुद्धतत्त्वं तत्त्वं स्व आत्मानं बोधमात्रं सर्वादि-

श्रीविवेकचूडामणिः सव्याख्य.

भासकज्ञानमात्र दृश्यसबधरहितं विज्ञाय विवेकेनानुभूय, तदात्मनैव  
ज्ञानात्मनैव सर्वदात्मनि स्थितं स्वरूपनिष्ठं, ब्रह्मणि दृश्यजातं विलापय  
“पृथिव्यस्य पथो बह्वो यत्किंवाचो नभस्यसो। नभोऽप्यव्याकृते तच्च  
गुह्ये बुद्धोऽस्म्यहं हरिः” इतिरीत्या तत्तदुपादेयानां स्वोपादानव्यतिरेकेण  
असंज्ञाव विनिश्चित्य सर्वस्य सर्वोपादानभूत-ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव  
निश्चिनुहि इत्यर्थं ॥२६६॥

बुद्धौ गुहाया सदसद्विलक्षण  
ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम् ।  
तदात्मना योत्र वसेद्गुहाया  
पुनर्न तस्यागगुहा-प्रवेश ॥२६७॥

सदसद्विलक्षणं सत्यं अद्वितीयं परं ब्रह्म गुहाया बुद्धो अस्ति “योय  
विज्ञानमयं प्राणेषु ह्यचन्तव्योति पुरुषः” इति श्रुते “स वा एष आत्मा  
हृदि” इति च, “प्रतिबोधविहितः” “वृक्षयते त्वग्रथया बुध्या मूढमया” इति  
श्रुते बुद्धिं विना चेतुमशक्यत्वात् दर्पणमिव मुखस्य बुद्धिबुद्धिरेव आवरणं  
भक्त्वा ब्रह्म गृह्णतीति सर्वगतमपि बुद्ध्यावसीति कथ्यते, सुषुप्तौ बुध्य-  
भावेन दुर्ग्रहत्वात् स्वरूपस्य। सामीप्यसप्तमी पापाणे वृक्ष इतिवत्।  
यद्यपि तथापि मोक्षा गुहापदेन कथ्यन्ते तथापि तत्र मनोमयादीनां  
बुद्धिद्वारण-प्रवन्धात् आनन्दमयकोणे बुद्धिं विना विवेकनुमशक्यत्वात्  
प्राधान्येन सत्यप्रधानबुद्ध्यादेव स्थितिरित्युक्तमिति बोध्यम्। तदात्मना  
ब्रह्मात्मना यं पुरषं अत्र गुहाया स्थूलसूक्ष्मदेहात्मकगुहाया, वसेत् पुन  
तस्य अगगुहाप्रवेशं अगमेव गुह्यं, अगेति शिष्यामहोषनं वा, अत्र प्रवेशः  
तादात्म्याभिमानं न विद्यते। “न स पुनरावर्तते” इति श्रुते, “आत्मानं  
नेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरय। विमिच्छन् वस्य कामाय धारीर-  
मनुसज्वरेत्” इति च ॥२६७॥

एतावता प्रथमेन आत्मानात्मविवेचनं स्पष्टमुभयः इत्येतत्प्रदर्शिनं ग्रन्थ-  
द्वितीयदलोचोक्तं, ब्रह्मात्मना सम्प्रतिभुक्तिरित्येवमर्थं सूत्रिणं विगदयितुं  
उपयुज्यते। ज्ञात इति।

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरपा

कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य ससारहेतु ।

प्रत्यग्दृष्ट्याऽऽत्मनि निवसता सापनेया प्रयत्नात्

मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनया वासनातानव यत ॥२६८॥

वस्तुनि आत्मनि ज्ञातेषु पञ्चमोक्षविलक्षणतया ब्रह्माभिज्ञतया च  
शास्त्रत युजिततश्च ज्ञातेषु या वासना अस्य ससारहेतु कृतृत्व भोक्तृ  
त्वादित्थं ससारकारण अहं कर्ता भोक्तापीति दृढा दुर्बुद्ध्या अनादि  
बहुकालादनुवृत्ता एषा वासना वज्रवती सम्यक्प्रबुद्धोपि स्वप्नतया भीत  
कचित्कालं निराकृलिता तं करणो न भवतीति दृश्यते हि । अत आत्मनि  
ब्रह्मणि प्रत्यग्दृष्ट्या बहिर्मुखत्वं नितरा दूरीकृत्य अतमुखतया निर्विकल्पक  
समाधिनित्यतत । अभेदज्ञानं निवसता नितरा स्थितिमता सा प्रयत्ना  
दयनया नाशनीया । यत वासनातानव स्वकार्यानां पायवत्त्वं अनुत्पटव  
यत तदेव श्लोच शास्त्र वा मुनय आस्त्रायमननशीला मुक्तिं प्राहुः ।  
अत ब्रह्मात्मना तत्स्थितिं अप्रगादेन मस्थितिं मुक्तिरिति दृढतम  
साधनचतुष्टयं संपत्तिं विना जमातरमुकृतवशात् ब्रह्मविदोपि वासनाशय  
मनोनाशाय प्रयत्नं निरतर-समाधिरूपं आवश्यक एवेत्युक्तं भवति  
॥२६८॥

प्रतिबन्ध सति प्रत्यग्दृष्ट्या जात्मनि निवास न समवतीति तत्प्रति  
बन्धं तन्निरासोपायं च करुणानिधि भगवान् विस्तरेणोपदिशति । अहं  
ममत्यादिना ।

अहममति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।

अध्यासोय निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ॥२६९॥

अनात्मनि देहादादी अक्षाणि इंद्रियाणि आदिपदेन प्राणमनो  
बुद्ध्यादि तत्र अहं मम इति यो भाव अहं ममता इत्यर्थः । अयमध्यास  
विदुषा ध्वंशमननवता पुरुषश्च्यवन स्वात्मनिष्ठ्या स्वात्मनि ब्रह्मणि  
नितरा स्थितिरूपं निदिध्यासनं निरस्तव्यं समूलपातं हन्तव्यं इत्यर्थः  
॥२६९॥

तत्प्रकारमुपदिशति । ज्ञात्वेति ।

ज्ञात्वा स्व प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।

सोहमित्येव सद्वृत्त्याऽज्ञातमन्यात्ममतिं जहि ॥२७०॥

स्व बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणं प्रत्यगात्मानं ज्ञात्वा सोहमित्येव सद्वृत्त्या  
कालत्रयेऽपि बाधायोप्यवस्त्वभेदज्ञानेन अनात्मनि बुद्ध्यादी आत्ममतिं  
बहता जहि नाशय ॥२७०॥

भ्रान्तिपरंपराहनुत्पाजनेन भ्रान्तिं त्याजयति । लोकेति ।

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।

शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७१॥

उक्तं हि साधनपत्रकं जनकृपानैष्ठ्यं मुत्सुज्यताम् इति ' देहह  
मतिरुज्ज्वलताम् ' इति च । शास्त्रानुवर्तनं नाम मोक्षप्रयोजकं ग्रन्थपरिशीलनं  
विना इतरग्रन्थाध्ययनादिकं दृढतरं कर्मांशु सत्यज्यतां मित्युपदेशानुसारेण  
शास्त्रपदं कर्मशास्त्रपरं वा । तत्प्रयत्नं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु  
बहता ममता च नाशय ॥२७१॥

तत्कृतं इत्यत आह । लोकवासनयति ।

लोकवासनया जन्तो दास्यवासनयापि च ।

देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥२७२॥

सर्वे जना यथा मां न निदन्ति यथा स्तुवन्ति तथैव सर्वदा चरिष्यामि  
इत्यभिनिवेशं लोकवासना इयं वासना अत्यन्तं प्रतिबन्धिका तया वैनापि  
स्यात् अशक्यत्वात् । इदं तु जीवन्मुक्तिविवेके वासनादायप्रवर्णनं पिष्टारण्य-  
गुरुचरणं विस्तरेणोपपादितं को लोकमाशययितुं समर्थः ' पिष्टते  
न खलु वदिष्यदुपायं सर्वलोकपरितोषकरा यः । सर्वथा स्वहितमाचरणोप-  
यं चरिष्यति जनो बहुजल्पः ' इति । अत एव सुत्यनिदास्तुतिं भगवद्  
भक्ता इत्युक्तं गीतायाः । शास्त्रवासनां त्रिविधा पाठव्यवसायः शास्त्रव्यवसाय-  
अनुष्ठाप्यसाधनं चेति भरद्वाज-दुर्वातो-दानुरदृष्टान्तं जीवन्मुक्ति-  
विवेके सुस्पष्टादिता । एव देहवासनापि आत्मव्यगृह्णापान-दोषापनयन-

भ्रान्तिभि र्विविधा इत्यादिना विवृता । तत एव विज्ञेया । तिसृभि-  
रेताभि वासनाभि ज्ञान यथावन्तं जायते ॥२७२॥

एतदनयमेव सम्यग्ज्ञानप्रतिबधक इत्याह प्रामाणिकोक्ति मूली-  
दृश्य ससारेति ।

ससारकारागृह-मोक्षमिच्छो.

अयोमय पादनिवद्ध-शृङ्खलम् ।

वदति तज्ज्ञा पटुवासनानय

योस्माद्विमुक्त समुपैति मुक्तिम् ॥२७३॥

तज्ज्ञा गृहविद, पटुवासनाश्रय तानयमयात शेषशास्त्रदेह-  
वासनाश्रय ससार एव कारागृह तस्मान्मोक्ष इच्छो पुरपस्य अयोमय  
बहुदृढ पादनिवद्धशृङ्खल पादयो निवद्ध शृङ्खलमिति ह्यगव यथा  
आयतशृङ्खलावद्धपादयुग्म गन्तु न शक्नोति एव लोकादिवासनाप्रदपुत  
विष्णो परम पद नैव प्राप्तु शक्नोतीत्यभिप्राय । यो नर अस्मात्  
पूर्वोक्तवासनाश्रयात् विमुक्त तनूवृत्तवामन ग मुक्ति समुपैति यथा-  
वज्जानेनेति शेष ॥२७३॥

तत्र प्रतिबधवासनापनयने मदृष्टान्त आत्मवामनाग्नेधन वारण-  
माह । जलादीत्यादिना ।

जलादिसर्पव-वशात् प्रभूतदुर्गन्ध-धूतागर-दिव्यवासना ।  
सर्पपणनेन विभाति सम्यक् विधूयमाने मति बाह्यगधे ॥२७४॥

अगरो जलादिमर्षवगात् प्रभूत बटु य दुग्ध तेन धूतागर-  
दिव्यवागा मोरम्य, गधपणन ग्राह्यमप विधूयमाने आपनीयमाने  
तिरस्त्रयमाण एव सम्यग्विभाति दत्तदृष्टान्त ॥२७४॥

अतश्चित्तानन्त-दुरतवामनाधूलीविलिप्ता परमान्मवामना ।

प्रजातिसर्पपणतो विशुद्धा प्रतीयते चन्दनगधवत्स्फुटा ॥२७५॥

अतश्चित्तता या जनता बहुविधा दुग्धता दुग्धता वामना अनात्म-  
वामना मेव धूली तथा विनयेन लिप्ता अभिगता परमात्मवामना, प्रजया

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मण " इति श्रुत्या "ब्रह्मात्मनो. शोधितयो एकभावावगाहिनी । निर्विकल्पा च चिन्माणा वृत्ति प्रज्ञेति कथ्यते " इति वक्ष्यमाणया, यदतिसघर्षेण मनस योश्चासपर्केण स्वापन तत विशुद्धा अनात्मवासनाऽऽसंपृक्ता चदनगघवत् स्फुटा प्रतीयते इति दार्ष्टान्तिकम् ॥२७५॥

उदनमयं शमूष्णाति । अनात्मेति ।

अनात्मवासनाजालं तिरोभूतात्मवासना ।

नित्यात्मनिष्ठया तेषा नाशे भाति स्वयस्फुटा ॥२७६॥

अनात्मविषयिण्य या वासना लोकदेहनास्त्रवासना "दभो वर्षोन्निमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च" इत्यादिना आसुरसपत्त्वेन द्रव्यमान-मानरावासनाश्च, तासा जाले समूहं आत्मवासना तिरोभूता न्यक्कृता । तेषा अनात्मवासनाजालाना नित्या या आत्मनिष्ठा ब्रह्मणि परिसमाप्ति. तथा नाशे स्वय स्फुटा विविक्ता भाति ॥२७६॥

"अस्मात्लोकाल्पेत्य । एतमग्रमयमात्मानमुपसन्नमति" इत्यादिश्रुत्या "हर्षं क्षौण्णिकमेव बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसस्य मन कृत्वा न विचिदपि चिन्तयेत्" इतिस्मृत्या च कथितमर्थं धारणाक्षयोपाय आह । यथायथेति ।

यथा यथा प्रत्यगवस्थित मन

तथा तथा मुचति बाह्यवासना ।

निर्दोषमोक्षे सति वासनाना

आत्मानुभूति प्रतिबन्धशून्या ॥२७७॥

यथा यथा प्रत्यक् अत मन अवस्थित अम्यासवैराग्याभ्या तथा तथा बाह्यवासना पुत्रादिषु ममता अग्रममादो अहता च मुचति । वासनाना निर्दोषमोक्षे निर्विकल्पकसमाधिर्नैगत्व्येण वेदान्तायं-विचार-पुस्तसर त्रियमाणेन "रसोप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते" इतिस्मृत्या निर्दोष यथा सूक्ष्मात्मनापि न स्यान् तथा मूलाज्ञानेन आश्रयेण सह मोक्षे अत्यन्त निवृत्ती आत्मानुभूति. प्रतिबन्धशून्या निरमला ॥२७७॥

कार्यनाशनद्वारा कारण क्षणशीय इति वासनाकार्य-भ्रान्तिनाश  
वासनाक्षये कारणमाह नवभि दलोकै । स्वात्मन्येवेत्यादिभि ।

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिन ।

वासनाना क्षयश्चात स्वाध्यासापनय कुरु ॥२७८॥  
योगिन चित्तस्य राजसी तामसीश्च वृत्ती निरुन्धत सत्वोत्कर्षेण  
प्रदीपज्वाला-सतानवत् वृत्तिसतानरूपेण परिणाममान अन्तःकरण स्ववेग  
त्यक्त्वा निरुद्ध भवति । तत्र ब्रह्मसामोप्यबलेन भ्रान्तिदान्तिरूप-शुद्ध-  
वासनाया दुःखाया भवन्त्या बाह्यनिमित्ते सत्यपि शोधाद्यनृत्यति वासनाना  
क्षयः, पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसा उत्पद्यमानस्य शोधादिवृत्तिविशेषस्य  
हेतोः चित्तगतसंस्कार-विशेषस्यैव वासनाशब्दार्थत्वात् । अतः स्वाध्या-  
सापनय कुरु विपरीतभावना निवर्तय । पञ्चसु कोनेषु सम्यग्बिचार्य आत्म-  
बुद्धिं परित्यज ॥२७८॥

राजसतामस-वृत्तिनिरोधरूप-योग एव कथमिति चेदाह । तम  
इति ।

तमो द्वाभ्या, रजः सत्त्वात्, सत्त्व शुद्धेन नश्यति ।  
तस्मात्सत्त्वमवष्टम्य स्वाध्यासापनय कुरु ॥२७९॥  
द्वाभ्या रजस्सत्त्वाभ्या तम नश्यति । प्रसिद्ध हि ध्यायामादिना  
काव्यशास्त्र-मनोदादिना वा आलस्यनिद्रादि-तामसधर्मान् तामसतांति-  
रजः सत्त्वात् चित्तैवाग्रधरूपसत्त्वकार्येण कर्मणि प्रवृत्तीश्च त्यजतीति ।  
रजः सत्त्वाग्रनश्यति । तदपि सत्त्व शुद्धेन निर्गुणेन नश्यति । निर्गुणप्राप्ती  
सत्त्ववृत्ते ज्ञानस्यापि नायात् । तस्मात्सत्त्वमवष्टम्य अवलम्ब्य तम-  
कृतावरणकालिन-रजः कृतविक्षेप-रूपाणां स्वाध्यासाना भ्रमाणा अपनय  
नाश कुरु ॥२७९॥

ज्ञानसाधनत्वात् शरीरस्य तद्रक्षायै तदभिमान आश्रयश्च इति  
चेदाह । प्रारब्धमिति ।

प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चल ।  
धैर्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८०॥

धीविवेकचूडामणि सव्याख्य

प्रारब्ध कर्म बपु शरीर पुप्यति रक्षतीति निश्चित्य निश्चल  
निर्विकारचित्त धैर्यं विकारहेतावपि अविकृतचित्तत्वं अवलम्ब्य यत्नेन  
स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८०॥

तत्प्रकारं विशदयति । नाहमिति ।

नाह जीव परब्रह्मेत्यतद्ब्यावृत्ति-पूर्वकम् ।

वासनावेगत प्राप्त-स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८१॥

नाह जीव किंतु पर ब्रह्म इति न तत् अतत् ब्रह्ममित्र तस्य सर्वस्य  
बुद्धिमन प्राणशरीरादे ब्यावृत्तिपूर्वक 'नाह वेहो नेन्द्रियाण्यतरंग नाहकार  
प्राणवर्गो न बुद्धि । दारापत्यक्षेत्र-विस्तारिदूर साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा  
शिवोह' इति निषेधपुरस्सर वासनावेगत पूर्व प्राप्ता ये स्वाध्यासा  
तेषा अपनय कुरु । यद्वा वासनापदेन अनादिबालप्रवृत्तानात्मवासना  
प्राप्त्या ताता येगत प्राप्तस्वाध्यासाना अपनय ततद्ब्यावृत्तिपूर्वक अह  
पर ब्रह्मेति निरतरानुसंधानन कुरु इति योजनीयम् ॥२८१॥

श्रुत्या युक्त्या स्थानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वार्थ्यमात्मनः ।  
व्यचिदाभासत प्राप्त-स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८२॥

आत्मवेद सर्व इत्यादिश्रुत्या यस्य स्फुरण विना यत्र स्फुरति  
तत्ततो नातिरिच्यत यया मूढो घट दुर्दुमि क्षप्त-धीणागच्छ-सामान्यविशेषा  
वा इति श्रुत्यनुसारिण्या युक्त्या तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा  
सर्वमिदं विभाति' इति श्रुते, सर्वस्य आत्मभानभास्यत्वात् न तदति-  
रिक्तत्वं सकल्पत्मनाधिष्ठानत्वाच्च नाधिष्ठानाद निप्रतारोपिताम् ।  
इत्यादिमुक्त्या, तदनुसारिण्या स्थानुभूत्या आत्मनः सार्वार्थ्यं ज्ञात्वा  
कल्पिताना सर्वेषा वास्तवस्वरूपतां विदित्वा व्यचिन्तोभासो आभासत  
चेतन्यप्रतिफलनमात्रात् प्राप्त-स्वाध्यासापनय कुरु अहंता नाशय ॥२८२॥

अप्रादानविसर्गान्या ईपन्नास्ति त्रिया मुने ।

तदेवनिष्ठया नित्य स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८३॥

अप्रादानेति । मुनः सतत परमात्ममननशीलस्य अप्रादान  
विसर्गान्या अन्या त्रिया ईपदपि नास्ति, अतः नित्य तदेवनिष्ठया तस्मिन्



परमात्मनि एवा अनन्यतया या निष्ठा नितरा स्थिति तस्मिन् एकस्मिन्  
निष्ठा वा तथा स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८३॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ-ब्रह्मात्मैकत्वबोधत ।  
ब्रह्मण्यात्मत्वदाढ्याय स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८४॥

तत्त्वमसीति । तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्य उत्प जात, य ब्रह्मात्मनो  
एकत्वस्योपेक्ष तत् तद्वत्त्वं, ब्रह्मण्यात्मत्वदाढ्याय वाढ्यं च देहात्म-  
ज्ञानयत् ब्रह्मात्मत्वज्ञान तस्मै स्वाध्यासापनय कुरु अनात्मभ्रान्तौ  
महावाक्येभ्य बोधस्मैवाजननात् ॥२८४॥

क्रियत्काल भ्रान्तिनिरासप्रयत्न वरणोप इति वेदाह । अहमिति ।  
अहभावस्य देहेस्मिन् निश्शेषविलयावधि ।

सावधानेन युक्तात्मा स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८५॥

अस्मिन् स्थूलदेह अहभावस्य निश्शेषविलयावधि वासनया सह  
माश्रयन्ता, साधधानेन युक्तात्मा अप्रमत्तान्त करण सन् स्वाध्यासापनय  
कुरु ॥२८५॥ एव

प्रतीतिर्जीवजगतो स्वप्नवद्भाति यावता ।

तावन्निरतर विद्वन् स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८६॥

यावतेति । यावता कालेन जीवस्य जगत्तत्त्वं प्रतीति प्रबुद्धस्य  
स्वप्नवत् निद्रितमिथ्यात्वक भाति तावत्कालपर्यन्त निरतर विद्वन्  
स्वाध्यासापनय कुरु ॥२८६॥

एव नवभि श्लोकै अनात्मभ्रान्त्यपनयमपदिश्य आत्मनाशहेतो  
विस्मृते विचिदप्यववाशो न देय इति विस्मृतिहेतु विशदनेन उपदिशति ।  
निद्राया इति ।

निद्राया लोकवार्तायाश्चिद्व्यादेरपि विस्मृते ।

नवचिन्नावसर दत्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥२८७॥

निद्राया पञ्चमी एव लोकवार्ताया चिद्व्यादेरपि विपयात् प्रसज्यमाना  
या विस्मृति आत्मविस्मरण तस्या नवचित वदार्चिदपि अदसरमवनाश

धीविवेकबूडामणि सव्याख्याः

अदत्त्वा आत्मानं परं स्वरूपं, आत्मनि बुद्धौ चित्तम् । उक्तं हि " दद्याद्वा-  
वसरं किञ्चित्कामादीनामनामपि " इति । यद्वा सर्वं न पृथी निद्राया लोका-  
वार्तायाः शब्दादेः विस्मृतेरपि क्वचिदप्यवसरमदत्त्वा चिन्तयात्मानमा-  
त्मनीत्यर्थं । उक्तं हि मोक्षवर्गेषु " अप्राशन-मसत्पशं-मसदशनमेव च ।  
पुरुषस्यैव नियमो मन्ये निश्रेयसं वरम् " इति ॥२८७॥

यदभिमाननिवचना सर्वे दोषा तं स्थूलदेहं मा नदाचिदप्यात्मत्वेन  
मस्या इत्याह । मातापिनोरिति ।

माता-पित्रोर्गलौद्भूतं मलमासमयं वपुः ।  
त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ग्रहीभूय कृतीभव ॥२८८॥

मातापित्रोः मलोद्भूतं शुक्लशोणितजम्बु, मलमासमयं हेतुतः  
स्वभावतश्च बीभत्समित्यर्थं । वपुः शरीरं चण्डालमिव दूरं त्यक्त्वा  
तत्रात्मत्वाभिमानमकृत्वा, ग्रहीभूय आज्ञानिव अन्नह्यत्वं विधूय स्वयं  
ग्रहोति विज्ञाय, कृती कृतकृत्यो भव । कृती धीमान्वा ॥२८८॥

त्यक्त्वा स्थूलाभिमानं तत्परिच्छेदात्परिच्छिन्नमिव भासमानं जीव-  
मपि उपाधिप्रविष्टापनेन विलापयेत्याह । घटेति ।

घटाकाशं महाकाशं इवात्मानं परात्मानं ।  
विलाप्यास्तण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥२८९॥

महाकाश एव घटेनावच्छिद्यमानं घटाकाश उच्यते । एव  
बुद्ध्यादुपाधिना परात्मा जीव उच्यते । धिया घटस्य दूषणारणे  
घटाकाशो महाकाश एव । एव उपाधिना सर्वोपादान-मर्षपत्पनाधिष्ठान-  
ग्रहाव्यतिरिक्तत्व-ज्ञानेन स्वरूपेण निषेधे दृते अस्तण्डभावेन परिच्छेदा-  
पादवस्याभावात् अपरिच्छिन्नान्नास्तया मुदा मुने तूष्णीं भव वर्तमान्तरा-  
भावात् । उक्तं हि गीतासु " एतद् बुद्ध्या बुद्धिगान्ध्यात् कृतकृत्यमद्वयं  
भारत " इति ॥२८९॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय नदात्मना ।  
ग्रहाण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥२९०॥

स्वप्राकाशमिति । स्वप्रकाशं चिद्रूपतया स्वतः सिद्धं, अविच्छिन्नं, सर्वकल्पनानां मायाविशयोश्च कल्पनाधिष्ठानं, स्वयम्भूत्वा सदात्मना, ब्रह्माण्डं चतुर्दशभुवनान्मयं पिण्डाण्डमपि स्वशरीरमपि, मलमाण्डवत् मलपूर्णघटवत् त्यज्यता नेय स्मर्यतामित्यर्थं “अविच्छिन्नावशेषो हि नाश कल्पितवस्तुनः” इति प्रमाणान् । सदात्मना त्यागो नाम नास्तित्वापादानमेव ॥२९०॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहाह्वामहधियम् ।

निवेद्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥२९१॥

चिदात्मनोति । देहाह्वामहधियं अहमिति मतिः सदानन्दे चिदात्मनि स्वयंप्रकाशानित्यानन्दस्वरूपे परमात्मनि निवेद्य आधाय, लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं उत्सृज्य सादात्म्येनानभिमत्य सर्वदा केवलो भव असगो भव सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहितो वा भव । भेदत्यागान्नित्वात् परमात्माहमिति ज्ञाने तस्य नागात् वैवल्यं सहजमभिव्यज्यत इति भावः ॥२९१॥

यत्रैष जगदाभास दर्पणान्तं पुर यथा ।

तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२९२॥

यत्रेति । स्पष्टं अन्विष्टे दर्पणे अन्तः यथा पुरं जनगिरिनदी प्रागादादिरूपं पुरं प्रतिफलति अन्तरवर्तमानमपि दृश्यते तथा यद् ब्रह्मणि एष जगदाभास मिथ्याभूत जगत् भाति तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२९२॥

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं चिदद्वयानन्द-मरूपमत्रियम् ।

तदेतत् मिथ्यावपुस्तृजैतच्छैलूपवद्वेषमुपात्तमात्मनः ॥२९३॥

यदिति । चित् अद्वयं च तत् आनन्दं च अद्वयानन्दं अरूपमत्रियं यदाद्यं सत्यभूतं निजरूपं वास्तविकं तव स्वरूपं तदेतत्प्राप्य ज्ञानमेवात्र प्राप्तिं वण्टनामीवरवत्, एतत् मिथ्याभूतं वपुस्तृजं त्यक्ताहंभासं पुरं यथा शैलूपं नट आत्मनः उपात्तं वेष उत्सृजति तद्वत् ॥२९३॥

पुनरात्मानं जहपदार्थं शरीरादिभ्यो विवेचयन् ज्ञानदादर्याय ।  
सर्वात्मनेति ।

श्रीविवेकबूझापणि सव्याख्य

सर्वात्मना दृश्यमिदं मूपैव  
नैवाहमर्थं क्षणिकत्वदर्शनात् ।  
जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीति  
कुतोहमादे क्षणिकस्य सिद्ध्येत् ॥२९४॥

अहंपदार्थं सत्यं नित्यं च, इदं दृश्यं मूपैव क्षणिकत्वदर्शनात् क्षणे  
अहं पश्यामीति क्षणे अहं शृणोमीति एव अहं जिघ्रामि रसयामि गच्छामी-  
त्यादिना यत्र यत्र अहंवृत्तिसाबन्धं रासं अहमहमित्यभिलप्यते नहि बहूना  
अहत्वं समयति आत्मन एकत्वात् । यदा अहंवृत्तिसम्बन्धं तदैषा भाव  
वृत्ते क्षणिकत्वात् सम्बद्धानां च तयात्वमेव अभासमानस्य सत्त्वे प्रमाणा-  
भावात् अतः जडत्वेन क्षणिकत्वेन सर्वात्मना सर्वप्रकारंश्च इदं दृश्यं मूपैव  
नैवाहमर्थं । तदुपपादयति अहं सर्वं जानामीति प्रतीति क्षणिकस्य  
अहमादे कथं सिद्ध्येत् इति । नहि चक्षुः रसं जानाति श्रोत्रं वा रूपं अस्म  
"गन्धाय घ्राणं" इत्यादिश्रुत्या तेषां रूपाद्याकार-वृत्तिकरणत्वेऽपि नाह-  
मर्थत्वम् । नहि मनो वा स्वमीयवृत्ती ज्ञातुमीष्टे जडत्वात् कर्तुं-कर्म-  
विरोधाच्च ॥२९४॥

अत आत्मा अन्यः । तत्स्फुटयति । अहमिति ।

अहंपदार्थ-स्त्वहमादिसाक्षी  
नित्यं सुषुप्तावपि भावदर्शनात् ।

द्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिस्त्वय  
तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षण ॥२९५॥

अहमादे दृश्यस्य अहंपदार्थत्वभावे यस्य तथात्वमिति चेत् आह  
अहंपदार्थस्तु तुल्यं दृश्यनाम् अहंपदार्थत्वव्यावर्तकं । अहमादिसाक्षी  
अहमादीनां सर्वेषां अज्ञानादिदृश्यानां साक्षी नित्यं यस्तु सुषुप्तावपि यदा  
अहंवृत्तेरभावः तदा तस्या सुषुप्तावपि भावदर्शनात् "सुषुप्त-मह-मरवाप्यम्"  
इति । अनुभवे विवक्ष्यमान आह द्रूते इति । "अजो नित्यं साक्षी" इति  
पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इत्यात्मा नित्य इति द्रूते श्रुति  
स्त्वय, तत् तस्मात् वारणात् प्रत्यगात्मा सच्चिदानन्दरूप आत्मा  
सदसद्विलक्षण व्यक्ताव्यक्तभिन्न इत्यर्थः ॥२९५॥

विकारिणा सर्वविकारवेत्ता  
नित्योऽविकारो भवितु समर्हति ।  
मनोरथस्वप्न-सुषुप्तिषु स्फुट  
पुन पुन दृष्टमसत्त्वमेतयो ॥२९६॥

विकारिणा देहादीना जन्मादिनाशान्ता ये विकारा तेषा सर्वे  
वेत्ता य नित्य अविकारश्च स भवितु समर्हति युज्यते अनित्यत्वे सर्व-  
विकारवेत्तृत्वासम्भवात् । स्वस्य विकारवत्त्वे कर्तृ-कर्मविरोधेन तज्ज्ञाना-  
सम्भवात् अनित्यत्वाच्च स्वविकारज्ञाने व्यापृतस्य इतरविकारि-विकार-  
ज्ञानासम्भावश्च । अत नित्यत्व अविकारत्व च वक्तव्यम् । एतेन बुद्धि-  
मुल्लुखादिमत्वेन रवीन्द्रियमाणस्य तात्त्विकात्मन नित्यत्व दुर्घटमिति  
सूचितम् । पिण्डतदभिमानिनो आत्मत्व न सम्भवतीत्याह मनोरथेति ।  
मनोरथे मनोराज्ये स्वप्ने सुषुप्तौ च एतयो पिण्डतदभिमानिनो पुन  
पुनरसत्त्व स्फुट दृष्ट प्रसिद्ध धारावाहिक्या वत्पनाया व्यासवतमनसा  
पर्यवतातपादि-याघा न ज्ञायते तदा शरीरभानाभावात् । तत्सत्त्वेऽपि  
तनाभिमानाभावात् अभिमानिनश्च विशिष्टस्याभावो ज्ञेय । एव स्वप्ने  
शरीरान्तरस्यैव सृष्टे तदभिमान्यपि अन्य एव । सर्वदा साक्षी एक  
अत एवोक्त "स्वप्नेयंशून्ये मृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादिविव मन एव  
सर्व" इति । सुषुप्तौ पिण्डाह्वारयो अभाव सिद्ध एव इति स्फुट  
दृष्टमित्युक्तम् । एतेन सर्वभावाभावसाक्षी नित्य एकरूप इत्युक्त  
भवति ॥२९६॥

अतोभिमान त्यज मासपिण्डे  
पिण्डाभिमानित्यपि बुद्धिकल्पिते ।

कालनयावाध्यमखण्डबोध  
आत्वा स्वमात्मानमुपैहि शान्तिम् ॥२९७॥

अत अनित्यत्वात् विकारित्वाच्च मासपिण्डे बुद्धिकल्पिते पिण्डा-  
भिमानिन्यपि चित्प्रतिविवे अभिमान आत्मबुद्धि त्यज । तर्ह्यहं क इति  
चेत् कालनयावाध्य नित्यरोध स्व आत्मान ज्ञात्वा शान्ति आत्म-तक-  
दुःखनिवृत्ति उपैहि मुक्ति लभस्व ॥२९७॥

धीविवेकबूझाणि सव्याख्य

त्यजाभिमान कुलगोत्रनाम-  
रूपाश्रमेष्वार्द्र-शवाश्रितेषु ।

लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादी-

स्त्यक्त्वा भवाखण्ड-मुखस्वरूप ॥२९८॥

स्वाध्यासापनय कुह इत्यत्रोक्त अर्थ स्फुटयति । त्यजेति । आर्द्र-  
वाश्रितेषु स्थूलदेहाश्रितेषु कुलगोत्रनाम-रूपाश्रमेषु अभिमान ममता त्यज ।  
एव लिङ्गस्य सूक्ष्मदेहस्य धर्मान् कर्तृतादीनापि त्यक्त्वा अनित्यत्वात्  
विकारित्वाच्च स्थूलसूक्ष्मयो अखण्डसुखस्वरूप भव इत्युपदेश  
आसीच्च ॥२९८॥

सर्वानर्थहेतु आत्मानुभूतौ मुख्य प्रतिषेधक आह यस्मिन्ननुन्मूलिते  
इतरमैव जायते "सन्त्यग्य" इत्यादिभि त्रयोदशभि ॥

सन्त्यग्ये प्रतिबन्धा पुनः ससारहेतवो दृष्टा ।  
तेषामेषा मूल प्रथमविकारो भवत्यहकार ॥२९९॥

पुनः पुरुषस्य ससारहेतव रागद्वेषादय अन्ये अहकारादन्ये प्रति-  
बन्धा आत्मज्ञानानुत्पत्तिप्रयोजका दृष्टा । तेषामेषा अज्ञानप्रथमविकार  
अहकार मूल भवति ॥२९९॥

यावत्स्यात्स्वस्य सबधोऽहकारेण दुरात्मना ।  
तावन्नलेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ॥३००॥

दुरात्मना सबलबन्धहेतुतया दुष्टस्वभाववता अहकारेण, यावत्स्वस्य  
पुनः सबन्ध स्यात् तावत्पर्यन्त, विलक्षणा यद्यविरट्-नित्यनिरतिमाय-  
सुखस्वरूपा या मुक्ति तद्वार्ता लेशमात्रापि न सम्भवति । सर्वबन्ध-  
मूलभूताऽहकारवान् न गुतरा मुक्तान्वाहं इति भावः ॥३००॥

तदभावे मुक्तिमाह । अह्वारेति ।

अह्वारग्रहान्मुक्त. स्वरूपमुपपद्यते ।  
चन्द्रचन्द्रिमल. पूर्ण. सदानन्दः स्वय-प्रभ ॥३०१॥

अहंकार एव ग्रहं गृह्णातीति राहुं तस्मात्स्वरूपतिरोधायकान्मुक्त  
चन्द्रवत् स्वरूपमुपपद्यते प्रत्यक्त्वेन प्राप्नोति । स्वस्वरूप कीदृमित्यत  
आह विमल शुद्ध पूर्ण अपरिच्छिन्न सदानन्द नित्यमुखरूप स्वयंप्रभ  
विद्रूपतया स्वयंप्रकाश इत्यर्थः । एतद्धर्मचतुष्टयं राहुमुपते चन्द्रेणि  
समान । तत्र सदानन्दो येव इत्यर्थो वाच्यः । स्वरूपप्राप्तेरेव मुक्तिवत्तात्  
अहंकारमोक्षे मुक्तिं सिध्यतीत्युक्तम् ॥३०१॥

तस्य कल्पिततया नात्र सभावयति । य इति ।

यो वा पुरैपोहमिति प्रतीत बुद्ध्याऽविविक्तस्तगमसातिमूढया ।  
तस्यैव निश्शेषतया विनाशे ब्रह्मात्मभाव प्रतिबन्धशून्यः ॥३०२॥

तमसा अज्ञानेन अतिमूढया आत्मस्वरूप विविच्य ज्ञातुमसमर्थया  
बुद्ध्या अविविक्त पुरा एपोहमिति यो वा, वेति प्रसिद्धौ प्रतीत परिच्छिन्न-  
तया ज्ञात तस्य निश्शेषतया विनाश एव इत्येवकार भिन्नत्रयम्,  
ब्रह्मात्मभाव प्रतिबन्धशून्यः । नोचेत् विपरीतभावना यावत्पर्यन्त न  
तावदपरिच्छिन्न-ब्रह्मात्मत्वज्ञान मुलभम् ॥३०२॥

तस्याहंकारस्य नाश कथमिति चेदाह । ब्रह्मेति ।

ब्रह्मानन्दनिधि-र्महाबल्यताऽहंकारघोराहिना  
सवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।  
विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयम्  
निर्मूल्याहिमिम निधिं मुखकर घीरोनुभोक्तुं क्षमः ॥३०३॥

मुखबोधार्थं रूपक कल्पयति । ब्रह्मानन्द एव निधिं हिरण्यनिधिवत्  
स महाबल्यता विषयक्षीरणेन रुद्धमूलतया महाबल्यता, अहंकार एव  
घोराहि भयानकसर्प तेन गुणमयै सत्वरजस्तमोरूपे त्रिभिः चण्डे भोक्तुं  
मस्तकै आत्मनि स्वस्मिन् स्थितै सवेष्ट्य आवृत्य रक्ष्यते अनुभोक्तुमनर्हं  
त्रियते । विज्ञानाख्यमहासिना निदिध्यासनजन्यानुभवनाम्ना महता लङ्घनेन  
द्युतिमता निशितेन स्वयंप्रकाशात्मविषयकतया द्युतिमत्त्व, शीर्षत्रय सत्त्व-  
रजस्तमोगुणात्मक विच्छिद्य अहिं अहंकारसर्पं निर्मूल्य निरवगोप कृत्वा,

श्रीविवेकचूडामणिः सव्याख्यः

सुखकर इमं निधिं ब्रह्मानन्दाभिषं, धीरः दृश्यात्मा अनुभोक्तुं क्षमः समर्थः ।  
एतेन सम्पन्निवदेकजनित-विज्ञाननाशयत्य अहंकारस्योक्तम् ॥३०३॥

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे ।  
कथमारोग्याय भवेत् तद्वदहंतापि योगिनो मुक्त्यै ॥३०४॥  
वासनात्मनापि साहता नावशेषणीयेत्याह । पूर्वश्लोके निर्मूल्ये-  
स्पृक्तं विप्रियते । यावदिति । देहे यावद्वा यत्किञ्चित् ईषदपि इति-  
पदद्वयस्यार्थः । विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेत् कथमारोग्याय भवेद् । तद्वदहं-  
तापि वासनात्मना वा यावदस्ति तावद्योगिनो मुक्त्यै प्रतिबधिका इति  
भावः । अतः निरवशेषमुन्मूलनं कार्यं तस्याः ॥३०४॥

तदातु

अहमोक्त्यतनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्प-सहृत्या ।  
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादयमहं-मस्मीति विन्दते तत्तत् ॥३०५॥  
अहम् अहंकारस्य अत्यन्तनिवृत्त्या अपुनस्तथा नाशेन, तत्कृत-  
नानाविकल्प-सहृत्या निमित्तापायात्रैगितिकाना अपाय इति द्योतयति  
तत्कृतेति । प्रथमविकारभूताहंकारमूलकाना नानाविधानां कुलगोत्र-नाम-  
इषा-श्रमाद्याश्रितानां अभिमानानां विविधकल्पनाख्यानां सहृत्या, अनेन  
सर्वभ्रान्तिनिरास उक्तः । तदा प्रत्यक्तत्त्वविवेकात् आत्मयाथात्म्यस्य  
विविच्य अनात्मामकीर्णतया ज्ञानात् अयमहमस्मीति तत्त्वं विन्दते  
अपरोक्षतया जानाति ॥३०५॥

अहंकृतं यस्मिन् अहमिति-मतिं मुच सहसा  
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुपि ।  
यदध्यासात्प्राप्ता जनिमृतिजरा-दुःखबहुला  
प्रतीचदिचन्मूर्ते तव मुक्ततनोः संसृतिरियम् ॥३०६॥

अहमिति । प्रतीच अन्तरस्य निम्नं ज्ञानपरीरम्य, मुक्ततनो  
आनन्दपदस्य, तव आत्मनः यदध्यामान् यस्मिन्प्रहमिति तादात्म्यभ्रान्त्या,  
जनिमृतिजरादुःखबहुला स्पष्ट, इयमनुभवमिदं सगूनिः, प्राप्ता प्राप्तेव  
भाति, अस्मिन् विनारात्मनि मूढमभूतनाथे, आत्मप्रतिफलजुषि आत्म-



प्रतिविवव्राहिणि, स्वस्थितिमुपि स्वस्य या सहजा स्थिति चिदात्मानरूपता  
ता मुष्णातीति स्वस्थितिमुद् तस्मिन् पराक्त्वापादकत्वेन स्वस्वरूपव्यावर्के  
अहवर्तरे अह्वारे, अनात्मनि अहमितिमति, सहसा मुच इति परमोपदेश  
॥३०६॥

उन्नमथं बुद्धौ सम्यगारोहाय कृपया पुनराह । मदेति ।

सदैवरूपस्य चिदात्मनो विभो-

रानन्दमूर्तेरनवच्छकीर्ते ।

नेवान्यथा ववाप्यविवारिण्ये

विनाहमध्यास-ममुष्य मसृति ॥३०७॥

सर्वाणि विनोपणानि हेतुगर्भाणि अहवागध्यामेन नानारूपता जडता  
परिच्छिन्नता दुःख दुःखजस्य च प्राप्त इति द्योतयितुम् । मदा नित्य एव-  
रूपस्य, सदैवरूपस्य उति वा पाठ रालप्रयागध्यास-रूपस्येत्यर्थ ।  
चिदात्मनो विभो अपरिच्छिन्नस्य आनन्दमूर्तेरनवच्छकीर्ते श्रुतिस्मरणेषु  
परब्रह्मस्वरूपतया बोध्यमानतया नित्यमुन्नम्यमानग्रन्थस्य अविवारिण  
ते तय, अमुष्य परान अह्वारस्य, अहमध्यास विना सादान्मभ्रान्ति-  
मन्तरा अह्वारे अहमिति या बुद्धि ता विनेति यावत्, अमुष्येति गच्छी  
सवर्ग्याधिका गमूति जनिमूतिवरादु गजटिणा अन्यथा प्रारगन्नेण यन्मुन  
इति यावत् नैव मभयति ॥३०७॥

यस्मादेव

तस्मादहवागमिम मयन्नु

भोक्तुगंले वण्टवप्रतीतम् ।

विच्छिन्न विज्ञानगहामिना रूपदु

भुक्तात्म-मात्राज्जगुग यथेष्टम् ॥३०८॥

भुजानन्त्र वण्टे वण्टमिम प्रतिपन्न ग्रन्थानन्त्राभ्र-प्रतिपन्नव  
तया रयन्नु नम प्रत्यक्षनिष्ठ अह्वार, तस्मात्प्रमाग्निमोपि ममाग-  
पादकत्वात्, विज्ञानमतामिना एवभोर्भाविनेवर्जित-विज्ञाननिर्निमित्तपदमेन

श्रीविवेकबूढामणिः सत्यास्यः

विच्छिद्य अपुनर्भवं विनाश्य आत्मसाम्राज्यमुखं अनन्याधीननिरंतराखण्डा-  
नंदं पश्येष्टं निरगलं स्पृष्टं करतलामलकवत् भुक्त्वा अनुभव ॥३०८॥

अनन्तरूपतन्त्रव्यमुपदिशति । तत इति ।

ततोहमादेर्विनिवर्त्यं वृत्ति

संत्यक्तरागः परमार्यलाभात् ।

तूष्णी समास्यात्मसुखानुभूत्या

पूर्णात्मना ग्रहाणि निर्विकल्पः ॥३०९॥

ततः अहंकारादौ तादात्म्यभ्रान्तिनाशानन्तरं, अहमादेः पंचमी,  
अहंकारादेः सकाशात् वृत्ति विनिवर्त्यं मनः पराहमुखीकृत्य, परमार्य-  
लाभात् नित्यस्वप्रकाशानन्दरूपोत्कृष्टप्रयोजनलाभात्, बहिः संत्यक्तरागः  
विषयविमुख इति यावत्, आत्मसुखानुभूत्या निर्विकल्पः पूर्णात्मना ग्रहाणि  
तूष्णी समास्य ॥३०९॥

पुनः पुनः उपविष्टस्योपदेशे कारणमाह । समूलकृतोपीति ।

समूलकृतोपि महानहं पुन-

व्युल्लेखित-स्स्याद्यदि चेतसा क्षणम् ।

संजीव्य विशेषशतं करोति

नभस्वता प्रावृषि वारिदो यया ॥३१०॥

महान् अनादिकालात् दालोपशाखतया वृद्धः अहं अहंकारः, समूल-  
कृतोपि विवेकविज्ञानेन स्वमूलमूलेन अज्ञानेन सह छिन्नोपि पुनः चेतसा  
यदि दणं व्युल्लेखितः प्रवृद्धेन पुरुषेण भीकरस्वयं इयं स्मृतः स्यात्,  
संजीव्य पुनस्तप्य विशेषशतं करोति । तत्र दृष्टान्तः शरदादौ गच्छोपि  
नामापनोपतां नीतोपि वारिदः मेघः, प्रावृषि वर्षतां नभस्वता वायुना गीतः  
संगृतस्तिलः यया वर्षति तथा ॥३१०॥

गच्छस्य कथं जीवनमिति चेत् मृतस्यामृतमेकं द्वयं विपमानुचिन्तन-  
मेव तत्र हेतुरिति नदृष्टान्तमाह । निगृह्येति ।

निगृह्य शत्रोरहमोवकाशं ववचिन्नदेयो विषयानुचिन्तया ।  
स एव सजीवनहेतुरस्य प्रक्षीणजवीरतरोरिवावु ॥३११॥

निगृह्य निग्रहं कृत्वा शत्रोरहमं सर्वनाशहेतो अहंकारस्य, विषयानु-  
चिन्तया ववचिन्नदेयवशात् न देय, स एव विषयानुचिन्तैव अस्य अहंकारस्य  
सजीवनहेतुः । वक्ष्यति हि “न प्रमादादनर्थो न्यो जानिन स्वस्वरूपतः ।  
ततो मोहस्ततो ह्यधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा” इति, सजीवनहेतुरिति  
विधेयप्राधान्यात् विषयानुचिन्ताया म एवेति पुलिगव्यपदेशः । क्षीणस्य  
पुनर्वृद्धौ दृष्टान्तमाह प्रक्षीणेति । प्रक्षीणजवीरतरो मुक्तस्यापि जवीर-  
वृक्षस्य अबुजलवृद्धिहेतुभूत भवति । एवं विवेकविज्ञानेन नाशितोऽप्यहंकार-  
प्रमादाद्विषयानुचिन्ता यदि नियेत पुन प्राप्ताजीवनं सद्यारयतीति भावः ।  
विषयानुचिन्तायामपि नष्टस्याहंकारस्य वक्ष्यमुज्जीवन इति शक्या  
“विषयेष्वविजिज्ञेत् सकल्पयति तद्गुणान् । सम्यक्सकल्पनात्कामं कामा-  
त्पुंसं प्रवर्तनं । तत स्वरूपविभ्रंसं विभ्रष्टस्यु पतत्यथ । पतितस्य विना  
नाशं पुनर्नारोह इष्यते” इति प्रणालिषया विषयेषु कामं सकल्पजन्म  
सकल्पश्च सम्यक्त्वमुष्टि आनन्दजनकत्वज्ञानं, सानानन्दं वैषयिकं मनसं  
एव । यदि सततं स्वस्वरूपनिष्ठं तदा कुत विषयचिन्ता कुतस्तत्रा तेषु  
सकल्पं कुतस्तत्रा कामं । तत स्वरूपविस्मृतिं विषयचिन्तया भवति ।  
यदा विस्मृतं स्वरूपं तदा अहंकारमेव आत्मत्वेन मन्यते तत्राहंकारा विना  
देहानुबल्लयाया प्रतीयमानेषु विषयेषु कामानुत्तरे । तत अहंकारद्वारा  
मनः प्राणस्थूलवेहादिव आत्मत्वेन मत्वा पूर्ववत् विषयान्वामयमानं  
संसारति, तदिदमुक्तं पूर्वं “ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरेषा, वर्ता  
भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः । प्रत्यक्षदृष्ट्यात्मनि निवसता  
सापनेया प्रयत्नात्, मुक्तिं प्राहुस्तदिह भुवयो वासनातानव यत्” इति  
सूत्रेण श्लोकेन । अनन्तरग्रन्थे तद्विवरणरूपं ज्ञातवस्तुनं पुरुषस्य निरतरं  
ब्रह्मनिष्ठाम् ब्रूयति ॥३११॥ तत्र यास्य संसारहेतुर्गिर्यस्यार्थमाह ।  
देहात्मनेति ।

देहात्मना संस्थित एव कामी विलक्षणः । कामयिता वक्ष्यते स्यात् ।  
अतोऽयं-सद्धानपरत्वमेव भेदप्रसक्त्या भववन्धहेतुः ॥३१२॥

श्रीविवेकचूडामणि सभाष्य

दहत्माना सस्थित एव कामी, निरतरानन्दस्वरूपेण स्थितौ कुत क्षणिकानन्दहेतुषु काम ? तेन स्वरूपभ्रश कथित । तदिदमुक्त विलक्षण कामप्रिया कथं स्यादिति । “आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पुरुष । किमिच्छन्कस्य कामाय क्षरीरमनु सज्वरेत्” इति श्रुते, आप्त-काम आत्मकाम अकाम शोकान्तरम्’ इति च । अतोर्थमघानपरत्वमेव विषयानुचिन्तनसप्तत्वमेव स्वरूपविभ्रशनद्वारा वेहादौ अहताभावस्य भेद-प्रसक्त्या भेदप्रसजनेन भवबन्धहेतु, नो चेत् सदा स्वरूपनिष्ठस्य वाच्य-काममित्युक्तकामनादिभेद कुतस्त्य इति भाव ॥३१२॥

तावतापि नष्टस्याहकारस्य मजीवन कथमिति चेदाह । कार्येति ।

कार्यप्रवर्धनाद्वीज-प्रवृद्धिं परिदृश्यते ।

कार्यनाशाद्वीजनाशस्तस्मात्कार्यं निरोधयेत् ॥३१३॥

लोके कार्यप्रवर्धनात् कार्यस्याबुद्धिं प्रकर्षेण नृक्षशास्त्रोपशाखादि-रूपेण वर्धनात् उपचयात् बीजप्रवृद्धिं परिदृश्यते बीजाभावे तथा वृद्धे असम्भवात् बीटादिभक्षिते बीजे अबुद्धिनामनुत्पत्ते । अत एवमपि बीज धरणि-सलिल-सयोग-दोहदादिना सम्यक्प्रवृद्ध अबुद्धिप्रवृद्धिगणाला। पुष्पफलरूपेण वृद्धिं प्राप्य सहस्रश बीजानि जनयतीति परिदृश्यते । कार्यं नाशान् बीजनाशोपि, अबुद्धिदिनिमित्तस्य बीजस्यैव नाश पुन फलानुत्पत्त्या प्रथमो योहयार त विना नैव भवति विषयानुचिन्तनं न भवति यत् विचारो वृद्धो ज्ञेय । एष विवेकविज्ञाननाशितोप्यहकार अनादिबालप्रवृत्ततया वासानात्मना शिष्यमाण सदा प्रत्यग्दृष्ट्या आत्मनिनिष्ठभावे वृद्धिं प्राप्य पुन ससारमुपादयेत् । अत निरतराहनिष्ठ्या अप्रमादेन स्थितौ विषयानुचिन्तनादे-नयनाशात् वासनात्मनानि न शिष्यते । तस्मात्कार्यं निरोधयेत् विषयानुचिन्तनं न कुर्यात् ॥३१३॥

तस्य ससारमुपादकत्वमुपपादयति । नामनेति ।

वासनावृद्धित्वात् कार्यं कार्यवृद्ध्या च वामना ।

यथेति सर्वथा पुन ममागे न नियतंते ॥३१४॥

यथा एवोपि स्फुलिय. गूढमोपि दृष्टतृणसंयोगाद्वृद्धिं प्राप्य महा-  
 नग्निर्भूत्वा गन्धं वनमेव दहते, एवं गगनात्मना स्थितोऽहंकारः विषयानु-  
 चिन्तनेन आत्मानं स्वरूपतः प्रच्याव्य स्वयं तत्प्रतिफलनवदेन अनेकाकारेण  
 परिणममानः जात विवेकमपि न्यस्तुर्वन् विवेकात्प्रागिव भ्रान्तिपरंपरा  
 नामकमांशोर्नि च वितन्वन् स्वयं प्रवर्धमानं निवृत्तप्रायमपि संसारं पुनः  
 प्रवर्तयेत् । अतः अप्रमादेन भवितव्यम् इत्यहं वासनावृद्धित इति ।  
 कार्यं विपर्ययिन्ता । स्वरूपानन्दविरम्यत्या विषयलाभार्थं प्रयत्नः अलाभे  
 दुःखं, लाभे हर्षं, हर्षे दर्पं, दर्पे धर्मातिशयणं, तेन घियो मालिन्यं, तेन  
 पुनरात्मग्रहणसामर्थ्याभावः, ततश्च सर्वदा देहाद्यात्मत्व. तेन जरामरण-  
 ण्मादिरूप-मसाराविच्छेद इति पुनः, मसारो न निवर्तत इत्युक्तं  
 ॥३१४॥

तस्मात्

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः ।

वासनां प्रेर्यते ह्यन्तः चित्तया क्रियया बहिः ॥३१५॥

यति. प्रयत्नशीलं पुमान् संसारबन्धविच्छित्त्यै संसारहेतुभूत-  
 देहात्मत्वादि-मकल-व्ययविनाशाय तद्द्वयं वासनातत्कार्यरूपं द्वयं प्रदहेत्  
 प्रकर्षेण भस्मीकुर्यात् । यथा भस्मीभूतं वीजं न रोहति तथा कुर्यात् ।  
 कर्णया तद्वृत्तिनिमित्तं तन्नाशोपायं च कथयति वासनेति । वासना  
 चित्तया बहिः क्रियया च हि यस्मात् अन्तः प्रेर्यते अतः प्रदहेत् । पूर्वं  
 कार्यशब्देन कथितं स्फुटयति चिन्तया मानस्या बहिः क्रियया च इति ।  
 अन्तश्चिन्ता बहिःशरीरादिना क्रिया । चित्प्रतिफलन-बलाभावे जडरम-  
 भनसः क्रियाजनक-चिन्तासामर्थ्यं नास्ति । तत्र चित्प्रतिफलनं च अहंकार-  
 द्वारैव । जडस्य शरीरस्य कर्म-करणसामर्थ्यमपि मनआदिद्वारा चिदनु-  
 प्रवेशादेव । तस्मात् चिन्तया बहिःक्रियया च सूक्ष्मात्मना स्थितं  
 अहंकारः वृद्धिं प्राप्य इति विज्ञेयम् ॥३१५॥

ताम्यां प्रवर्धमाना सा सूते संसृतिमात्मनः ।

त्रयाणां च क्षयोपायस्सर्वाविस्थासु सर्वदा ॥३१६॥

श्रीविवेकचूडामणि सभाष्य

सर्वत्र सर्वत सर्वब्रह्मात्रावलोकनम् ।

सद्भाव-वासनादाढ्यात् तत्त्वय लयमश्नुते ॥३१७॥

ताभ्या चिन्तात्रियाम्या प्रवर्धमाना सा वासना, आत्मन समृति  
सूते जनयति । पूर्वोक्तरोत्या त्रयाणां च वासना-चिन्ता-धियाः पाणामपि  
क्षयोपाय सर्वावस्थायामु सर्वदा सर्वत्र सर्वत कालत देशत वस्तुतश्च,  
जाग्रदाद्यवस्थायामु ग्रहाव्यतिरेकेण किमपि नास्ति “इद सर्वं यवयमात्मा”  
“ब्रह्मैवेद विद्व” इत्यादिश्रुतिभिः “प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुप-  
रोधात्” “तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्य” इत्यादिसूत्रं मूलोह-  
दुष्टम्यादिदृष्टान्तैश्च यश्चोर स स्याणु यद्रजत सा शुक्ति इतिवत्  
सर्वत्र सर्वतव वाधित्वा केवलाधिष्ठानभूतब्रह्माव्यतिरेकेण किमपि नास्तीति  
सर्वब्रह्मात्रावलोकन । एव यदि ज्ञान तदा “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्  
तत्केन क पश्येत्” इति श्रुत्यनुसारेण “रमोप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते”  
इति स्मृत्या च क्व विषया क्वतरा तच्चिन्ता क्वतमा वहि त्रिया ।  
सर्वब्रह्मात्रावलोकनेन सद्भाव-वासनादाढ्यं तत्त्वय वासना-चिन्ता-  
क्रियारूप त्रय लय नाशमश्नुते प्राप्नोति ॥३१७॥

तथा सर्वं ग्रहोत्पल्लोकनासामर्थं प्रत्युपायमाह कार्यनिरोधेन कारण  
निरोद्धव्यमिति । त्रियानाश इति ।

त्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाशय ।

वासनाप्रक्षयो मोक्षस्तज्जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥३१८॥

पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरजापवत् वा । वासना विना चिन्ताया सा  
विना त्रियाया अभावात् वाच्यनाशात् पारणनानोनृपेव इति भावः ।  
तथाच नेप्फर्म्येणावस्थानपर्यन्त प्रयत्न पुरपेण वर्तय । तदा वासनानां  
प्रक्षयेण ताय सिध्यत्येव स एव मोक्ष स एव जीवन्मुक्तिरिष्यते अग्निप्रेमने  
ग्रहापिद्भिरिति शेषः । उक्तं हि “मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातामस  
यत्” इति । वस्तुन गूढभावस्यैव वासना तस्या तानत्र नाश एव ॥३१८॥

सद्भाव-वागनादाढ्यं तत्त्वय लयमश्नुते इत्युक्तमर्थं सद्बुद्धान्तरा ।  
गदासनेति ।

सद्भासनास्फूर्ति-विजृम्भणे सति ह्यसौ विलीना त्वहमादिवासना ।  
अतिप्रकृष्टाप्यरुण-प्रभाया विलीयते साधु यथा तमिस्रा ॥३१९॥

सद्भासनास्फूर्तिविजृम्भणे सति श्रवणमनननिदिध्यासन-संस्कृतस्य  
मनस सदा सर्वत्र सद्भावनया सत्यस्कारस्फुरणवृद्धौ सत्या तु अतो  
विप्रकृष्टा अहमादिवासना आदिपदन देहन्द्रियविषयपरिग्रह । हि  
निश्चयेन विलीना विगोपण नष्टा भवतीति शेष । तत्र दृष्टान्त अति  
प्रकृष्टापि तमिस्रा रात्रि तमोमयी वस्त्रादिदिनपु अरणप्रभाया अरण  
मूर्यसारथि तस्य प्रभाया साधु विलीयते नश्यति यथा तथा इति पूर्वोक्तान्वय  
॥३१९॥

तत

तमस्ताम कार्यमनर्थजाल न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे ।  
तथाऽद्वयानन्दरसानुभूतौ नैयास्ति बन्धो न च दुःखगण ॥३२०॥

अरणोदयानन्तरं दिनस्य भास्करे उदिते सति उदयाचरमालेखे  
सति तम शर्वत्र तम अन्ववार तत्काल अनर्थजाल चक्षुषीटा चोरदाया  
मागस्सलनादिजात-दुःखद्वय न दृश्यते यथा तथा अद्वयानन्दरसानुभूतौ  
सद्भासनास्फुरणवृद्धिबलात् सन्निधानन्दैकसमप्रत्यक्षानुभवे सति नैयास्ति  
बन्ध अनात्मन्यात्मबुद्धि न च दुःखगण हतोरध्यासस्य नाशात् । तत्र  
को मोह न शोक एकत्वगनुपपद्यत इति श्रुते ॥३२०॥

यदि प्रारब्धवशात् जगद भासेत तदापि

दृश्य प्रतीत प्रविलापयन्स्वयं  
सन्मात्र-मानन्दघन विभावयन् ।

समाहितस्सन् बहिरन्तर वा

काल नयेथा-स्सति कर्मबन्धे ॥३२१॥

“विपरीतायं धीर्यावत् निश्चये विनिवर्तते । स्वरूपस्फुरण यावत्  
प्रसिध्यत्यनयत् । तावत्समापि पटवत् नयेत्काल निरन्तरं । इत्युक्तत्वात्  
प्रतीत दृश्य नामरूपप्रविलापन नयेत्कालापिष्ठानुभूत ग्राह भावयन् स्वयं  
च समात्रमानन्दघन विभावयन् बहिरन्तर वा समाहित मनःकालनयेथा ।

## श्रीविवेकचूडामणि सत्याख्य

"ह्य भूतं सत्रापि तोय न तेजो न वायुर्नख नापि तत्कार्यजातम् । यदेपा-  
मधिष्ठानभूतं विदुः सदेव परं यत्तदेवाहमस्मि" इत्यादिरीत्या बहि-  
"न देहो नचाक्षाणि न प्राणवायुर्मनो नापि बुद्धिर्न चित्तं ह्यहंघी । यदेपा-  
मधिष्ठानभूतं विदुः सदेव परं यत्तदेवाहमस्मि" इत्यन्तं शब्दानुबिद्ध-  
बुद्ध्यानुबिद्ध-सर्ववैकल्पिक निर्विकल्पकभेदेन बहिरन्तर्वा समाहितमनसा त्वया  
कर्मबन्धे प्रारब्धाद्विशेषे प्रसक्ते कालो नेम इत्यर्थं ॥३२१॥

कदापि कथञ्चिदपि शिष्यो दुःखभाक् माभूदित्यनुक्रोधेन जातं  
विवेकस्यापि दुःखप्रसक्तिमात्रं पुनराह प्रमाद इत्यादिना विस्तरेण ।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठाया न कर्तव्यः कदाचन ।  
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान् ब्रह्मणस्सुत ॥३२२॥

कदाचन कदापि ब्रह्मनिष्ठाया प्रमादः अनवधानता च्युति न  
कर्तव्या नाश्रयणीया । यतः भगवान् सर्वज्ञ आजानसिद्ध ब्रह्मण सुत  
रानस्तुजातं धृतराष्ट्रं प्रति प्रमादं धीं मृत्युमहं श्रवीमि' इति प्रमादो  
मृत्युरित्याह ॥३२२॥

तदुपपादयति न प्रमादादित्यादिना ।

न प्रमादादनर्थोन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।  
ततो मोहस्ततोहंघी ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥३२३॥

ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः प्रमादात् प्रच्युते अन्य अनर्थं हानि न विद्यते  
यस्मात् ततः स्वरूपप्रच्युतो सत्या मोहः विस्मरणं ततोनात्मनि अहंकारे  
महंघी ततः बन्धः देहादावध्यासः ततो व्यथा जरामरणादिजन्या ॥३२३॥

अज्ञानिनः एवमस्तु ज्ञानिनोप्येव वि स्मात् इति शङ्कापामात्रं ।  
विजयेति ।

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः ।  
विशेषयति धीदोषं योषा जारगिव प्रियम् ॥३२४॥

योषा प्रियं जारगिव जार अयामवनः प्रियमिव स्मरतिमिव वा  
विस्मृतिं ब्रह्मविभङ्गं विद्वांसमपि विस्मृतिमिव स्मरतिमिव वा



दृष्ट्वा घीदोषै 'पराचि खानि' इति श्रुते । "विषयेष्वाविशन्चेत" इत्यादिना वक्ष्यमाणदोषै विक्षेपयति नष्टात्मबोध करोति विशेषेण चालयति दूर नयति भ्रामयति ॥३२४॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तान्तरेण आहसुष्ठुप्रतिपत्तये । यथेति ।

यथापकृष्ट जैवाल क्षणमात्रं न तिष्ठति ।

आवृणोति तथा माया प्राज्ञ वापि पराङ्मुखम् ॥३२५॥

पूर्वं बोधपक्षकस्य जैवालदृष्टान्तेनैव आवरकत्वमुक्तं "तच्छैवा-  
लापनये सम्यक्सलिलं प्रतीयते शूद्रम्" इति क्षणमात्रं जैवालमपकृष्टं  
यथा न तिष्ठति पुनरावृणोति मलिलं तथा माया प्राज्ञ वापि कृतबोधपक्ष-  
निषेधमपि पराङ्मुखं आवृणोति निरोहितस्वरूपं करोति ॥३२५॥

"न प्रमादादनर्थोन्य" इत्युक्तं दृष्टान्तान्तरेण स्पष्टयति । लक्ष्य-  
च्युतमिति ।

लक्ष्यच्युत चेद्यदि चित्तमीपद्

यहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः ।

प्रमादतः प्रच्युतकलि-बहुक

सोपान-पङ्क्तौ पतितो यथा तथा ॥३२६॥

चित्तं यदीपत् लक्ष्यं ब्रह्म ततः च्युतं चेत् यहिर्मुखं सत् अनारम्भप्रवणं  
सत् पतारतत अहंकारबुद्धि-मन प्राणेन्द्रिय-देहविषयेषु निपतेत् यथा प्रमादतः  
प्रीडितं पुरषस्य इच्छामायेऽपि प्रमादतः अनवधानवशात् प्रच्युतकलियुक्तं  
सोपानपङ्क्तौ पतितं अधोभो गच्छति न गृहीतुं शक्यते तथा ॥३२६॥

प्रमादस्य मृत्युत्वं मष्टूपपादयति सार्धद्वयेन,

विषयेष्वाविशन्चेत सकल्पयति तद्गुणान् ।

सम्यक्सकल्पनात्वाय कामात्पुंसं प्रवर्तनम् ॥३२७॥

ततः स्वरूपविभ्रमो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः ।

पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोहं ईदृशते ।

सकल्पं वर्जयेत्तस्मात् सर्वानर्थस्य कार्णम् ॥३२८॥

अपञ्चानि हि वस्तूनि व्याधिग्रस्तां यथोत्सृजेत् ॥

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

विषयेषु शब्दादिषु चेत् मन आविष्टत् सत् सज्जमान सत् तद्-  
गुणान् तेषु भोगहेतुतया आनन्दजनकत्वादिगुणान् सकल्पयति चिन्तयति ।  
सम्यक्सकलानात् काम तेषु इच्छा जायते कामात् पुनः प्रयत्नेन तत्संपादने  
यत्नः । "यद्यद्धि कुरुते जन्तु तत्तत्कामस्य चेष्टितम्" इति स्मृतेः ।  
तत्तत्स्वरूपविभ्रंश स्वरूपात्प्रच्युति विस्मरणमित्यर्थः । विभ्रष्टस्तु अथ  
अन्तराममु कोशेषु तद्वारा दूरदूरेषु विषयेषु पतति गच्छति । पतितस्य  
अतिदूर नीतस्य नाश विना, स्वरूपादर्शनमेव नाश स्वरूपादर्शने सर्वदा  
देहादिषु आत्मत्वेन मन्यमानस्य तस्य मरणादिसत्त्वात् । अस्यापि  
सर्वमस्तीति भ्रान्त्या सततससारलान्त्वमेव । पुनर्नारीह ब्रह्मलाम ईक्ष्यते,  
सर्वानयस्य कारण सकल्प तस्माद्वर्जयेत् न बुर्वात् यया रोगग्रस्त वस्तून्-  
पय्यानि उत्सृजेत् तथा । स्वरूपच्युतौ महाननर्थ नागपयन्त ॥३२८॥

अतः प्रमादान्नपरोस्ति मृत्यु विवेकिनो ब्रह्मविद समाधौ ।  
समाहित सिद्धिमुपैति सम्यक्समाहितात्मा भव सावधान ॥३२९॥

अतः विवेकिनः ब्रह्मविद समाधी प्रमादात्तर मृत्युर्नास्ति ।  
सम्यक्समाहित ब्रह्मसंस्थ सिद्ध मुक्तिमुपैति । त्वमपि सावधान प्रमाद-  
रहित समाहितात्मा निरंतर ब्रह्मनिवेशितान्त करणो भव ॥३२९॥

जीवतो यस्य कैवल्य विदेहे च स केवलः ।  
यत्किञ्चित्पश्यतो भेद भय भूते यजुश्श्रुति ॥३३०॥

यस्य पुनः जीवत प्राणान्तरत केवल्य सर्वोपाधि-नवत्थ-  
विनिर्मुक्तत्वं, स पुरुषधीरेव विदेहे च देहात्तानन्तरमपि केवलः ।  
यत्किञ्चिद्भेद पश्यत यजुश्श्रुति "यदा ह्येव एतस्मिन्मदरमन्तर कुरुते,  
अथ तस्य भय भवति" इति भय भूते उत् अथ, अर स्वल्प अन्तर भेद  
स्वल्पमपि भेद कुरुते पश्यति अथ तदा तस्य भय भवति इति । पैवल्ये  
हेतुवच निर्विकल्पसमाधिनिर्द्वैतः । वक्ष्यति "उपाधिभेदात्स्वयमेव  
भयते चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः । तस्मादुपाधे क्लिप्ताय विद्वान्  
यतेतदाऽऽनन्तसमाधिनिष्ठया" इति ॥३३०॥

"तत्त्वेव भय विदुषोऽप्यनन्तस्य" इत्यन्ययजुश्श्रुत्यवंगान् । यदा  
वदावेति ।

यदाकदा वापि विपश्चित्तेषु ब्रह्माण्यनन्तेष्वनुमानभदम् ।  
पश्यत्यथामुष्य भय तदेव यदीक्षित भिन्नतया प्रमादात् ॥३३१॥

एष विपश्चित विवेकी ब्रह्मावित अनन्ते निविषपरिच्छदशून्य  
ब्रह्माणि अनुमानभदमपि इषदपि भद यदा यदीत्यथ कदा वापि  
कदाचिदपि यदि पश्यति अथ तर्हि प्रमादात् अनुवधानात् भिन्नतया  
यदीक्षित तदवामुष्य विदुष अमवानस्य भय भयानक द्वितीयाहं भय  
भवति इति श्रुते सव त परादात् योग्यामन सव वेद गययातो विदु  
अयराजान ते क्षय्यलोका भवन्तीति च ॥३३१॥

श्रुतिस्मृतिन्याय शतैर्निषिद्ध  
दृश्यन् यस्त्वात्ममर्मात् करोति ।

उपैति दुःखोपरि दुःखजात

निषिद्धकर्ता स मलिम्लुचो यथा ॥३३२॥

नति नति नह तानाम्नि किन्न नान वाचन भिदास्ति  
इत्यादिश्रुतिभि तदनुसारिणीभि स्मृतिभि अनादिमपर ब्रह्म न  
सत्तासादुच्यते इत्याद्याभि पञ्चकोशविवेचनसमय दर्शित यामश्च  
परश्चात् दृश्य दहादिन अह्वारान्त नात्मा इति निषिद्ध अन दृश्य दहादो  
यस्त्वात्ममर्मात् अहमिति धिय करोति स निषिद्धकर्ता पापी अत एव  
मलिम्लुच मलिनान्त करण यथा इतिकतव्यतामूढ दुःखोपरि दुःखजात  
उपति तथा असज्जड दुःखात्मकाना मात्मत्वदृष्ट्या दुःखोपरि दुःखजात  
उपति ॥३३२॥

तत्स्फुटयति । सत्यति ।

सत्याभिसंधानरतो विमुक्तो महत्त्वमात्मीय मुपैति नित्यम ।  
मिथ्याभिसंधानरतस्तु नश्यददृष्ट तदेतच्च चोर चोरयो ॥३३३॥

सत्याभिसंधानरत एतदप्यण सत्यनिष्ठाया रत व्यग्र पुरुष  
नित्यमात्मीय महत्त्व निविकारभनस्त्व सवपूज्यत्व च उपति । मिथ्या  
पदार्थाभिसंधानरतस्तु नश्यत यस्याव न्वन मिथ्याभूतमव तस्य कथ सत्व  
स नश्यत्यव । दष्ट तदतत यदचोरचोरयो उक्तमिद छादोग पट्टाध्याय

श्रीविवेकचूडामणिः सध्यास्तः

तप्तपरशुग्रहणदृष्टान्तेन सत्यवादी आरोपितचोरत्वकः तप्तपरशु गृह्णाति  
न्यायस्याने, तथापि सत्याबलं वनेन न दह्यते अथ मुच्यते । वस्तुतः चोरस्तु  
माह चोर इति अनृतमपि वदन् तदपरित्यजन् हरतनिक्षिप्ततप्तपरशुः  
दह्यते अथ घड्यते इति एतादृशः मलिम्लुचशब्दार्थः । चोर्यमेव निषिद्ध  
ततः अनृतवदनादि-निषिद्धपरपरश, एवं कुर्वतः मिथ्याभिसंधानस्तस्य कथ  
रात्यप्रतिपत्तिः स्यात् । अत दुःखोपरि दुःखजातं उपैतीत्युक्तम् लोक-  
व्यादपि श्रंशात् ॥३३३॥

तस्मात्

यतिरसदनुसंधि बन्धहेतु विहाय

स्वयमय-महमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत् ।

सुखयति ननु निष्ठा ग्रहणि स्वानुभूत्या

हरति परमविद्याकार्यदुःखं प्रतीतम् ॥३३४॥

ग्रहसंस्थत्वस्य तन्वास्तिन एव सगवात् यतिः सग्वानी बंधहेतु  
असदनुसंधि अग्रहचिन्ता स्वयं विहाय अयं परमात्मा अहमस्मीति आत्म-  
दृष्ट्यैव तिष्ठेत् । तत्र परमपुरुषार्थं फलमाह ननु यतः ग्रहणि निष्ठा अनन्य-  
सक्ततया स्थितिः स्वानुभूत्या स्वस्वरूप-स्य-प्रकाश-सदानुदानुभवेन  
सुखयति आनन्दयति । प्रतीतं पूर्वमनुभूतं अविद्याबाधदुःखं अज्ञानतत्कार्य-  
प्रयोगदुःखं यद्वा अविद्याया कार्यं यद्दुःखं तत् पर अत्यन्तं, हरति  
तस्मिन् शोकमारमविदिति भूते "यत्र नान्यत्तद्वति न भूमा"  
"यो वे भूमा तत्पुणम्" इति च । तादृशग्रहणि सर्वदानिष्टस्य गुतो-  
विद्या गुतः तत्कार्यदुःखं वा ॥३३४॥

समूलपातं दुःखमग्रहन् ग्रहणि ममाधानाय पराङ्मुखत्वं तात्पर्यम् ।  
वाच्यंति ।

वासाभिर्गंधिः परिवर्धयेत्फलं

दुर्वागनामेव ततस्ततोधिकाम् ।

आरुपा विवेकः परिहृत्य वाहं

व्यायमानुर्गंधि विदधीन निन्यम् ॥३३५॥

बाह्याभिराधि विषयसग, ततस्ततोधिका दुर्वासना पुनर्जन्मकरो  
मलिनवासनामेव फल परिवर्धयेत् । उक्तं हि पूर्वं “वासनावृद्धित कार्यं  
कार्यवृद्ध्या च वासना” इति । तज्ज्ञात्वा विवेके प्रमादस्य मृत्युताकथना-  
वसरे कथिते विषयसगस्य महानर्थहेतुत्वबोधकं हेतुभि बाह्यमनात्मान  
परिहृत्य बाधित्वा स्वात्मानुसंधि ब्रह्मानुचिन्तन नित्य सर्वदा विदधीत  
कुर्यात् ॥३३५॥

बाह्यानुसंधं बन्धकत्वमुक्त्वा तन्निरोधे त्रमेण परमपुरुषाथ फलमाह ।  
बाह्य इति ।

बाह्ये निरुद्धे मनस प्रसन्नता मन प्रसादे परमात्मदर्शनम् ।  
तस्मिन्नुदृष्टे भवबन्धनाश बहिर्निरोध पदवी विमुक्ते ॥३३६॥

अत्यन्त व्यवहर्तोपि सुप्तोत्थितस्य मन प्रसन्न तिष्ठति । अत  
एव “सप्रसाद” इत्युच्यते सुपुप्ति सुपुप्ती बाह्याभावात् । प्रमत्त-  
पुरस्सरमेव घन्धवे बाह्ये निरुद्ध आनन्दाविर्भावेन प्रसन्नताया किमु  
वक्तव्यम् । मन प्रसादे प्रसादे सर्वदा बुद्धि हानिरस्योपजायते ।  
प्रसन्नचेतसो-ह्यागु बुद्धि पयवतिष्ठते’ इतिगीतावचनात् पुञ्जमुक्त निर्मल  
मन सूक्ष्म एषाय, परमात्मदर्शन-सगर्थ भवति । मनसंवेदमाप्तव्य,  
मनसैवानुद्विष्टव्य, वृक्ष्यते त्वग्रथया बुद्ध्या मूर्धन्या इत्यादिश्रुते । तस्मिन्  
सुदृष्टे अनन्यतया निरतर साक्षात्प्रमाण, भवबन्धनाश ससारहेतूना  
सर्वेषामध्यासाना समूलघात अत बहिर्निरोध वृत्तेर्बाह्यानाल्लवन विमुक्ते  
पदवी प्रापिता ॥३३६॥

एव बहुप्रकारे विपर्ययान्ताया दोषान् दर्शयित्वा ततस्सर्वात्मना  
निवर्तयितु तादृशाना लज्जायै कुत्सा करोति । य पण्डित इति ।

क पण्डित सन् सदसद्विवेकी श्रुतिप्रमाण परमार्थदर्शी ।  
ज्ञानिन्ह कुर्यादसतोवल्य स्वपातहेतो सिशुवन्मुमुक्षु ॥३३७॥

परमार्थं द्रष्टु शील अस्यास्तीति परमार्थदर्शी अत एव श्रुतिप्रमाण  
श्रुतिरेव प्रमाण यस्य स, अतीन्द्रियायै तस्या एव मानत्वात्, तत “यो  
यं भूमा तदमृत अतोन्वदात” इतिश्रुत्या सदसद्विवेकी ब्रह्म सत्य

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्या

जगन्मिथ्येति ज्ञानवान् तेन पण्डित पण्डा ज्ञान अस्य सजातेति पण्डित  
वस्तुयायात्स्य-ज्ञानवान्, मुमुक्षु वन्धनिवृत्ति कामयमान स्वपातहेतो  
स्वस्य अधोघ पतनार्थं हि निश्चयेन ज्ञानं असत् अनात्मन अवलम्ब  
समाधायण क कुर्यात् । तत्र दृष्टान्त शिशुवदिति, शिशुहि अज्ञानात्  
उपरिभागादध पतेत् सर्पदीपादिक गृहीयात् । अथ तु ज्ञानी । अत  
विवेकिना अप्रमादेन ब्रह्मसत्येन भवितव्यमिति भाव ॥३३७॥

पदार्थान्वयबोधायबोध-रूपविभिन्नधर्मधिययो मुक्तिजागरणयो यथा  
एकस्मिन् समानकालिकत्वं नास्ति एव देहाद्यभिमानमुक्तयो इत्याह ।  
देहादीति ।

देहादि-ससक्तिमतो न मुक्ति  
मुक्तस्य देहाद्यभिगत्यभाव ।  
मुक्तस्य नो जागरण न जाग्रत  
स्वप्नस्तयोर्भिरगुणात्थयत्वात् ॥३३८॥

“न स पुनरावर्तत ” इति श्रुत्या मुक्तस्य तु पुन देहाद्यभिमानो  
नैव भवति । यदि भवति न स मुक्त विज्ञातब्रह्मतत्परय यथापूर्वं  
न सत्सृति । अस्ति चैव स विज्ञातब्रह्मभावो वहिर्मुक्त ” इति हि वदयति ।  
अन्वय स्पष्ट ॥३३८॥

मुक्तस्वरूपमाह । अन्तरिति ।

अन्तर्बहिस्त्वं स्थिर-जगमपु  
ज्ञानात्मनाधारतया विलोपय ।  
त्यक्तातिलोपाधि-रसण्डरूप

पूर्णात्मना यस्मिन् एव मुक्त ॥३३९॥

स्थिरजगमपु षगजरेषु यन्तुषु अन्तर्बहि ज्ञानात्मना अपातया  
स्य स्वात्मान विलोपय माशात्तत्वं त्यक्तागिगोपाधि त्यक्ता गाधिता  
अगिता उपाधय अज्ञातात्मात्वं यो ग त्यक्तागिगोपाधि । अ  
गतात्तरूप देवतात्तरूप-परिच्छेद-य-मन्त्रिदा-र-य-रूप पूर्णात्मना

श्रीविश्वेश्वरामणि. सत्याख्य.

देहात्मना तिष्ठत अत एव बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनस विपयानुभवे प्रकर्षेण सक्तमनसः, पण्डीबहुव्रीहि, तेन विषयचिन्तन सकल्प. कामश्च कथिता । तत तत्तत्त्रिग्या कुचंत विषयलाभार्थं व्याप्रियमाणस्य वृक्षस्याग्रहण कथनु घटते युज्यते । अत सन्यस्ताखिल-धर्मकर्म-विषयं धर्मश्च कर्माणि च विषयाश्च धर्म-कर्म-विषया अखिलाश्च ते धर्म-कर्म-विषयाश्च संन्यस्ता यैस्तै मन्यस्ताखिल-धर्म-कर्म-विषयं धर्मं वैदिक कर्म लौकिक विषयाश्च शब्दादय निरुप्यात्म-निष्ठापरं नित्या या आत्म-निष्ठा तस्या परै आसक्तै सा परा प्रधानमूता येषा तै इतिविग्रहेणया तदासक्तै । तत्रहेतु आत्मनि सदानन्देच्छुभिरिति तै तत्पञ्च, यत्नत. कारणीय वृक्षग्रहणमित्यन्वय ॥३४१॥

निरुप्यात्मनिष्ठा सार्वान्ध-मिद्विहेतुस्त्वयं श्रुतिप्रमाणव इत्याह ।  
मर्वेति ।

सार्वान्धसिद्धये भिक्षो कृतश्रवणकर्मण ।  
समाधि विदधात्येषा ज्ञान्तो दान्त इतिश्रुति ॥३४२॥

ग्रहणनिष्ठगुरुमुवात् पृन श्रवणरूप वेदान्तवाक्य-सदयंश्रवणरूप धर्म येन स, भिक्षु मन्यामी कृतश्रवणवर्मा तस्य सार्वान्धसिद्धये वैयत्यरूप-सर्वात्मभावनिष्पत्तये एषा 'ज्ञान्तो दान्त' इतिश्रुति "तस्मादेव-विच्छान्तो दान्त उपरात्मनिशु-स्ममाहितदश्रदात्रितो भूत्वाऽन्ये-वात्मान पश्येत्" इतिश्रुति बहिरन्त बन्धनरोपेन अनालक्षितयाहवृत्ति आत्मसाक्षात्काराय निरन्तर समाधि भूयादिनि गमाहितगन्धेन गमाधि विदधाति बन्धन्यन्वेन योग्यमतीत्यर्थ ॥३४३॥

तत्र युक्तिमाह । आरूढशक्तेरिति ।

आरूढशक्तेरिहमो विनाश  
कतुं न दास्य महमापि पण्डितै ।

ये निर्विबल्पाग्न्य-ममाधिनिष्पन्ना  
तानन्तराऽनन्तभया हि वामना ॥३४३॥

ये निर्विबल्पाग्न्य-ममाधिनिष्पन्ना, समाधि द्विगुण गतिवन्तर निर्विबल्पाग्न्येति. "ज्ञानाद्यविलम्बेन ज्ञेये दातुमि चेवने । नतवाग-

कारितया चित्तवृत्तेरवस्थिति । सद्भि स एव विज्ञेय समाधि  
सर्विकल्पक । मृद एवावभानेपि मृण्मयद्विषयानवत् । सन्मात्रवस्तुभानेपि  
त्रिपुटी भाति सन्मयो । समाधिरत एवाय सवित्प इतीयेत । ज्ञानादि-  
भावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिदुष्टा । मनसो निर्विकल्पकत्वात् समाधिर्योग-  
संज्ञिन । जल निक्षिप्त उवण जलमात्रतया स्थित । पृथङ्-नभाति विन्त्यभ  
एवमेवावभाते । यथा तथैव सा वृत्ति ब्रह्मात्रतया स्थिता । पृथङ्-  
नभाति ब्रह्मेवाद्वितीयमवभासत । ज्ञानादिवल्पनाभावान्मतोय निर्वि-  
कल्पक । वृत्ते मद्भादनाधाम्या उभयोर्भेद इष्यते इति सदृष्टान्त  
तत्तत्क्षण । निर्विकल्पकत्वात्तया यस्य निर्विकल्पात् सनासो रामाधिद्व  
विना, आरुढजक्ते आरुढा प्रनृडा दक्षि नानाधर्मजनितया यस्य तस्य  
बहून् बहुवारम्य विनाश पण्डितैरपि वृत्तवेदान्तश्रयणैरपि सहसा यतुं न  
शक्य । हि यस्मात् वामना अनात्मसत्त्वात् अनन्तमथा अनन्ता  
क्षमस्यावा भवा जन्मानि यामा ता यदा अनन्तैर्वैदुभि पदार्थे भवा  
उत्पन्ना । अत गण-विधवात्तनाशायार्थं निर्विकल्पकममाधिरेव शरणम्  
॥३४३॥

समूहमनष्टाया विक्षेपजक्ते ग्रन्थव्यवहारमाह । अहमिति ।

अह्वुर्ध्वय मोहिन्या योजयित्वावृत्तेर्वलात् ।

विक्षेपदावित पुरष विक्षेपयति तद्गुणं ॥३४४॥

यदानात्मनि आत्मदुष्टि करोति तदा स्वप्न तिरोहित भवति  
“यथापट्ट पत्रा” इति पूर्वोक्तरीत्या मोहिन्या रूपपञ्चादिवया  
अह्वुर्ध्वय योजयित्वा तत्प्रयाज्यावृत्त स्वप्नाप्राप्तस्य यत्नात् पुरष  
पण्डितमपि, विधापद्विन भ्रमपराजनिवा गतपवामादिभूतिजनित  
च, तद्गुणं स्वरीपरायै मर-पादिभ्यं विक्षेपयति यत्नहृ यहीरानयति  
दूरमात्मन स्वयं ॥३४४॥

विक्षेपयतिविजया विपत्ता विधातु  
निक्षेपमावर्ण दक्षिनिवृत्त्यभावे ।

दृग्दृश्ययो स्फुटपयोजलवद्विभागे  
नश्येत्तदावर्ण-मात्मनि च म्रभावात् ॥



श्रीविवेकचडामणि सव्याख्य

निस्सहायेन भवति प्रतिबन्धशून्यो  
निक्षेपण नहि तदा यदि चेन्मृषार्थे ॥३४५॥

विक्षेपति । निक्षेपमावरणशक्तिनिवृत्त्यभावे विक्षेपशक्तिविवर्ज  
विधातु कर्तुं पिपम असाध्य इत्यर्थः । दृग्दृश्ययो आत्मानात्मनो स्फुट  
पयोजलवत् क्षीरक्षीरवत् भेदेन मनस्त्रोदया हसं परमे कृते सति आत्मनि  
तदा स्वभावात् अत्यन्त एव आवरण नश्येत् । तथा-विवेकानन्तर आवरण-  
भगार्थं करणीयास्त कोपि नास्ति । तदामृषार्थे मिथ्याभूते अनात्मनि  
निक्षेपण मनस न चेद्यदि विक्षेपशक्तिविवर्ज निस्सहायेन प्रतिबन्धशून्य  
भवति ॥३४५॥

एतादृशविवेके स्फुटबोध हेतुमाह । सम्प्रति ।

सम्यग्विवेक स्फुटबोधजन्य  
विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम् ।

छिनत्ति मायावृत्त-मोहबन्ध  
यस्माद्विभुक्तस्य पुनर्न ससृति ॥३४६॥

स्फुट असदिग्य, अविपर्यस्त यो बाध श्रुत्याचार्यप्रसादजनित  
महावाक्यार्थानुभव तज्जग्य तदनन्तरबालि गम्यग्यिवेक ' ब्रह्म सत्यं  
जगन्मिथ्या ' इत्येवमस्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्व आत्मानात्मयथात्म्य, विभज्य  
क्षीरक्षीरवत्पृथक्कृत्य मायावृत्तमोहबन्ध मायया अविषया वृत्त यो मोह  
स्वहृत्तिरोपान, तेन या बन्ध अनात्मज्ञात्मबुद्धि त छिनत्ति समूलबाध  
वपति । तत्र मानमाह यस्माद्विभुक्तस्य पुनर्न ससृतिगिनि ' न त पुनरा-  
यर्तते ' इति श्रुत, नहि क्षीरादुद्धृतमाज्य पुन क्षीरीभवति तथा  
स्पृष्टनाशनन्दावारता यात मन न पुनरनात्मगु गच्छत इति भाव  
॥३४६॥

चतुर्पदादर्थ-मुष्णादयनि । पगवरेनि ।

परावरेवत्-विवेकवर्द्धि दहत्यदिद्यागहन एतेषाम् ।  
वि स्यात् पुनर्गुणरक्षणम् बीज अद्वैतभाव समुपेदुषोम्य ॥३४७॥

दुःखाहकारादिविलक्षणतया मच्चिदानन्दस्वरूपेण प्रकाशमान सदानन्द-  
घन कालत्रयावाच्यानन्दस्वरूप परात्मा इत्यात्मयाथात्म्य कथितम्  
॥३५२॥

इत्थ विपश्चित् सदसद्विभज्य  
निश्चित्य तत्त्व निजबोधदृष्ट्या ।

ज्ञात्वा स्वमात्मान-मखण्डबोध

तेभ्यो विमुक्त स्वयमेव शाम्यति ॥३५३॥

इत्थ पूर्वोक्तप्रकारेण विपश्चित् श्रुतिप्रमाण परमार्थदर्शो मुमुक्षु  
सत् ग्रहा अरात् अविद्या-नात्यार्य विभज्य सत्यत्वेन मिथ्यात्वेन च निजबोध-  
दृष्ट्या विचारजनित-स्वानुभवेनेनेन, तत्त्व विनिश्चित्य वस्तुयाथात्म्य  
निश्चयेन विज्ञाय स्वमात्मान अखण्डबोध ज्ञात्वा तेभ्यो विमुक्ता,  
अनात्मस्य अविद्यादि-देहान्तेभ्य गच्छादिभ्यो विषयेभ्यश्च विनोपेण  
मुक्त, वासनाया अप्यभाव विज्ञेय मुक्तो स्वयमेव शाम्यति अनावृत-  
स्वरूप-प्रकाश-रूपणायतिष्ठत इत्यर्थ ॥३५३॥

एव वदा भवतीति ज्ञातव्यमत आह । अज्ञानति ।

अज्ञानहृदयग्रन्थोनिश्चेष-विलयस्तदा ।

समाधिनाऽविकल्पन यदाद्वैतात्मदर्शनम् ॥३५४॥

अविकल्पन निर्विकल्पेन समाधिना पूर्व कथितलक्षणेन यदा  
अद्वैतात्मदर्शन निर्भेदपरमात्मसाक्षात्कार तदा अज्ञानहृदयग्रन्थे अज्ञान-  
प्रयोज्य य हृदयग्रन्थि विज्जडतादात्म्य तस्य निश्चेषविलय वासनया  
साक नाश इत्यर्थ ॥३५४॥

स्वमहमिदमितीय वत्पना बुद्धिदोषात्

प्रभवति परमात्मान्यद्वये निर्विशेषे ।

प्रविलसति समाधा-वस्य सर्वोविकल्प

विलयनमुपगच्छेद् वस्तुतत्त्वावधूत्या ॥३५५॥

बुद्धिदोषात् तमोरजोत्पान् त्व अह दद इतीय वत्पना प्रभवति  
ग्रन्थे अत एव निर्विशेषे परमात्मनि भागते । अस्य विदुष समाधि

श्रीविवेकचूडामणि सञ्ज्ञास्य.

प्रविलसति यस्तुतत्वावधृत्या वस्तुयाथात्म्यावधारणेन, सर्वं. विकल्पः  
विलयनमत्यन्तनिवृत्ति उपगच्छेत् प्राप्नुयात् ॥३५५॥

ससामग्रीक समाधि तत्फलं च एकश्लोकेन विशद कथयति ।  
शान्त इति ।

शान्तो दान्त परमुपरत क्षान्तियुक्तस्समाधि  
कुर्वन्नित्य कलयति यति स्वस्य सर्वात्मभावम् ।

तेनाविद्या-तिमिरजनितान् साधु दग्ध्वा विकल्पान्  
ब्रह्माकृत्या निवसति सुख निष्क्रियो निर्विकल्प ॥३५६॥

शान्त निगृहीतमना दान्त निरुद्धबाहोन्द्रिय, परमत्यन्त उपरत  
अनालवितवाह्यवृत्ति, क्षान्तियुक्त द्वन्द्वसहिष्णु, समाधि निर्विशेषे ब्रह्मणि  
चित्तस्य सस्थापन नित्य कुर्वन्त्यति स्वस्य सर्वात्मभाव केवलीभाव कलयति  
अनुभवति, तेन निर्विकल्पसमाधिना, अविद्यं च तिमिर अन्धकार तेन  
जनितान् उत्पादितान् विकल्पान् विविधकल्पना साधु दग्ध्वा भस्मीकृत्य  
अत्यन्तमुच्छिद्य निष्क्रिय निर्विकल्प ब्रह्माकृत्या ब्रह्माकारेण सुखं  
निवसति । एतेन " प्रियानादो भवेच्छिन्तानाद्योस्माद्वासनादयः । वासना-  
प्रक्षयो मोक्ष स जीयन्मुगत इष्यते " इत्युक्त कथित भवति । तदर्थं  
निष्क्रियो निर्विकल्प इति विशेषणद्वयम् ॥३५६॥

एव मुक्तिसिद्धये समाध्यर्थं अन्तर्बहिःप्रपञ्च-प्रविलापन हेतु, न  
केवल बाह्यमन्दर्मुक्तिरित्याह । समाहिता इति ।

समाहिता ये प्रविलाप्य

बाह्य श्रोत्रादि चेतस्स्वमह चिदात्मनि ।

त एव मुक्ता भवपाशबन्धै

नान्येतु पारोक्ष्यक्याभिधायिन ॥३५७॥

ये पुरुषा. बाह्य श्रोत्रादि, एतेन विषयादीनां चिदात्मनि प्रविनापन  
वर्णितमेव भवति । अहं शृणोमीत्यादि-सादात्म्याध्यामविषयतया  
श्रोत्रादीत्युक्तं । आन्तर चेत-मनः स्व स्वकीय, अहं अहंकार, चिदात्मनि  
प्रविलाप्य चिदात्मव्यतिरेकेण आन्तर या बाह्य वा विमपि नान्नीति

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

उक्तमर्थं दृष्टान्ते विशदयन् दाष्टान्तिके योजयति । त्रियेति ।

क्रियान्तरासमितमपास्य कीटकौ  
ध्यायन् यथा लि ह्यलिभावमृच्छति ।

तथैव योगी परमात्मतत्त्व  
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥३६०॥

कीटक त्रियान्तरासक्ति अपास्य त्यक्त्वा यथा अलि भ्रमर ध्यात्वा  
स्वात्मानं हिनस्तीति भयादेव चिन्तयित्वा अलिभाव भ्रमरभाव स्वयमपि  
भ्रमरत्वं ऋच्छति प्राप्नोति । तत्र पूर्वोदारम्य भेदएव पश्चादपि अयं  
भ्रमरो भवति नतु ध्यातव्यमरामद । अत्र भेदस्याज्ञानित्वात् अभेदध्यान-  
जनित-साक्षात्कारेण अज्ञान नष्टे भेदप्रसक्तेरेवाभावात् तथैव कीटक-  
वत् एकनिष्ठया अनन्यसक्ततया परमात्मतत्त्व ध्यात्वा तदेव याथात्म्यं  
समायाति । नष्टाज्ञानिकभेद अभिव्यक्त-स्वतात्त्विकस्वरूपं भवतीति  
भावः । अतएव समायातीति समुपसर्गः । ध्यानेन अत्यस्याप्यन्यभावे  
समव्रति स्वध्यानेन स्वस्वरूपाप्नोति क प्रत्यह इतिमाने तत्रतत्र भ्रमर-  
कीटन्यायोदाहरणमिति मन्तव्यम् ॥३६०॥

अतीव सूक्ष्म परमात्मतत्त्व  
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।

समाधिनाऽप्यन्त-सुसूक्ष्मवृत्त्या  
ज्ञातव्यमार्थ-रतिबुद्धबुद्धिभिः ॥३६१॥

निर्गुणतया अतीव सूक्ष्म पर पञ्चरीशविलक्षण आत्मतत्त्व त्रिविध-  
परिच्छेदरहितं स्वप्रकाश-सदानन्दरूप आत्मयासात्म्यं स्थूलदृष्ट्या  
शरीरादि-स्थूलवस्तुविपरिष्या दृष्ट्या अन्तःकरणवृत्त्या प्रतिपत्तुं व्याप्तुं  
नार्हति । अतिगूढबुद्धिभिः "ज्ञानमुत्पद्यते पुमां क्षयात्पापस्य कर्मणः"  
"वपाये नर्मभिः परे ततो ज्ञानं प्रवर्ति" "दृश्यते त्वय्यया बुद्ध्या  
सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" "ज्ञाप्रमादेन विन्दुमन्त्रः तन्मुनिः परमने  
निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादिवरानुगारेण निर्मलान्तराग्ने आर्षे  
श्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण समाधिना अत्यन्तसुसूक्ष्मा प्रपञ्चविषयमज्ञा  
अपञ्चाकारा या वृत्तिः तया ज्ञानव्य विषयोतर्कव्यम् ॥३६१॥

सदृष्टान्त मनोर्नैर्मल्ये ध्यान कारणमाह । यथेति ।

यथा सुवर्णं गुटपाकशोधित  
त्यक्त्वा मलं स्यात्सगुणं समृच्छति ।  
तथा मनस्सत्त्व-रजस्तमोमलं  
ध्यानेन सत्यज्यं समेति तत्त्वम् ॥३६२॥

सुवर्णं गुटपाकशोधित, स्वर्णवर्तितोष्णायक मलापनयार्थं त्रियमाण-  
पाकविशेषं गुटं निशिष्य रक्तामृदादिसंयोगेन त्रियमाणान्निसंयोगं गुटपाक-  
तेन शोधितं वियोजितमलं यथा मलं त्यक्त्वा स्वात्मगुणं भास्वरत्वादिकं  
समृच्छति गम्यमाणोति तथा मनः अन्तःकरणं सत्त्व-रजस्तमोमलं यद्यपि  
सत्त्वस्य रजसा तमसा वा अग्नित्वमयं मन्त्रं दुष्टं तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य  
रक्षाध्यासापनयं नुरु इत्युक्तत्वात् निष्ठेन्द्रो नित्यसत्त्वस्यो भवेति  
गीतोपदेशाच्च । तथापि सत्त्वं शुद्धं नश्यति इत्युक्तत्वात् 'स गुणात्  
समतीत्येतान् ब्रह्मभूयान् कल्पते निरन्तर्गुण्यो भवार्जुनः' इति  
भगवद्ब्रह्मनाच्च निर्गुणं ब्रह्म प्राप्नुमनोऽपि रजस्तमोविनाशार्थं  
सत्त्वावलम्बनं त्यजतीति भावः । नास्वादयोद्वयं तत्र निरन्त-  
प्रज्ञया भवेत् "इतिगोडपादोक्ते सत्त्वकार्यं रसास्वाद रूपवत्तद्व्य इत्युक्ते  
"क्षेपं त्यजन्ति तत्त्वज इत्युक्ते 'भूयश्चान्ते विद्वन्मायानिवृत्तिः"  
इति शुद्धसत्त्वप्रधानाया मामायाश्च निवृत्तिश्रुते मिथ्यात्वेन शुद्ध-  
सत्त्वस्यापि मन्त्रं मन्त्रव्यम् । ध्यानेन सत्यज्यं, तत्त्व ब्रह्मत्वं ('नेह  
नानास्ति निचन' इति गुणगुणिभावस्यानिष्टत्वात्) समेति ब्रह्मण  
निर्गुणत्वात् सत्त्वगुणसत्त्वे तत्त्वप्राप्तेरमभवात् । नास्त्वयथा अण्डाकार-  
वृत्तेरपि मूलज्ञानप्रजिवाया विलयेन अधिष्ठानमात्रावरोपत्य भवतीति  
भावः ॥३६२॥

निरन्तराभ्यासवयात्तदित्य  
पवव मनो ब्रह्मणि लीयते यदा ।  
तदा ममाधि स विवत्पर्वजित  
स्वतोद्वयानन्द-रमानुभावः ॥३६३॥

इत्थ निरन्तरान्यासवशात् पक्व विपरीतभावनादि-दोषशून्य मन  
यदा ब्रह्मणि लीयते निर्वृत्तिक ब्रह्माभावदोष भवति तदा स्वतः अप्रयत्नेन  
अद्वयानन्दरसानुभावक अद्वय य आनन्द ब्रह्मस्वरूपभूत स एव रस  
“रसो वै स” इति श्रुते परमप्रेमास्पदत्वान्च रसत्व । तदनुभवजनक  
विकल्पवर्जित स अहमादि-सकलविश्ववासनाक्षयहेतु समाधि निर्वि-  
कल्पाख्य इत्यर्थः ॥३६३॥

सत्फल चात्स्न्येनोपपादयति । समाधिनति ।

समाधिनानेन समस्तवासना-

ग्रन्थेर्विनाशोऽपिलवर्मेनाश ।

अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा

स्वरूपविस्फूर्ति-रत्यन्त स्यात् ॥३६४॥

अतः निर्विकल्पवाक्येन समाधिना योगेन समस्तवासनाग्रन्थे  
ग्रन्थिवद्दुर्बलतया स्थितानां समस्तवासनानां मिथ्याज्ञान-जनितानां  
विनाश अत्यन्तमुच्छिन्नं अरिलरमं नाश मयितानां सर्वेषां पर्माणं  
नाश । भिद्यते हृदयग्रन्थि, क्षीयन्ते चास्य गर्भाणि इति श्रुते । अन्तर्बहिः  
सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरत्यन्त स्यात् स्पष्टम् ॥३६४॥

अतः

श्रुते शतगुण विद्यात्मनः मननादपि ।

निदिध्यास लक्षगुण अनन्तप्रिविविचयम् ॥३६५॥

श्रुते श्रवणान् स्पष्टम् ॥३६५॥

निर्विद्यात्प्राप्तमाधिना स्पष्ट

ग्रन्थतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।

नान्यथा चान्यथा मनोमते

प्रत्ययान्तरविमिश्रित भवेत् ॥३६६॥

निर्विचयक-समाधिना ब्रह्मज्ञान स्पष्ट वर्तमानत्वात् अगम्यो  
ध्रुव निदर्शय । अन्यथा प्रयागन्तरण नावगम्यते । यत्र विमुक्त  
मनोमतेदात्तया प्रत्ययान्तरविमिश्रित वर्तमानत्वात् भवेत् ॥३६६॥

अतस्समाधत्स्व यतेन्द्रियस्सन् निरन्तर शान्तमना प्रतीचि ।  
विध्वसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया कृत सदेकत्वविलोकनेन ॥३६७॥

अतः ग्रहातत्त्वस्फुटावगमार्थं सदा यतेन्द्रियः सन् यतानि निगृहीतानि  
इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि येन स यतेन्द्रियः निरन्तरः सन्ततः प्रशान्तमना-  
शान्तः निर्विकारः मनः यस्य स शान्तमनाः सन् प्रतीचिः प्रत्यगात्मनि  
समाधत्स्व मनः संस्थापय, तज्जन्येन सदेकत्वविलोकनेन गतसकलभेद-ग्रहा-  
साक्षात्कारेण, अनाद्यविद्यया अनादि या अविद्या सर्वसंसारमूलभूता  
तया दृष्टं ध्वान्तं स्वरूपाप्रकाशं विध्वसय विनाशय ॥३६७॥

निर्विकल्पक-समाधौ ज्ञेयतोपायानाह । योगस्येति ।

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्मनरोधोपरिग्रहः ।

निराशा च निरोहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥३६८॥

योगस्य बाह्यसफलवृत्तिनिरोधस्य वाङ्मनरोधः सौतः प्रथमं द्वार-  
कारणं व्यवहारेण मनोवृत्तीनां वर्धमानत्वात् । अपरिग्रहं शरीर-  
स्थितिमान-साधनातिरिक्त-भोगसाधनारब्धीकारं तत्स्वीकारे तद्वश्यादौ  
व्याप्तिप्रमाणचित्तस्य वृत्तिनिरोधस्यासंभावितत्वात् । आशयाः कर्मणि  
च चित्तं विक्षिप्यते जनसंघे स्थितौ च अतः निराशा च वैराग्यं, निरोहा  
च कर्मस्य उपरतिः, नित्यमेकान्तशीलता एकान्ते विजने देहे गील स्थिति  
यस्य एकान्तगीलः स तद्भावे तत्ता च योगस्य हेतवः ॥३६८॥

एकान्तशीलतायाः योगहेतुत्वं उपपादयति । एकान्त्येति ।

एकान्तस्थिति-रिन्द्रियोपरमणे हेतुदमश्चेतसः

सरोधे वरणं शमेन विलयं यायादहवासना ।

तेनानन्दरसानुभूतिरचला ग्राही सदा योगिनः  
तस्मान्चित्तनिरोध एव सततं कार्यं प्रयत्नान्मुने ॥३६९॥

एकान्तस्थितिः विजनदेश-निवासः इन्द्रियोपरमणे बहिर्इन्द्रियाणां  
निर्वापारताया हेतुः । बहिर्इन्द्रियोपरम एव दमः स चेतसः अन्तःकरणस्य  
सरोधे वरणं " इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः " इति गीतोक्तेः ।

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्या

विजनदेशे शब्दादिविषयाभावात् श्रोत्रादिष्ववहिर्मुखेषु अन्तःकरण  
आत्माभिमुख्यं चिन्दत इति भावः । स एव शमः । शमेन अहवासना  
विलयः यायात् प्राप्नुयात् तेन योगिनः अनात्मभ्यो निरुद्धवृत्तिकस्य सदा  
सर्वदापि ब्रह्मी आनन्दरसानुभूतिः अनावृत्तब्रह्मस्वरूपा-नन्दाभिव्यक्तिः,  
अचला निश्चला व्युत्तिबून्या । तस्मात् बाह्येभ्यश्चित्ते निरुद्धे अहवासनाया  
अपि क्षयेण ब्रह्मानन्दानुभवस्य निरर्गलत्वात् मुने मननशीलस्य प्रयत्नात्  
सततं चित्तनिरोधः एव कार्यः । निर्विकल्पक-समाधिः सदानुष्ठेय इत्यर्थः ।  
॥३६९॥

“योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्मनरोधः” इत्युक्तं । तत्र प्रमाणं “यच्छे-  
द्वाङ्मनसी प्राज्ञः तवच्छज्ज्ञानात्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्-  
यच्छेच्छान्ता आत्मनि” इति कठश्रुतिः तामर्थ्यं आह । वाचमिति ।

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ  
बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि ।  
त चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे  
विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व ॥३७०॥

वाचं वाङ्मनस्य आत्मनि मनसि नियच्छ निरुद्धि, वाङ्मयापारं  
विहाय आदौ मनोमायेणायतिष्ठस्व इत्यर्थः । परवादीनामिव यदा मोहः  
दृढः भवति ततः सकल्पविकल्पात्मकं मनोरूपात्मानं केवलाध्यवसाय-  
लक्षणायां बुद्धौ नियच्छ । तदा वास्यादिरहितं तक्षेव कश्च्यपि बुद्धि-  
बहिर्म्भापारेभ्यः शान्ता भवति । ता शान्ता धियं बुद्धिसाक्षिणि व्युत्थ्युपहिते  
चैतन्ये बुद्धेरपाधित्वं भवत्वा केवलावबोधमात्रे यच्छ । शोधितत्वपदार्थं  
जानीहीत्यर्थः । तच्चापि पूर्णात्मनि त्रिविधपरिच्छेदशून्ये निर्विकल्पे निर्गुणे  
तत्पदलक्ष्ये ब्रह्मणि विलाप्य एकीकृत्य परमां आत्यन्तिकीं शान्तिं मोक्षरूपां  
भजस्व ॥३७०॥

वृत्तिनिरोधस्य स्वरूपानन्दाभिव्यञ्जकत्वं सोपपत्तिवमाह । देहेति ।  
देहप्राणैन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिभिरूपाधिभिः ।

यैर्वैवृत्तेस्तमामयोगः तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥३७१॥  
४



तन्निवृत्त्या मुनेस्सम्यक्सर्वोपरमण सुखम् ।  
सदृश्यते सदानन्द-रसानुभव-विप्लव ॥३७२॥

यथा स्यन्दोपि स्फटिक नीलवस्त्रादियोगेन नीलादिरूपवत्वेन  
भाति स्वयं स्वच्छ सत्रव, तथा अस्य आत्मन दहप्राणन्द्रिय-मनो-बुध्यादिभि  
आदिपदेन आनन्दमयपदेश गृह्यते । यै यं वृत्त समायोग आकारताम्य-  
सवन्ध आन्तरैर्वा बाह्यैर्वा कोशै तत्तद्भाष्य तत्तत्तादात्म्य । तेन तदीयधर्मे  
धर्मवत्त्वेन अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपा पञ्च क्लेशा । अस्यैव योगिन  
बहिर्वृत्तौ निरुध्यत । तत्र ह्यु मुनरिति कोशपञ्चविवेक प्रकारणोक्त  
युक्तिभि ताननात्मत्वेन निपद्यत । तत्र ब्रह्मवृत्ती-गुरुवंत तन्निवृत्त्या  
दहासुपाधिनिवृत्त्या सर्वोपरमण सर्वेषा दुःखात्मकाना अनात्मना उपरमण  
अमान यत्र सुख तत्तत्सर्वोपरमण सुख सम्यग्भवतीति ३५ । तत्र मान  
सदानन्दरसानुभयविप्लव सदृश्यत इति । विप्लव मग्नता पूर्णता वा,  
निदाघतप्तस्यजाह्नवी हृदनिमग्नस्य यथा अन्तर्बहिरानन्दस्फूर्ति तथा सर्वो  
पाधिनिमुक्तस्य ज्वलीभूतस्य अक्षयानन्द-स्फूर्तिरिति भाव ॥३७३॥

एतस्मिन् निर्विकल्पकयोगे हतुभूत सर्वोपाधिनिवृत्तौ वैराग्य  
योगस्य प्रथम द्वार इति सूत्रस्थानीय श्लोक निराशानन्देन वक्षित  
'विवेकवैराग्यगुणातिरेकात् इतिश्लोके मनश्शुद्धिहृतुतया ताम्या  
बृहदाम्ना भवितव्यमद्य' इत्युक्त तीव्रतम अन्तरासाधनमिति निरूपयति ।  
अन्तस्स्याग इति ।

अन्तस्स्यागो बहिस्स्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।  
त्यजत्यन्तर्बहिस्सग विरक्तस्तु मुमुक्षया ॥३७३॥  
बहिस्तु विषयैस्सग तथान्तरहमादिभि ।  
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तु ब्रह्माणि निष्ठित ॥३७४॥

अन्तर्बहिर्बिन् यतमानाना सर्वेषा अनात्मना त्याग विरक्तस्यैव  
युज्यते उपपद्यते । तत्र ह्यु विरक्तस्तु विरक्त एव मुमुक्षया कैवल्येच्छया-  
अन्तर्बहिस्सग त्यजति । अहमभाव न करोति । सग विभज्य दर्शयति  
बहिरिति, बहिस्तु विषयै पुत्रादिभि शब्दादिभिश्च सग, तथा अन्त

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्या

अहमादिभि देहप्राणमनोबुद्धय आदिपदार्थं ते सग अवास्तव तादात्म्य-  
रूपसम्बन्ध । इममुभयविधमपि सग विरक्त एव निष्काममनस्क एव त्यक्तु  
शक्नोति । त्यागे बीजमाह ब्रह्माणि निष्ठित इति । ब्रह्मण्येव नितरा  
रावेदा स्थित अप्रच्युतमना इत्यर्थं ॥३७४॥

ब्रह्मात्मना सस्वितौ वैराग्यवद् बोध कारणमाह । वैराग्येति ।

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिचत्

पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।

विमुक्ति-सौधायतलाधिरोहण

ताभ्या विना नान्यतरेण सिध्यति ॥३७५॥

ह विचक्षण त्व पुरुषस्य मुक्ति प्रप्तत वैराग्यबोधौ वैराग्य च  
बोधश्च वैराग्यबोधौ वैराग्यमुक्त बोध आत्मनात्मविवेकजन्य आत्म-  
स्वरूप-याथात्म्यानुभव पक्षिचत् पक्षिण इव पक्षिचत् पश्यन्ताव्रति पक्षी  
विजानीहि । तत्र हेतु विमुक्ति-सौधायतलाधिरोहण विमुक्तिरूप सौधाय-  
तल रम्यरम्यमुच्चस्थान तस्याधिरोहण प्राप्ति, ताभ्या समुच्चिताभ्या  
विना अन्यतरेण वैराग्येण वा बोधन वा एव न सिध्यति । नहि पक्षी  
एकेन पक्षेण अम्बरताल गाहितुमीष्ट तद्वत्प्रकृतेपीतिभाव ॥३७५॥

तदुपपादयति । अत्यन्तेति ।

अत्यन्तवैराग्यवत् समाधि

समाहितस्यैव दृढप्रबोध ।

प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति

मुक्ततात्मनो नित्यमुखानुभूति ॥३७६॥

अत्यन्तवैराग्यवत् अत्यन्त यथा मन पुन नैव सज्जते अनात्मम्  
तथा तोन्नवैराग्य जुगुप्सा अस्यास्तीति अत्यन्तवैराग्यवान् तस्य समाधि  
प्रद्वानिष्ठा सम्भवति । समाहितस्यैव ब्रह्माणि संस्थापितमनस्वस्यैव दृढ-  
प्रबोध प्रत्ययान्तरामिश्रितब्रह्मप्रत्यय । प्रबुद्ध तत्त्व येन ॥ प्रबुद्धतत्त्व  
तस्य बन्धमुक्ति अनात्मनि आत्मबुध्यनुत्पत्ति । मुक्ततात्मनो नित्य-  
मुपानुभूति मुक्त आत्मा यस्य स मुक्तात्मा अतस्मिन् तद्बुद्धिरहितान्तर -



श्रीविवेकचूडामणि सभाष्य

ब्रह्मणि सदा निरतर, अथसे मुक्तये प्रज्ञा तत्त्वप्रबोधहेतु निर्विकल्पक-  
समाधि कुरु इत्यर्थः । ज्ञानस्य वस्तुतन्त्रत्वेन कर्तुमशक्यत्वात् प्रज्ञा  
समाधि तद्वत् ॥३७७॥

आशा छिन्धि विषोपमेपु विषयेष्वेवैव मृत्योस्सृति  
त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिर्माति मुचातिदूरात्क्रिया ।

देहादावसति त्यजात्मधिपणा प्रज्ञा कुरुष्व्वात्मनि  
त्व द्रष्टास्यमलोसि निर्द्वय-परब्रह्मासि यद्वस्तुत ॥३७८॥

विषोपमेपु विषयपु आशा छिन्धि एवैव आशौ मृत्यो स्वल्पा-  
त्प्रच्युतिरूपप्रगादस्य सृति माग । जातिकुलाश्रमपु अभिर्माति त्यक्त्वा,  
श्रिया जाल्याविनिमित्ता अतिदूरान्मुच । असति मिष्याभूते देहादौ  
आत्मधिपणा अहर्बुद्धि त्यज मा कार्यौ । यत यस्मात्कारणात् त्व द्रष्टासि  
देहादेदृश्यस्य अमलोसि देहाद समलत्वात् । वस्तुत निर्गत द्वय यस्मात्  
निर्द्वय अद्वैत तच्च तत् परब्रह्म असि, तस्मात् आत्मानि ब्रह्मणि प्रज्ञा अह  
ब्रह्मास्मीति ज्ञान पुरप्य निर्विकल्पक-समाधिना सपादय ॥३७८॥

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानस दृढतर सस्याप्य बाह्येन्द्रिय  
स्वस्थान विनिवेश्य निश्चलतनुदचोपेक्ष्य देहस्थितिम् ।

ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिश  
ब्रह्मानन्दरस पिवात्मनि मुदा दून्यै किमन्यैर्भ्रमै ॥३७९॥

प्रारब्ध पुण्याति वपु इति निश्चित्य देहस्थितितत्त्वोपणादा-  
वभिमान उपहृत्य त्यक्त्वा निश्चरन्तनु स्थिरमुखभासन' इतियोग-  
भूतानुसारेण निश्चरन्तनु यस्य, सुपासने उपविश्य बाह्येन्द्रिय ज्ञानवर्मेन्द्रिय  
भ्राम स्वस्थाने स्वस्वगोलके विनिवेश्य ' विविक्तदेहे च सुसासनस्य  
मुचिस्समशीवधिरद्वारी' । अत्याश्रमस्य सकलद्रव्याणि निरप्य भवत्या  
स्यगुरु प्रणम्य । हृत्पुण्डरीक विरज विनुद्ध विचिन्त्य मध्येविनाद विबोध ।  
अचिन्त्य-अध्यक्त-मनन्तरूप शिव प्रदान्तममृत ब्रह्मयोनिम् । तदादि-  
मध्यान्तविहीनमेक विभु चिदानन्द-मरूपमद्भुत । उमासहाय परमेश्वर  
प्रभु शिलोचा नीलवण्ट प्रदान्त । ध्यात्वा मुनिगच्छति भूतयोनि

समस्तसार्थं तमम परस्तात् " इति वैवस्वत्युक्ते लक्ष्ये ब्रह्मणि मानस दृष्टतर  
निश्चल सस्थाप्य ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य साक्षात्कृत्य अनिय च अखण्डवत्या  
तन्मयतया ब्रह्मरूपतया आत्मनि, ब्रह्मानन्दरस मुदा पिव। शून्यं फल-  
रहितं अन्तर्यदेशच अन्तं अनात्मविषयकं भ्रमं अयथार्थज्ञानं किम् ?  
॥३७९॥

कर्तृणातिरेकात् भगवान् आत्मनिष्ठा मुहुरपदिशति। अनात्ममति।  
अनात्मचित्तन त्यक्त्वा कश्मल दुःखकारणम्।  
चिन्तयात्मानमानन्दरूप यन्मुक्तिकारणम् ॥३८०॥  
कश्मल अधुचिबिषयकतया अशुचि अत एव दुःखकारण अनात्म-  
चिन्तन त्यक्त्वा यत् मुक्तिकारण आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्तिहेतु त आनन्द-  
रूपमात्मान चिन्तय ॥३८०॥

चिन्तनप्रकारमुपदिशति। एष इति। धिय यच्छ च बुद्धि-  
साक्षिणौत्यस्यार्थमाह।

एषस्वयज्योति-रशेषसाक्षी विज्ञानकोण विलसत्यजस्रम्।  
लक्ष्य विधायैतन्मसद्विलक्षण अखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ॥३८१॥

एष आत्मा स्वयज्योति इतराप्रकाश्य, अशेषसाक्षी सर्वद्रष्टा,  
विज्ञानकोणे बुद्धौ विलसति अशेषेण भासते। असद्विलक्षण सर्वावस्था-  
स्वनुवर्तमानत्वेन स्वयज्योतिरूपत्वेन सर्वसाक्षितया च त्रुड्दृश्यबुद्ध्यादि-  
विलक्षण एव अजस्र, लक्ष्य विधाय तत्रैव मन रथापयित्वा अखण्डवृत्त्या  
इतरप्रत्ययामिथ्या धाराबाह्वया आत्मतया स्वस्वरूपतया अनुभवाम  
साक्षात्पुनः ॥३८१॥

वृत्तावखण्डत्व स्फुटयति। एतमिति।

एतमच्छिद्यया वृत्त्या प्रत्ययान्तररजून्या।

उल्लेखयन् विज्ञानीयात् स्वस्वरूपतया स्फुटम् ॥३८२॥

प्रत्ययान्तररजून्या विज्ञातीयप्रत्ययातिरिक्ततया अविच्छिन्नतया  
निर्मल्यतितैलदीपज्वालावत् तैलपागवत् धारया वहन्त्या वृत्त्या एत

श्रीविवेकचूडामणि सभाष्य

आत्मानं उत्लक्षयन् विपयीकुर्वन् स्वस्वरूपतया स्फुटं विजानीयात्  
॥३८२॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन् अहमादिषु सत्यजन् ।

उदासीनतया तेषु तिष्ठेद् घटपटादिवत् ॥३८३॥

अत्र परमात्मनि आत्मत्वं स्वस्वरूपत्वं दृढीकुर्वन् निश्चिन्वन्  
अहमादिषु सत्यजन् तेषु कदाचित्प्रतीतेष्वपि घटपटादिवत् घटपटादिविषय  
तेषु उदासीनतया अहताशून्यतया तिष्ठेत् ॥३८३॥

वाचं नियच्छात्मनीत्यत्रोक्तं तत्रापि पूर्णात्मनीति स्फुटं प्रति-  
पादयति । विशुद्धमिति ।

विशुद्धमन्तं करणं स्वरूपं निवेश्य साक्षिण्यवयोधमाने ।

ज्ञानेशानैर्निदचलतामुपाययम् पूर्णत्वमवानुविलोकयेत्तत् ॥३८४॥

विशुद्धं तमोरजोहीनं अन्तःकरणं अवयोधमात्रं अनुपहितं साक्षिणि  
स्वरूपं साक्षिण्योपलक्षितं निवेश्य सत्स्याज्यं ज्ञानेशानं निदचलतामुपाययम्  
तत्रैव स्थितौ यत्नं कुर्वन् तत् पूर्णत्वमवानुविशेद्यतः । दण्डापापनयं प्रतिविद्य  
मुक्तमिव सर्वेषु वृत्तिषु निरुद्धासु चिदाभासोपि विवभूतं ग्रह्यं भवतीति  
भावः ॥३८४॥

एवमवच्छिन्नानारवृत्त्या भजिते सत्यज्ञानायरणं तत्त्वविदायां दूर-  
निरस्ता एव भवन्ति इति भावेनाह । स्वाज्ञानवत्पक्षैरिति ।  
देहेन्द्रिय-प्राणमनोहमादिभिस्स्वाज्ञान-वृत्तैरखिलैरुपाधिभिः ।  
विमुक्तमात्मानं-मखण्डरूपं पूर्णं महानाशमिवावलोकयेत् ॥३८५॥

स्पष्टमन्यत् ॥३८५॥

तत्र चतुष्टयदायंमुपपादयन् दार्ष्टान्तिरमुपपादयति । घटति ।  
घटकल्पा-नुसूल-मूचिमुख्यै-गंगनमुपाधिगतं विमुक्तमेवम् ।  
भवति न विविधं तथैव शुद्धं परमहमादिविमुक्तमेवमेव ॥३८६॥

तुम्ह यथ धारयति गच्छति न महत्परिमाणं, मूचि अत्यन्त-  
चिच्छिन्ना, अत्यं महद्भिस्त्व घटकल्पा-नुसूल-मूचिमुख्यं मुख्यदेव पाप-

कूपादिपरिग्रह उपाधिस्तै सूच्याकाश पाशावाग इत्यादिभिर्भिन्न-  
व्यवहार प्रयोजनं परस्परहोपाधिभि विमुक्त गगन एव भवति महत्कमल  
इतिव्यवहित्यते न वस्तुत विविध अनेकप्रकार भवति । तथैव शुद्ध पर  
ब्रह्म अहमादिविमुक्ता एकमेव ॥३८६॥

दाष्टान्तिके मृपात्वाच्चोपाधीना सुलभमेकत्वज्ञानमित्याह । यद्वेति ।

ब्रह्माद्यास्तवपर्यन्ता मृपामाना उपाधय ।

तत पूर्ण स्वमात्मान पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥३८७॥

ब्रह्मा समष्टि लिंगशरीरागिमानो चतुर्दशभुवनाधिपति स आद्य  
देवामुपाधीना ते ब्रह्माद्या, स्तव अणुतमो जन्तु स पर्यन्त अर्वाधि  
देवा ते स्तवपर्यन्ता उपाधय भदकदेहा मृपामाना सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि  
कल्पिता न वस्तुभूता बाधयोग्या इत्यर्थ । तत विमृश्यमान तेषा  
मप्रतीयमानत्वात् एकात्मना नृत्पार्णववतिस्थित पूर्ण विविधपरिच्छेदगून्  
स्वमात्मान स्वमुरत्यस्वरूप ब्रह्म पश्यत् साक्षात्तुयति ॥३८७॥

सोपपत्तिक ब्रह्म यतिरेकेण भेदकत्वेनाभिगत किमपि नास्तीत्याह ।  
यत्रेति ।

यत्र भ्रान्त्या कल्पित यद्विवेक

तत्तन्मान नैव तस्माद्विभिन्नम् ।

भ्रान्तेर्नाशि भ्रान्तिदृष्टाहितत्व

रज्जुस्तस्माद्विद्वत्स्वमात्मस्वरूपम् ॥३८८॥

यत्राधिष्ठान भ्रान्त्या यत्कल्पित आरोपित तत तन्मात्र अधिष्ठान-  
मात्र भवति विवेके । विचार कृत्वा जातेन नाय सप इत्यादिनिषेधेन  
भ्रान्ते अय सर्प इत्याकारिवाया नाश सति भ्रान्त्या दृष्ट यदहितत्व  
सर्पस्वरूप रज्जुरेव तद्वत् । अयात आदेशो नेति नेति इत्यादिवाक्ये  
जनितानिषेधज्ञानं विदय सर्व जगत अधिष्ठानमतात्मस्वरूप पश्चाच्चेन  
प्रतीयते रज्जुसर्पवदिति भाव ॥३८८॥

स्वयब्रह्मा स्वयविष्णु स्वयमिन्द्र स्वयशिव ।  
स्वय विश्वमिद सर्व स्वस्मादन्यत्रकिंचन ॥३८९॥

"तद्वैतत्पश्यन् ऋषिर्बामदेव प्रतिपेदे, अह मनुरभव सूर्यश्च"  
इत्यादिश्रुते, "सयश्चाय पुरुषे पश्चात्सावादित्ये स एक" इतिच, एकमेव  
चैतन्य उपाधिभेदात् ग्रहा विष्णु शिव इन्द्र इत्येव व्यवहियते । एवं च  
रज्जु सर्प दण्ड जलचारा भूतलच्छिद्र इति यथा कल्प्यते तथा इद सर्वं  
विश्व स्वयं ब्रह्मैव स्वस्मादन्यत्र किंचन सामान्ये विशेषाणा कल्पितत्वात्  
स्वयमहं पश्यामि स्वयं त्वं पश्य स्वयं स अद्वासीत् इत्यादिष्वबहारेष्वपि  
अहत्व-त्वन्त्व-तत्तादीना व्यापतमानत्वेऽपि स्वयन्त्वस्य सर्वत्रानुवर्तमानत्वेन  
स्वयमपदार्थे आत्मनि सर्वे विशेषा कल्पिता तदतिरेकेण न सन्तीतिभाव  
॥३८९॥

"ब्रह्मैवेदमगत पुरस्तात्ग्रहा पश्चात् ग्रहादक्षिणतश्चोत्तरेण, महमेवा-  
भस्तात् भारमैवावस्तात्" इत्यादिमुण्डयच्छान्दोग्यादिश्रुत्यर्थं ध्यानदाइयाय  
श्रुत्याखण्ड्याय च उपदिशति । अन्तरिति ।

अन्तस्स्वयं चापि बहिस्स्वयं  
च स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात् ।

स्वयं ह्यवाच्या स्वयमप्युदीच्या  
तथोपरिष्ठात्स्वयमप्यधस्तात् ॥३९०॥

तरगफेनभ्रमबुद्बुदादि सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा ।  
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत् सर्वं चिदेवैकरसं विमुद्बम् ॥३९१॥

भ्रम आवर्ण, तरगफेनभ्रमबुद्बुदादि सर्वं स्वरूपेण यथा जलमेव  
नातिरिक्तमस्ति तथा देहादि अहमन्त अहमन्त एतन् सर्वं विमुद्बं  
एवमत्र चिदेव । यस्य स्फुरणं विना यत्र स्फुरति न तत्ततोक्तिरस्ती यथा  
रज्जुमुपादि । "तमेव मानमनुमानमत्रं तस्य भासा सर्वमिदं विनापि"  
इतिश्रुते आत्ममानव्यतिरेकेण मानाभासान् सर्वमाश्रय ॥ ३९१ ॥



सदेवेद सर्व जगदवगत वाङ्मनसयो  
 सतोन्मत्तास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवत् ।  
 पृथक्क मृत्स्नाया कलसघटकुम्भाद्यवगतम्  
 वदत्येव भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ॥३९२॥

सन्घट मन्पट सन्कुड्य इत्यादिषाञ्च सामानाधिकरण्यवत्या,  
 भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकयो जडयो एकस्मिन्नर्थे वृत्तिरव पदनिष्ठ सामानाधि-  
 करण्यम् । एकत्र वृत्तिरर्थे शब्दाना भिन्नवृत्तिरुत्पत्ता । सामानाधि-  
 करण्य भवतीत्यत्र वदन्ति लाक्षणिका इतिस्वात्मनिरूपणोक्ते ।  
 मनसा च तादृशवाङ्मन्यप्रत्ययेन च इद सर्वं जगत मद्वेत्यवगत वाङ्मनसयो-  
 रिति निमित्तसप्तमी वाङ्मनसाग्यामित्यर्थः । यद्वा वाक् एतदात्म्यमिदं  
 मयं वाचारम्भाज विकारो नामयेय इत्यादिश्रुति मन प्रपञ्चप्रविलापन-  
 मार्गेण जनिविपरोतन्मनो दुध्या प्रविलाप्य पञ्चभूतानि । परिशिष्टमात्म-  
 तत्त्वं पश्यन्नास्ते मुनिदशान्त इतिरीत्या अधिष्ठानमानविपयिणी  
 अण्डाकारवृत्ति तयो वाङ्मनसमात्म्या वाचि तस्या वृत्तौ च ब्रह्म-  
 व्यतिरेकेण जगन्वावगम्यत इति यद्वचो म म्वाणुर्गतिवत् इद सर्वं  
 जगत् सदव सद्व्यतिरेकेण नास्ति यदनोरत्वेन जात स स्याणु इति  
 चोरत्वे वाधिते तयो पदयो सामानाधिकरण्य एव ब्रह्मैवेद पिब  
 ऐतदात्म्यमिदं सर्वं इत्यादिश्रुतिषु सर्वत्वं वाधित्वा यत्सर्वत्वेन जात  
 तद्ब्रह्मैवेति बोध्यते । इदमुपपादितमधस्तात् । वाङ्मनसयोरित्युक्तमर्थं  
 विवादयति सत इति । प्रकृतिपरसीम्नि प्रवृत्तीना उपादानाना परा या  
 सीमा उपादानत्वविधानिभूमि सर्वापादान ब्रह्मेत्यर्थः । तत्र स्थितवत् ,  
 यद्वा प्रकृते मूलप्रकृते मायामा परा या सीमा तस्या अपि कल्पनाधिष्ठान  
 निर्गुण ब्रह्म तत्र स्थितवत् सतोन्मत्तास्त्येव “यत्र त्वस्य सर्वमात्मनोभूत्  
 तत्त्वेन न पश्येत्” इतिश्रुते । एतेन सर्वेषां बाध उपादानेन अज्ञानेन  
 सह नाश उक्तो भवति । तमश्च दृष्टान्तेनाह, पृथगिति घटकलश-कुम्भादि  
 पूर्वं पृथक्त्वेनावगत विचार्यमाणे मृत्स्नाया मृद पृथक्कम् ? वाचारम्भण-  
 श्रुते । जयमश विस्तरेण मृत्कार्यभूतोपोत्पादिना स्वयमाचार्य  
 उपपादित । मायामदिरया भ्रान्त त्व एव अविवेकी अहमिति एकमपि  
 वस्तु पृथक्वदति । मायैव मदिरा विपरीतप्राह्वत्वात् ॥३९२॥

श्रीचिवेव वृद्धासिः सव्यासः ।

अत आन्तिनाशार्थं अद्वैतवस्तु चिन्तनीयमित्याह धृत्यवष्टमेन ।  
क्रियासमभिहारेणेति ।

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।

ब्रवीति द्वैतराहित्य मिथ्याध्यासनिवृत्तये ॥३९३॥

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छनोति नान्यद्विजानाति स भूमा"  
इति श्रुतिः क्रियासमभिहारेण पौनःपौन्येन द्वैतराहित्य द्वयोर्भावं द्विता-  
तैव द्वैत तस्य भेदस्य राहित्य अभाव ब्रवीति । किमयं प्रिति चेत् मिथ्या-  
ध्यासनिवृत्तये मिथ्याभूत य अध्यास भेदभ्रम तद्विवृत्तये । यदा  
अध्यासशब्देन प्रपञ्चरूपार्थाध्यास ग्राह्य तस्य निवृत्तये तस्य अधिष्ठानाय-  
शेषत्व-लक्षणनाशाय बाधयेति यावत् "अधिष्ठानावशेषो हि नास्ति  
कल्पितवस्तुतः" इत्यभिप्रेक्ष्यते "रज्जुसर्पादी वृष्टत्वाच्च । यदि  
यिद्व सत्य स्यात् फल दर्शन-श्रवण-विज्ञानादिविषयो न स्यात् । अत  
ब्रह्मणि वर्तमानस्य पुनरप्य विश्वभ्रान्ताभावात् मिथ्येति भावः ॥३९३॥

ब्रह्मस्वरूपं सम्यक् चित्ते आरोहयति प्यातुम् । आवागेति ।

आकाशवस्त्रिर्मल-निर्विकल्प-

निस्सोम-निस्स्पदननिर्विकारम् ।

अन्तर्वेदिह्यन्यमनन्य-मद्वय

स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ॥३९४॥

अन्तर्वेदिह्यन्यमित्यन्त आकाशब्रह्मणो सापेक्षं, अनन्य अद्वयमिति  
ब्रह्मविशेषण, आकाशवत् निर्मल आकाशवत् शुद्धादिभिः पृथक्स्थितं भवति  
तथा ब्रह्मणि अज्ञानाद्यम्बुष्ट वस्तुतः निर्विकल्पकत्वं दृश्यं । निस्सोम  
अनवयव, निस्स्पन्दन निर्विकल्प, निर्विकार उत्पत्तिनाश-वृद्धिनाशान्तर-  
अन्तर्वेदिह्यन्य परिच्छिन्नस्य हि अन्तर्वेदिह्यन्य, पूर्णं यान् अन्तर्वेदिह्यन्य  
स्वयमनभेदगति, अनन्यत्वं प्रत्ययमिदं न अन्यत् अनन्यत्, अद्वय न विद्यते  
द्वय यस्य अद्वितीय इत्यर्थः । विजातीयान्य, स्वयं स्वयन्मिदं परं ब्रह्म  
तस्मिन् युते हि अस्मि बोध्यः । एतस्मिन् विदिने मयं विदिता भवति इति  
मयमिति परमायमिति विदिने न निर्मातृ बोद्धव्यमिति दर्शितम् ।

यद्वा अनन्यत् सर्वोत्पन्नं अत एवाह्वय स्वव्यतिरिक्तद्वितीयज्ञानं परब्रह्मैव  
स्वयं जीव आत्मा अत अन्यत् बोध्यं किमस्तीत्यर्थं । आकाशवदिति  
श्रोतुबुद्ध्यारोहाय दृष्टान्त इषुरिव सविता धावतीतिवत् । नहि ग्रहण  
सदृशं वस्तु विद्यते "न तत्सम" इति श्रुते । आकाशस्य "प्रतिज्ञाऽहानि  
रव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः" इत्युत्पत्तिसाधनात् । शब्दे तदुत्पत्त्यादे अदृष्टत्वात्  
तद्विभक्तिकारं ब्रह्मेति "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इत्यादिवद्वस्तु  
शक्यत्वात् ॥३९४॥

वक्तव्यं किमु विद्यतेन बहुधा ब्रह्मैव जीवस्त्वय

ब्रह्मतज्जगदापराणु सफलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुते ।

ब्रह्मैवाहमिति-प्रबुद्धमतयः सन्त्यक्तवाह्या स्फुट

ब्रह्मीभूय वसन्ति सततचिदानन्दात्मनैव ध्रुवम् ॥३९५॥

अत्र ब्रह्मैवत्वविषये बहुधा अनेकप्रकारे वक्तव्यं किमु विद्यते,  
सम्पन्नबुद्ध्यारोहाय बहुभिः दृष्टान्तैः सर्ववेदान्ततात्पर्यं विषयार्थं प्रति-  
पादितं तं समग्रहेण कथयति । विस्तरसंग्रहान्मा उक्तोर्थं सम्पन्नज्ञात्  
शक्यता इति वदन्ति 'श्लोकार्थेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं अन्यकांतिभिः ।  
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इति । ब्रह्मैव जीवस्त्वय  
जीवत्वमेवौपाधिकं ब्रह्मत्वं तु जीव इति ज्ञातस्य वास्तविक स्वरूपं रज्जुरिव  
सर्पस्य । अत जीवस्त्वय ब्रह्मैव न व्यतिरिक्त । आपराणु परमाणु-  
पर्यन्तं सफलमेतत् जगत् विषयादि ब्रह्मैव तज्जत्वात् तत्त्वत्वात् तदनत्वात्  
च "सर्वं शक्त्यिदं ब्रह्म, तज्जलानिति ज्ञान्त उपासीत" इति श्रुते तज्जलान-  
मिति भवितव्ये अवयवलोपशब्दान्दस परमे ध्योगम् इत्यादिवत् ।  
अनादि अज्ञानादिव मणि तत्राधिष्ठाने कल्पितमिति न ततोस्तिरिच्यते अत  
ब्रह्म अद्वितीयं स्वव्यतिरिक्तवरतुल्यम् "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म"  
"इदं सर्वं यदयमात्मा" "आत्मेवेदं सर्वं" "ब्रह्मैवेदं सर्वं" "एकमेवाद्वितीयम्"  
इत्यादिश्रुते । ब्रह्मैवाहमिति-प्रबुद्धमतयः प्रबुद्धा श्रुत्याचार्योपदेशेन ज्ञात-  
ज्ञेया मतिं बुद्धिं वेपा ते प्रबुद्धमतयः स्फुटं वासनया सह सन्त्यक्तवाह्या  
स्वरूपतत्त्वयुक्ताहमादयः ब्रह्मीभूय, पूर्वमज्ञानात् अब्रह्मत्वं स्वस्य कल्पित  
तदभिप्रायेण चिप्रत्ययः, साक्षात्कृतब्रह्मभावा सततचिदानन्दात्मनैव

श्रीविवेकचूडामणि सध्याख्य

यसन्तीति विद्वदनुभव उक्त । एतत् ध्रुव निश्चय । यद्वा ध्रुव निश्चलतया  
यसन्तीति योजना ॥३९५॥

स्फुट सन्त्यक्तवाह्यत्वात्,

जहि मलमयकोशेऽहधियोत्थापिताद्या,

प्रसभमनिलकल्पे लिंगदेहेपि पश्चात् ।

निगमगदितकीति नित्यमानन्दमूर्ति,

स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥३९६॥

मलमयकोशे प्राचुर्यार्थे मयद्, स्थूलदेहे अहधिया उत्थापिता जनिता  
या आशा तस्मिन् घोषणार्थेण च, ता प्रसभ जलात्कारेण जहि नाशाय ।  
मलममेति हेतुगर्भे विशेषण अहधिय हानार्थम् । उपन हि "पिण्डाण्ड  
त्यज्यता मलभाण्डवदिति । पश्चात् स्थूलदहसम्बन्ध्यासानाशानन्तर  
अनिलकल्पे वायुवददृश्ये लिंगदेहेपि सप्तदशावयवोपेतं सूक्ष्मसारीरे अपि  
अहधिया उत्थापिता या आशा मनोनुबूल-विषयेषु, ता जहि प्रथमत एव  
मूढमत्यागस्य दुष्करत्वात् दूरदूर-स्थूलपदार्थत्वात् तत्र हेतु अहधो-  
सुवर इति स्थूलपदार्थ-विषयाशा जहीत्यादायुक्तम् । तत्र हेतु अहधो-  
रिति-वचनेन दृष्टमीमत्तो अहधियोभावे आशा नैव जायते निमित्ता-  
पायात् इति सूचित । धृतिश्च अस्मात्लोकात्प्रेत्य, एतमप्रथममात्मान-  
मुपसन्नामतीत्यादिना पुत्रमित्रादिषु बाह्येषु अहता स्वकथा देहमात्र-  
मात्मत्वेन गन्वीत, तत ततोन्तर प्राणमेव इति प्रतिपत्तुणा मोक्षार्थं  
उपदिदेश । तेनैव क्रमेण प्रथम देहार्थ-पुत्रादिविषयेषु आशापरित्याग  
आशैव त्यक्तव्या इति यदा तदा वि वनतव्य अहताया विषये । तत स्थूल-  
सारीरे अहताया आशायाश्च त्याग, तत प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-  
पटिते मूढमसारीरे पञ्चबोशविवेकप्रवरणोक्तपुक्तिभिः अहधिय तत्प्रयो-  
ज्याना च जहि नाशाय, मानभूत हि भूयाम इति परंप्रमात्मनि सर्वम्यास्ति ।  
स्थूलादावहधियि अय प्रेमा तत्रैव भवतीति आशा दुर्निरमा । अत प्रमेण-  
विचारेण जनितादृक्-विवेकज्ञानेन स्थूल-मूढमसारीरेषु अहताया स्वत्रायां  
प्रियभोदाद्यवयवोपेतानन्दमयबोने भाववत्त्वाद् औपाधिकरत्वाच्च  
अनिर्घट्यनिश्चयेन अहता नैव समवति । एव पञ्चबोशान् अनामनवेन

निश्चित्य नियमगदितवीति नियमे वेदे गदिता वीति सर्वज्ञत्वं-सर्व-  
शक्तत्वं - सर्वप्राणिप्राणयितृत्वं - सर्वप्रज्ञानुत्वं - विशिष्टमगुणाविष्टान्तव-  
सच्चिदानन्दधनत्व-वाङ्मनसागोचरत्वं मिराधारत्वं निर्गुणत्वं - निष्कल-  
निर्विकल्पत्वं-निरञ्जनत्वं-मूढमतमत्वं-नित्यशुद्ध-मुक्तपुद्ध-मत्मानन्द-स्वभाव-  
त्वादिरूपा यस्य त नित्यमानन्दमूर्ति एतन् आनन्दमग्नोऽनिरास  
तस्य नित्यत्वाभावात् परमात्मान स्वयमिति स्वस्वरूपमिति, परिचोय  
निश्चित्य अनुभूय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ बोधाना पचाना अनात्मत्वेन  
निषिद्धत्वात् ब्रह्मैवात्म्यमगीकार नैरात्म्यवादप्रसंगान् अन एव श्रुति  
अमनस स भवति इत्यादि ॥३९६॥

शवाकार यावद्भूजति मनुजस्तायदशुचि ,

परेभ्यस्स्यात्कलेशा जननमरण-व्याधिनिरया ।

यदात्मान शुद्ध कलयति शिवाकारमचल ,

तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥३९७॥

मनुज यावत्काल स्थूलदहतादात्म्येन चैतन्यहीनतया तस्य शयत्वं,  
पादागुष्ट-प्रभृति शिर पयन्त यच्छरीर तदेवाहमिति शवाकार भजति  
तावत्काल तस्य मलमयतया अनुचितत्वात् अपगपि स्वत घुनिरपि अशुचि ।  
तथा परेभ्य शत्रुव्याघ्रादिभ्य कलश स्यात् । जननमरण-व्याधिनिरया  
अस्मिन्लोक जननमरण-व्याधय, देहमात्मत्वेन मत्वा स्थितस्य पापवत्त्वात्  
“योन्वया सन्तमात्मान” इतिस्मृते दहपाते निरय । एव सदा  
दुःखवत्त्वमेव ‘न ह वै सशरीरस्य सत प्रिमाप्रिययोरपहतिरस्ति’ इतिश्रुते  
“न सापराय प्रतिभाति वाल प्रमादन्त वित्तमोहेन मदम् । अय लोको  
नास्ति पर इति मानी पुन पुनर्वंशमागच्छते मे” इति यमवचनरूपश्रुतेरव ।  
यदा आत्मान साधनचतुष्टयसपन्न विधिबद् गुरुमुपमस तन्मुखारविन्द-  
गलित-श्रुत्यन्त वाक्यै तदनुसारियुक्तिभिश्च शुद्ध देहस्यातीत शिवाकार  
आनन्दस्वरूप अचल अप्रमाद यथा तथा कलयति जानाति तदा तेभ्य  
परकृतकलेशेभ्य जननमरण-व्याधिनिरयेभ्यश्च मुक्तो भवति । हि  
निश्चय । तत् श्रुतिरप्याह, तदपि श्रुतिराह इति अपिज्ञाद भित्तमोवा ।  
पूर्वार्ध समुच्चिनोति । यथाश्रुते अपिना अनुभव समुच्चयीते गुरुवच्च ।

## श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

आहारीति वा अन्वयः, “अशरीरत्वात् सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत, आनन्द  
ग्रहाणो विद्वान् न विमोति कुतश्चन, तरति लोकमात्मवित्, ज्ञात्वा देव  
मुच्यते सर्वपापैः, तमेव विद्वानमृत इह भवति, क्षीणं क्लेशं जन्ममृत्यु-  
ग्रहाणि, ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति” इत्यादि ‘समाने वृक्षे  
पुण्यो निमग्नोऽजीशया शोचति गृह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-  
मस्य महिमानमिति वीतशोकः’ इति च । अनेन श्लोकेन पूर्वश्लोकोप-  
दिष्टार्थं फलकथनेन उपपादित अनात्मज्ञाने दुष्फल आत्मवायात्म्यज्ञाने  
आत्म्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरिति ॥३९७॥

शुद्धशिवाकारत्वं कथमात्मन इति चेदाह । स्वात्मनोति ।

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तु-निरासत ।  
स्वयमेव परं ग्रह्यं पूर्णमद्वय-मन्यम् ॥३९८॥

स्वात्मनि आरोपितानि केवलाशानेन कल्पितानि यानि असापाभास-  
वस्तूनि अनात्मतद्धर्मरूपाणि तेषां निरासत श्रुतिश्रुतिभिः निदिध्यासनैः  
च विनाशानत स्वयमेव परं ग्रह्यं पूर्णमद्वयमन्यम् । अन्वेष्टव्यात्म-  
विज्ञानात् प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः । अन्विष्टस्मात् प्रमातृत्वं पाप्मदोगादि-  
वर्जितम् । गौणमिध्यात्मनोऽस्तत्वे पुत्रदेहादिव्याधनात् । सद्ग्रहात्माहमित्येव  
बोधे कार्यं कथं भवेत्’ इत्यभियुक्तोक्ते ‘अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो  
ग्रह्येव तेज इव’ इतिश्रुतेश्च ॥३९८॥

आदौ प्रमत्तेन दृश्यं निरुध्य समाधौ त्रियमाणे तत्र निष्ठस्य पूर्वं  
प्रतीतमपि दृश्यं शशविपाणवद् भवतीत्याह । समाहितायामिति ।

समाहिताया सति चित्तवृत्तौ परात्मनि ग्रहाणि निर्विकल्पे ।  
न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः प्रजल्पमात्रं परिशिष्यते ततः ॥३९९॥

सति अवाधे परात्मनि निर्विकल्पे ग्रहाणि चित्तवृत्तौ समाहितायां  
निश्चलतया स्थापिताया सत्या अथ विकल्पः कश्चिदपि न दृश्यते । ततः  
प्रजल्पनमात्रं परिशिष्यते “शब्दज्ञानानुपाती वस्तुन्यो विचल्पः” इति  
सत्त्वशेषात् । अज्ञानस्य समूलनाशं वर्णितत्वेन कल्पिततादात्म्यमपि  
नास्तीति शेषत्रयस्यैव सन्निवदानन्दमात्रमस्तीति भावः । यथा अमृतं अयं-

त्रिप्राकारित्व नास्ति गगनकुसुमादे एव यत्पूर्वं सुखदुःखरामभय-लोधादिक  
उत्पादयामास तदपि प्रतीतमपि ब्रह्मनिष्ठ प्रति उत्त्वातदष्टोरमवत  
न स्वकार्यमावहत इति भाव ॥३९९॥

अनात्मवासनाना प्रकीणत्वात् एवमुपदेशधारया वासिताद्वैतान्त-  
करण शिष्य प्रति द्वैतास्य अत्यन्तमसत्य सबलवेदान्त-तात्पर्यविषय अनुभव-  
युक्ति-दृष्टान्त-श्रुतिभि उपदिशति । असत्कल्प इत्यादिना ।

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येक-वस्तुनि ।

निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुत ॥४००॥

विश्वमिति यत् अयं विषयप्राधान्यात्पुनिलभ्यम् । चिकल्प विविध  
कल्प्यत इति विषय अज्ञानेन कल्पित एव न वस्तुभूत इत्यर्थः । असत्कल्प  
इष्टदसमाप्ती कल्पप्रत्ययः । निम्नतरं द्रष्टृसमाहितमनसा सप्तमी  
भूमिका गताना सर्वथा भानाभावात् अज्ञाविषयवदव । तदितरेषां तु दृष्ट-  
नष्टस्वरूपत्वात् शुक्तिरजतादिवत् प्रातिभासिक इति असत्तेवेत्यनुवत्वा-  
असत्कल्प इत्युक्तम् । तथाच मिथ्यात्वेन तेन वस्तुन ब्रह्मण सद्वितीयत्वा-  
भावेन एव वस्तुनि विकाराकार-विषयशून्ये गुणगुणिभाववयवावय-  
विभाव-जातिव्यक्तिभावादिगुण्य तादात्म्यस्याप्यभावेन भिदा कुत  
॥४००॥

द्रष्टृदर्शन-दृश्यादि-भावशून्यैक-वस्तुनि ।

निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुत ॥४०१॥

द्रष्टा प्रमाता दर्शनं प्रमिति, दृश्यं प्रमेय, आदिपदेन प्रमाण-  
परिग्रहः । कर्तृकरणकार्याणि वा । एतत्तत्त्वं अविद्यावस्थायाः । वस्तुतः  
निर्विकल्पे केवलस्रग्द्विन्मात्रे "यत्र त्वस्य सर्वभास्मेवाभूत् तत्केन क  
पश्येत्" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानावस्थायाः अज्ञानायात् तन्मूलवाना द्रष्टृ-  
दर्शन-दृश्यादिभावानामभावात् द्रष्टृ-दर्शन-दृश्यादिरूपा ये भावा ते शून्य  
यदेव वस्तु तन्मिन् निर्विकारे विकारजन्ये निराकारे अवयवसंस्थानशून्ये  
भिदा भेदः कुत नैवास्तीत्यर्थः । प्रवृत्तिविकारमायाद्यभावात् न भेद-  
प्रसक्तिरपीति भावः ॥४०१॥

श्रीविवेकचूडामणि सख्याय

कल्पार्णव-इवात्यन्त-परिपूर्णकवस्तुनि ।

निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुत ॥४०२॥

प्रलयकाले चत्वारोपि समुद्रा मिलिता द्वीपादिभूतया वेल  
जलमय जगत् कुर्वन्तीति पुराणेष्ववगम्यते । तदा सर्वत्र जलमेव न भूभाग  
कश्चित् विभाजकाभावात् । चतुर्णामपि समुद्राणां भूभागावस्थाया  
विभक्त्यानां एकीभूतत्वात् कल्पार्णव इत्येकवचन । तदापि आकाशादिक-  
मस्त्येव तथापि सर्वत्र जल पूर्णं श्रोतृबुद्ध्यारोहाय, इषुरिव सविता  
धावतीति वदुष्टान्त । अत एव अत्यन्तपूर्णेत्युक्तम् । ज्वायानाकातादि-  
त्यादिश्रुत्या पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृत दिवि" इति श्रुत्या च  
निरूपमनूमनि परमात्मन्येक-वस्तुनि निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा  
कुत ॥४०२॥

पूर्वमपि भदाभावेऽपि भेदभ्रान्तिकारण अज्ञान अवर्तितम् । तस्य  
समूलघातं हतत्वात् इदानीं भेदभ्रान्तिरपि नेत्याह । तेजसीति ।

तेजसीव तमो यत्र विलीन भ्रान्तिकारणम् ।

अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुत ॥४०३॥

तम अज्ञान अन्धकारश्च । यत्र परमात्मनि भ्रान्तिवारणं तम-  
अज्ञानं तेजसि सूर्यादिप्रकाशे तम इव अन्धवार इव विलीनं नष्टं तस्मिन्  
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुत । "विभेदजनकं ज्ञानं नाश-  
मात्मन्तिव गते । आत्मनो ग्रहणो भेद अगतः च वरिष्यति" इति-  
प्रमाणात् ॥४०३॥

एवात्मनो परे तत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।

मुपुत्तो सुप्तमात्राया भेद वृणावलोकित ॥४०४॥

"यद्वि तत्र पश्यति पश्यन्तं तत्र पश्यति ननु तद्विनीयमानं ततोऽन्य-  
द्विभक्तं यत्पश्येत्" इति श्रुते । मुपुत्तो श्रवणं न पश्यतीति वा त-  
त्तन्निवमत इव जडरात्र पश्यतीति वा वेदो यत्र मुपुत्तावपि निज-  
ज्ञानवरूपस्य आत्मनः स्वयंप्रकाशस्य मन्वा । अत्र यदि द्वितीयं स्यात्  
पश्येदेव ननु तद्विनीयमानं । अत्रात्मन्येव तद्विनीयमानोत्पत्त्या



विभक्तत्वाभावात् । अत एव ततोऽन्यद्विभक्त इति पदद्वय । अज्ञानोपहित-  
नैतन्यस्यैव मुपुप्तिसाक्षित्वात् । तस्याज्ञानस्य अधिष्ठाने तत्रैव कल्पित-  
त्वात् कल्पिते अधिष्ठानभेदाभावात् । यद्यपीद सर्वदा समान तथापि  
कार्योपाधीना लीनत्वात् मुपुप्तौ मुपममिति मुपुप्त्यवस्थामाश्रित्य श्रोतृ-  
बुद्ध्यारोहाय निष्प्रपञ्चत्वमात्मन प्रतिपाद्यते । यदि कश्चित् जागृतुष्य  
मुपुप्ति-स्थित चिन्तयन् मनसा अज्ञान विविच्यात् तदा अन्तःकरणवृत्तेरेव  
अज्ञानभजकत्वात् तदोय मन निष्प्रपञ्च ब्रह्माकार जातमेवेति तस्या  
एवावस्थाया ज्ञानावस्थात्वात् नदा केचन अपण्डितैरेव मनसावाप्तमिति  
सिद्धम् समीहितमिति श्रुतेरभिप्राय । विदोपाभावस्य उभयन समत्वात्  
आवरणसत्त्वासत्त्वान्यामेव मुपुप्तिसमाख्योभेदात् । अत एवमुक्त "निद्रा  
समाधिश्चिन्ति' इति । इदं वचन जाग्रता पुरुषण सुषमयी मुपुप्ति  
चिर चिन्तयते चेत् तस्य समाधि भवतोऽप्यभिप्रायेणैव । तथाच एवात्मने  
परे तत्त्वे भेदवर्ता इत्यनेन भेदो नैवास्ति तद्वार्तापि कथं भवेत् विपारा-  
वारविशेषामाधानं यदाह्यवैष एतस्मिन्नदृश्येऽज्ञात्मेऽग्निरक्ते-  
ऽनिल्यनेऽभय प्रतिष्ठा विन्दते । अथमोऽभय यतो भवति । 'यत्र  
नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भमा' इति श्रुते ।  
यदि भेद सत्य स्यात् मुपुप्ताययलोचयेत् । यज्ञज्ञान न विचिद्वेक्षिप इति  
मुपुप्तौ विप्रमित्युच्येत तस्यापि ज्ञानमात्राया समाख्यवस्थाया दग्धत्वात्  
न क्षतपक्षमिति अज्ञानस्य तत्त्वायाणा च अन्यन्त नष्टत्वात् आदादन्ते  
च यत्रास्ति वर्तमानेपि तत्तथा "इत्युक्त्या नास्ति नासीत् न भविष्यतीति  
ब्रैषालिक निषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्वं सिद्धमिति भाव ॥४०४॥

तदुपपादयति । न ह्यस्तीति ।

न ह्यस्ति विश्व परतत्त्वबोधार्थ

सदात्मनि ब्रह्मणि निविचल्पे ।

बालनये नाप्यहिरीक्षितो गुणे

न ह्यम्युविन्दु-भृङ्गतृष्णिकायाम् ॥४०५॥

सम्यग्ज्ञान हि वस्तुसिद्धिहेतु । पूर्वतु, अज्ञानात् भ्रान्तिरास मनस ।  
विचार्यमाणे क्षीपकान्वायमाने तम इव अज्ञान नष्टमिति सदात्मनि

## श्रीविवेकचूडामणि सञ्ज्ञास्थ

निर्विकल्पे ब्रह्मणि विश्वं न ह्यस्ति नैवास्तीत्यर्थः । तत्र मानं परतत्त्व-  
बोधविरहितं । परस्य ब्रह्मण्यतत्त्वं निष्प्रपञ्चत्वरूपव्याप्तस्य श्रुतिबोधित-  
तस्य योधात् अनुभवविरहित्यर्थः । नहि यथाप्रमाणं अनुभवानन्तरं सञ्ज्ञ-  
विषययोदितः । अतः विश्वं नैवास्ति । तत्र दृष्टान्तः, हि यत्, कालत्रयेऽपि  
गुणे रज्ज्वा अहिं सर्पं नेक्षितं, मृगतुण्डिकाया मरमरीचिकासु अयुविन्दुरपि  
न । तद्वत् पूर्वमज्ञानात् भ्रान्त्या प्रतिपन्नमपि वस्तु न सदिति भावः ।  
"नाभावो विद्यते रातः" इति गीतोक्ते विद्वदनुभवाच्च । श्रुतिवत् हि  
रजतवदवभासते एव ह्यनन्दः सद्धितीयवत् इत्यादिलीङ्गिकानुभवात्  
आरोपित-मिथ्यात्वे न विसबाधः । अतः श्रुतिरपि 'यद्यहि द्वैतमिव भवति  
तदितर इतर पश्यति । मृत्योरस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"  
इति इवकारानुबन्धेन द्वैतस्य मिथ्यात्वं सूचयति ॥४०५॥

तद्विषये स्फुटार्थां श्रुतिमाह । भावेति ।

मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः ।

इति ब्रूते श्रुतिस्साक्षात्सुपुप्तावनुभूयते ॥४०६॥

मायया मीयते प्रतीयत इति मायामात्रं इदं दृश्यं द्वैतं भेद इत्यर्थः ।  
परमायं सत्यभूतं अद्वैतं निर्भेदं ब्रह्म इत्यर्थः । इति साक्षात् वाच्यपुत्सा  
श्रुतिप्रति । सर्वेऽपि साक्षात्सुपुप्तावनुभूयते अतः मात्रं विषादायतरं  
इति भावः । अनुभवस्य अपोरूपेयतया निर्दोषश्रुत्यनुसारित्वत् ॥४०६॥

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम् ।

पण्डितैरज्जु-सर्पादौ विवक्ष्यो भ्रान्तिजीवनं ॥४०७॥

"मुपुत्तिबाले मन्त्रे विलोने तमोभिभूतं मृगरूपमेति" इति-  
वैवक्ष्योपनिषदि तमोभिभूत इति शब्देन तममं श्रुतिं ब्रूते श्रुतिरपि चेत्  
तस्य तत्र पण्डितत्वात् यमापायम-रात्त्वं जयन्तु समित्यारं आरोग्यम्  
अधिष्ठानादनन्यत्वं स्थितिवैचित्र्याच्च यदनुभूयते तमोभिभूतं निरीक्षितम् ।  
विवक्ष्य भेदवत्त्वं भ्रान्तिजीवनं भ्रान्त्या जीवन्ती भ्रान्तिजीवनं भ्रान्ति-  
मुन्ना इत्यर्थः । भ्रान्त्यभावे भेदं नैव प्रतीयते भेदवत्त्वमनन्तरात्-  
भावात् ॥४०७॥

भ्रान्तिनिरासोपायमाह । चित्तेति ।

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।

अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥ ४०८ ॥

अयं विकल्पः चित्तं बहिर्मुखं मनः मूलं यस्य स चित्तमूलः ।  
चित्ताभावे न्युपेतो न कश्चन अतः स्वरूपसती अविद्यापि चित्ताभावे  
न स्वकार्य-समर्था । सा जाग्रत्स्वप्नयोः चित्तात्मना परिणममाना दिश्व  
जतयति । अतः चित्तं प्रत्यग्रूपे तव स्वरूपभूते परात्मनि समाधेहि सत्स्थापय,  
तेन अविद्यायाः साकं सर्वेषां विकल्पानां घात एवेति भावः ॥ ४०८ ॥

परमात्मनि मनः समाधापयितुं शब्दैर्विध्यति । निमपीत्यादिना  
त्रिभिः श्लोके ।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं

निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।

निरवधिं गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं

हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥ ४०९ ॥

प्रकृति-विकृतिशून्यं भावनातीत-भावं

समरसममानं मानसयन्धदूरम् ।

निगमवचन-सिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं

हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥ ४१० ॥

अजरममर-भस्ताभास-वस्तुस्वरूपम्

स्तिमित-सलिलराशिं प्रत्यमाख्या-विहो नम् ।

शमितगुण-विकारं शाश्वतं शान्तमेकं

हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥ ४११ ॥

किमपि बागवोचरं, सततं नित्यः चासौ बोधश्च तं अक्वण्डज्ञानरूपं,  
केवलानन्दरूपं दुःखासंभित-निरुपाधिव-मुखरूपं, तेन मय्यप्रकाश-नित्य-  
मुखरूपतया परमपुरोपायत्वमुक्तम् । निरुपमं “न तस्य प्रतिमास्ति” इति  
श्रुते । केवलातीत्यं वर्तमानं अतिवेलं विश्वातीतमित्यर्थः । नित्यमुक्तं

### श्रीविवेकचूडामणि सभाष्य

कदापि बन्धरहित निरीह निष्काम निष्पिय वा । निरवधि कालत  
 देशत यस्तुतश्च अन्तःशून्य । गगनाम असग निर्मल । निष्कल निरवयव ।  
 निर्विकल्प विविधकल्पनाशून्य । पूर्ण ब्रह्म विद्वान् समाधी हृदि कलयति ।  
 त्वमप्येय कलयेति भाव । नित्यत्वाच्चिरवयवत्वात् च "तदेतद् ब्रह्मापूर्व-  
 मनपर" इत्यादिश्रुत्या प्रकृतिविकृतिशून्य, भावना कल्पना अतीत भाव  
 स्थभाव यस्य तत् उपनिषद् विना केवलतर्केण अधिगन्तुमशक्य इत्यर्थः ।  
 तत् समस्त एकरूप असमान असदृश । मानसम्बन्धदूर अप्रमेय श्रुत्यापि  
 लक्षणया बोध्यमानत्वात् । 'प्रमाता च प्रमाण च प्रमेय प्रमितस्तथा ।  
 यस्य प्रसादात् सिध्यन्ति तत्पिण्डौ किमपेक्ष्यते ।' इतिमुरेश्वराचार्य-  
 वचनात्, स्वयं सिद्धे प्रत्यग्रूपे तस्मिन् वेद्यवेदितृ-वेदनादि-भेदापनायक-  
 श्रुतेरपि सादृश्यात् । यद्वा मान प्रत्यदादिप्रमाण तत्सम्बन्धदूर तत्सम्बन्ध  
 मेयस्य तज्जन्यप्रमाविषयत्व तद्दूर तद्वहितमिति यावत् । निगमवचन-  
 सिद्धं सदा विद्वदनुभवगोचर । हृदीत्यादि पूर्ववत् । अजर अपक्षमशून्य  
 अमर नाशरहित अस्ताभासवस्तु-स्वरूप अस्ता गता आभारा विवल्पा  
 यस्मिस्तत् अस्ताभास तन्न च तत् वस्तु च तत्स्वरूप । स्तिमितमलिलरानि  
 प्रक्ष्य निस्तरग-जलराग्निरक्षल । आख्यायिहीन नामरहित जात्यादि-  
 प्रवृत्ति निर्मितविरहात् 'ते यदन्तरा' इतिश्रुते । समितगुणविचार  
 निर्माण निर्विचार शाश्वत अनादिसिद्ध शान्त अपरिणामि । एव अद्वितीय  
 हृदि कलयति विद्वान् समाधी पूर्ण ब्रह्म ॥४११॥

समाहितान्त वरण स्वरूप

विलोक्यात्मान-मसण्डवैभयम् ।

विच्छिन्वि बन्ध भवगन्ध-गन्धि

यत्नेन पुस्त्य सफलीकुरत्व ॥४१२॥

स्वरूपे परमात्मनि समाहितान्त वरण निश्चलतया म्यापिमाणा मन्  
 अगण्डवैभय अगण्ड वैभय विभुत्वं यस्य त आत्मा अव्याहतावागव्यापि  
 यत्ननाधिष्ठान विलोप्य साक्षात्पुनः । भवगन्धघर्षिण गमारबामा-  
 यासित बन्ध अज्ञान विच्छिन्वि नाशय "अविद्यान्ममपो मोक्षमा प  
 बन्ध उदाहृत" इत्युक्ते । यत्नेन "यत्नाभावात्तो ज्ञाना यमुगाभार

भ्रान्तिनिरासोपायमाह । चित्तेति ।

चित्तमूलो विकल्पोय चित्ताभावे न कश्चन ।

अतश्चित्त समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥ ॥४०८॥

अयं विकल्प चित्त बहिर्मुख मन मूल यस्य स चित्तमूल ।  
चित्ताभावे सुषुप्तौ न कश्चन अतः स्वरूपसती अविद्यापि चित्ताभावे  
न स्वकार्य-समर्था । सा जाग्रत्स्वप्नयो चित्तात्मना परिणगमाना विश्व  
जनयति । अतः चित्त प्रत्यग्रूपे तव स्वरूपभूते परात्मनि समाधेहि सस्यापय,  
तेन अविद्याया साक सर्वेषा विकल्पाना बाध एवेति भाव ॥४०८॥

परमात्मनि मन समाधापयितुं शब्दैर्विध्यति । किमपीत्यादिना  
त्रिभिः श्लोकैः ।

किमपि सततबोध केवलानन्दरूप

निरुपमगतिवेल नित्यमुक्त निरोहम् ।

निरवधि गगनात् निष्फल निर्विकल्प

हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्ण समाधौ ॥४०९॥

प्रकृति-विकृतिगूण्य भावनातीत-भाव

सगरसमरामान मानसबन्धदूरम् ।

निगमवचन-सिद्ध नित्यमस्मत्प्रसिद्ध

हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्ण समाधौ ॥४१०॥

अजरममर-मस्ताभास-वस्तुस्वरूपम्

स्तिमित-सलिलराशि प्रलयमागया-विहीनम् ।

शमितगुण-विकार शाश्वत शान्तमेव

हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्ण समाधौ ॥४११॥

किमपि बागवोचर, सतत नित्यश्चामी बोधश्च तत्तत्तज्ज्ञानरूप,  
बलानन्दरूप दुःखमभित-निरुपाधिक-मुखरूप, तेन स्वयंप्रकाश-नित्य-

सुखरूपतया परमपुरुषार्थत्वमुक्तम् । निरुपम "न तस्य प्रतिमास्ति" इति  
श्रुते । वेलामतीत्य वर्तमान अतिवेल विदवातीतमित्यर्थ । नित्यमुक्त

## श्रीविवेकचूडामणि सञ्चार्य

कदापि बन्धरहित निरीह निष्काम निष्प्रेय वा । निरवधि कालत  
 देयत वस्तुतश्च अन्तःशून्य । गगनाभ असग निर्मल । निष्कल निरवयव ।  
 निर्विकल्प विविधकल्पनाशून्य । पूर्ण ब्रह्म विद्वान् समाधौ हृदि कल्पति ।  
 त्वमप्येय कल्पेति भाव । नित्यत्वाच्चिरवयवत्वात् च "तदेतद् ब्रह्मपूर्व-  
 मनपर" इत्यादिश्रुत्या प्रकृतविकृतिशून्य, भावना कल्पना अतीत भाव  
 स्वभावा यस्य तत् उपनिषद्व चिना केवलतर्केण अधिगन्तुमशक्य इत्यर्थः ।  
 तत् समरस एकलप्य असमान असदृश । मानसम्यग्धूर अप्रमेय श्रुत्यापि  
 लक्षणया बोध्यमानत्वात् । 'प्रमाता च प्रमाण च प्रमेय प्रमितिस्तथा ।  
 यस्य प्रसादात् सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते ।' इति सुरेश्वराचार्य-  
 वचनात्, स्वयं सिद्धे प्रत्यग्रूपे तस्मिन् वेद्यवेदितु-वेदनादि भेदापनामक-  
 श्रुतेरपि तादृश्यात् । यद्वा मान प्रत्यक्षादिप्रमाण तत्सम्यग्धूर तत्सम्यग्ध-  
 मेयत्वं तज्जन्यप्रमाविषयत्वं तद्दूर तद्रहितमिति यावत् । निगमवचन-  
 सिद्ध सदा विद्वदनुभवगोचर । हृदीत्यादि पूवयत् । अजर अपश्यशून्य  
 अमर नाशरहित अस्ताभासवस्तु-स्वरूप अस्ता गता आभासा विवक्षा  
 यस्मिस्तत् अस्ताभास तच्च तत् वस्तु च तत्स्वरूप । स्तिमितसलिलराशि  
 प्रह्व निस्तरङ्ग-जलराशिनिश्चल । आख्याविहीन नामरहित जात्यादि-  
 प्रवृत्ति-निमित्तविरहात् ते यदन्तरा इति श्रुते । समितगुणविवार  
 निर्गुण निर्विकार आश्रयत अनादिसिद्ध शान्त अपरिणामि । एव अद्वितीय  
 हृदि कल्पति विद्वान् समाधौ पूर्णं ब्रह्म ॥४११॥

समाहितान्त वरण स्वरूप

विलोभयात्मान-मयण्डवैभवम् ।

विच्छिन्नि बन्ध भवगन्ध-गान्धिल

यत्नेन पुस्त्व सफलीबुरज्व ॥४१२॥

स्वरूपे परमात्मनि समाहितान्त वरण निरालम्बया स्थापितमना गन्  
 अण्डवैभव अण्ड वैभव विभुस्य मय्य त आत्मा अन्धानावातरस्यापि  
 वञ्चनापिच्छात विनोभय गान्धारु । भवगन्धगान्धिल गगारवातना-  
 धामित बन्ध अज्ञा विच्छिन्नि नाश "अविद्यान्मयो मोक्षम्या च  
 बन्ध उदाहृत" इत्युक्ते । यत्नेन "मन्थनाप्रापरा सानो यन्मुताप्रापरा

सुखम् । यद्-गद्यानापरो योगस्तद् गृह्येत्यत्राग्य' इति "आत्म-  
लाभानपरविचिदन्ति" "आत्मानमन्विच्छ गुहा प्रविष्ट" इत्यादिवचनै  
"तत्तद् मुद्या बुद्धिमान्ग्यान् उततृत्यन् भाग्य" इतिगीतोक्ते, "आत्मा  
वा अरे द्रष्टव्य एतावदने य-मूनतय इतिश्रुत्या न आत्ममाक्षात्कारम्येव  
परमपुत्ररात् तदर्थं यत्नेन पुष्ट्य गृह-मुत्त-पुत्र-पुत्रपुत्र मफलोबुद्धय  
स्वरूपप्राप्त्या साध्यं कुरु पुनर्मा मयापौरुषि भाव ॥४१०॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्त सच्चिदानन्दमद्वयम् ।

भावयात्मानमात्मस्य न भूय कल्पसेऽवने ॥४१३॥

आत्मान भावय विविध सर्वोपाधिविनिर्मुक्त स्थूलसूक्ष्म-कारणरूप-  
भेदहतुभि विनिमुक्त विग्रहेण नितरा वासनातोपि इत्यर्थः । मुपत  
अस्पृष्ट सच्चिदानन्द अद्वय आत्मस्य । एतेन न विग्रहृष्टत्वं तस्य "अत्र  
वाय विर सत्यौम्य न निभाग्यस इतिश्रुते । सूक्ष्मायाबुद्धौ भासमान  
इत्यर्थः । स्वगहिमप्रतिष्ठया तद्भावेन मय पुन अध्यने ससृतये न कल्पसे ।  
"न स पुनरावर्तते मामुपेत्य तु कीन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" इत्यादि-  
श्रुतिस्मृतिभ्यः ॥४१३॥

आवृत्यभावमुपादयति । छायेवेति ।

छायेव पुस परिरूढ्यमान-माभासरूपेण फलानुभूत्या ।

शरीर-माराच्छववन्निरस्त पुनर्न सद्यत्त इदमहात्मा ॥४१४॥

महात्मा गृह्यभाव प्राप्त पुर्य फलानुभूत्या फल अक्षण्डावारवृत्त्या  
अनावृततया अमि यत्त-स्वरूपचेतन्य तस्यानुभूत्या अनुभवेन हेतुना  
आभासरूपेण संपत्यक्ता-निर्माव इव संपरूपेण इतरदृष्ट्या पूर्ववत् पुस  
छायेव आदेहपात परिरूढ्यमान आराददूरे शववन्निरस्त इव शरीर पुनर्न  
सन्धत्त तत्राहतादिक न करोति प्रतीतावपि घटादाविव उदासीनस्तत्र  
भवतीति भाव ॥४१४॥

सत्तत-विमलबोधा-नन्दरूप स्वमेत्य,

त्यज जडमलरूपोपाधिमेत सुदूरे ।

अथ पुनरपि नैव स्मर्यता वान्तवस्तु,

स्मरणविषयभूत कल्पते कुत्सनाय ॥४१५॥

## श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

नित्यनिर्मलप्रकाशानन्दरूपं ब्रह्म स्वमेत्य प्रत्यक्तया प्राप्य, जड-  
मलरूप उपाधि एतं स्थूलदेहं सुदूरे त्यज । अथ स्वयं निर्मलविद्वानन्दरूप  
ब्रह्मवेति ज्ञानानन्तरं पुनरपि नैव स्मर्यतां दूरं मलभाण्डवत्प्रवृत्तत्वात् ।  
तत्र वृष्टान्तमाह धान्तवस्तु वमनकर्मभूतं वस्तु स्मरणविषयभूतं स्मृत-  
मित्यर्थं कुत्सनाय स्वस्य जुगुप्सायै परकृते निन्दार्थं वा कल्पते । नहि  
मलिनं वस्तु स्मरणीयं मनसं विकारापत्तेः । निन्दन्ति च लोके त्यक्तं  
दुष्टं वस्तु स्मरन्तम् ॥४१५॥

समूलमेतं परिदह्य ब्रह्मौ  
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।

ततस्त्वयं नित्यविशुद्धबोधो-  
नन्दात्मना तिष्ठति विद्वरिष्ट ॥४१६॥

सदात्मनि कालप्रयाजाध्य-स्वरूपं निर्विकल्पे ब्रह्मणि ब्रह्मौ एतत्  
शरीरं समूलं अज्ञानं सह परिदह्य निरवशेषं दाह्य । तदा विद्वरिष्ट  
विदन्तीति विदं तेषु वर्गिष्ठं विद्वरिष्टं । स्वयं नित्यविशुद्ध-बोधानन्दा-  
त्मना तिष्ठति न कदाचिदपि तस्य अनात्मप्रतिभानगिति भावः ॥४१६॥

प्रारब्ध-मूत्र-प्रथितं शरीरं  
प्रयातुं वा तिष्ठतुं गौरिव सक् ।  
न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्ताऽनन्दा-  
त्मना ब्रह्मणि लीनवृत्ति ॥४१७॥

मूत्र-प्रथिता मृत् माला रज्जुर्नां अलवरणाद्यर्थं गगदी बद्धा,  
प्रयातुं तिष्ठतुं वा, यथा गो तत्र न दृष्टिं तथा प्रारब्धमेतद् मूत्रं तेन प्रथितं  
रचितं विदुषः अभिमानाभावसि तदीयनया इतरंगीयमानं तत्त्व-  
साधारणत्वात् तत् तदीयमूत्र-दुग्धमादात्तागवच्छेदात्वात् प्रारब्धपनसं  
निर्मितं शरीरं ब्रह्माभावात् गगनन्तरं प्रयातुं गतिना तिष्ठतुं वा प्रयातुं  
पश्यतुं वा । तत्त्ववेत्ता आत्मजायाम्मदार्तिं तत् शरीरं पुनः स्वस्य ब्रह्म-  
ज्ञानानन्तरं न पश्यति । तत्र हेतुः आनन्दात्मना ब्रह्मणि लीना वृत्तिः यस्या  
सं लीनवृत्तिः । पुनर्बहिर्गतात्मनो हेतुः आनन्दात्मनेति । यदा अनात्मना-



नन्दात्मना मनोवृत्तिर्लोना कथं वृत्तोवा मनसः बहिर्मुखत्वं स्यात् ।  
 सर्वदापि मुख मे भूयादिति या स्थिता इच्छा तस्याः विषयः प्राप्तः ।  
 ततः नित्यनिरतिशयमुखं प्राप्य तदात्मना लीनं मनः न बहिर्हरेति ।  
 वक्ष्यति "कस्तां परानन्दरसानुभूति-मृतमृज्य द्यून्नेषु रमेत विद्वान् ।  
 चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत्" इति ॥४१७॥

न तत्पुनः पश्यतोत्याद्युत्तरार्धमुपपादयति । अखण्डेति ।

अखण्डानन्द-मात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।

किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्पाति तत्त्ववित् ॥४१८॥

तत्त्ववित् अखण्डानन्दमात्मानं स्वस्वरूपत्वेन विज्ञाय किमिच्छन्  
 यदि किमिच्छति तस्याप्राप्तस्य प्राप्तये प्रयत्नं कुर्यात् । देहं विना  
 प्रयत्नकरणासम्भवात् देहं पुष्पोयात्त्वम् । अत उक्तं कस्य वा हेतोः कस्मै  
 पलापेत्यर्थः । देहं पुष्पाति । उक्तं हि श्रुत्या "आत्मानं चेद्विजानीया-  
 दयमस्मीति गुरूपः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसज्वरेत्" इति  
 ॥४१८॥

सम्यग्विदित-तत्त्वस्य लक्षणमाह । ससिद्धस्येति ।

ससिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।

बहिरन्तस्सदानन्द-रसास्वादन-मात्मानि ॥४१९॥

साधनचतुष्टय-संपत्ति-पुरस्सरं गुरुमुपसद्य तन्मुखात् वेदान्तवाक्यार्थं  
 श्रुत्वा मत्वा निर्दिष्टास्य सम्यगात्मानुभववतः योगिनः परमात्मन्येव  
 स्थापितचित्तस्य जीवन्मुक्तस्य जीवतोपि सर्वोपाधि-संबन्धविनिर्मुक्तस्य तु  
 एतत् फलं यदात्मनि अन्तःकरणे बहिरन्तःसदानन्दरसास्वादनम् ।  
 व्युत्थानेपि नानन्दस्य तिरोधानं अखण्डाकारवृत्त्या आवरणस्य भंजितत्वात्  
 तदुक्तं बहिरिति । इतरैरपि तदीयमूर्तिदर्शनेन अयं पूर्णानन्द इति निरन्तर-  
 स्मित-स्मैरावलोकनादिना ज्ञायते इति तस्य पूर्णानन्दात्मना स्थितिः निरन्तरं  
 अविद्यानिवृत्तिरूप-मोक्षस्यापि दृष्टफलत्वात् ॥४१९॥

तत्र साक्षात्परस्या वा साधनानां विशिष्य फले विज्ञाते, पूर्णता मुमुक्षुणा प्रयत्नेन तत्राधातुं शक्यते। तदर्थं वैराग्यबोधोपरतीनां श्रेमेण फलं दर्शयति। वैराग्यस्येति।

वैराग्यस्य फलं बोधं बोधस्योपरति फलम्।

स्वानन्दानु-भवाच्छान्तिरेयं वोपरते फलम् ॥४२०॥

विमुक्ति-सौपाप्रतलाधिरोहणं ताम्या विना नान्यतरेण सिध्यतीति कथितं, "वैराग्यात्परं मुखस्य जनकं पश्यामि यस्यात्मनः, तच्चेच्छुद्धतरा-  
त्मबोध-सहितं स्वाराज्यसाम्राज्यवृक्षम्" इति च। तेन मोक्षे तयोः समतया हेतुत्वमिव प्रतीयते। यद्यपि "एतद्द्वारमजरामुक्ति-युवते" इत्यस्ति तथापि "सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि कुरु प्रज्ञा निजधेयसे" इत्युत्तरार्धेण वैराग्यबोधयोः हेतुहेतुमद्भावः स्पष्टः प्रतीयते। ततः स्फुटयति, यद्यपि विवेक-वैराग्य-शमादिषट्क-मुमुक्षुत्वरूप-ग्रहाविचार-साधनमध्ये वैराग्य उपरतिश्च घटनीकृते अथापि तेषां साधनानां अन्तरगतत्वात् विचाराख्ये सामान्यतोऽवतमानानामपि श्रवणमननरूप-ज्ञानसाधनानुष्ठानेन उत्तमत्वं सम्भवेत् अत एव 'वाह्यानालवनं युते एगोपरतिरतमा' इत्युक्तम्। विचारदशम्या निदिध्यासनमन्तरा विपरीतभावनायाः अनिवृत्ते वाह्या-  
नालवनत्वं दुर्घटं। अथापि शब्दादिविषयानालवनत्वेन वृत्ति-विचार साधयतीति यक्तव्यम्। इदानीं तु पञ्चकोशनिषेध-पुरस्तरं निदिध्यासनेन स्वनुमये संपादिते अनात्माविषयवत्त्वं असक्तोद्येन यत्नं दास्यते अतः बोधस्य उपरतिः फलमित्युच्यते। अतः शमादिषट्कमध्ये शमपञ्च-धमपञ्चयेन वृत्तिताया अप्युपरते उत्तमत्व-सिध्यन्नरमेव "स्वल्पे नियतावस्था-  
मनसदनम उच्यते इति लक्षितशमः शान्तिपदेन स्वानन्दानुभवाच्छान्ति-  
रेयं वोपरते फलं इत्युक्तम्। पूर्वं प्रयत्नेन आप्तव्यस्यैव तत्र भवन्नोक्तिः साधनानां विनारेण प्रवृत्त्यगापत्त्वात् यगनुचित-व्यापयत्तः भवन्नोक्तिः भावः। तथापि 'ग्रहा मत्वं जगन्मिष्येत्यप्यङ्गो विनिरासः। मांय-  
नित्यानित्य-यस्तु-विवेकं समुदाहृतं' इति शिवा विवेकं पूर्वं परोक्ष-  
ज्ञानरूपं विचारसाधनान् अपरोक्षं प्राप्नोति। एव वैराग्यमपि दृष्ट-  
विषयेच्छान्तिरूपं "स्मोपस्य परं दृष्ट्वा निर्वर्ति" इति शीलान्वय-  
नानन्दमाप्तावति निषेधेन शमतामसादि गता न शिष्टं

असकुचित भवति । तस्मादभ्यास-वैराग्याभ्या सम्यग्मनो निरुध्य विचारैः  
 क्रियमाणे बोध अवश्यभावी यदि न जात वैराग्यरूपसाधन न पूर्ण-  
 भवतीति ज्ञातव्यम् । तत तद्वाद्दृष्ट्या प्रयत्न कार्यम् । एव बोधे उपनिष-  
 ज्जन्ये आत्मसाक्षात्कारे जाते असदिधार्मिकपर्यस्तात्म-परोक्षज्ञाने वा जाते  
 उपरति तस्य बोधस्य फलम् । ज्ञात्वापि बाह्येभ्य निवृत्यभावे मनस दृढ  
 ज्ञान न जातमित्येव ज्ञेयम् । तत्र च कारण वैराग्यापरिपूर्तिरेव । वैराग्य  
 पूर्ण दृढ आत्मनिश्चयश्च नो चेद् विद्यावता भेद बोधा, विद्यावतामपि  
 कृत अनुपरमण, उपरतो च मनस स्वानन्दानुभवाच्छान्ति निष्पत्त्यात्मना-  
 वस्थान एवैवफलमुपरेते । "ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत-कृत्यस्य योगिन ।  
 नैवास्ति किञ्चित्कतं व्य अस्ति चेन्न स तत्त्ववित्" इत्युक्ते ।  
 "यद्युत्तरोत्तराभाव पूर्वपूर्वं तु निष्फल" एन तत्तद्दृष्टफल-निष्पत्तिपर्यन्त  
 तत्तत्साधन न पूर्ण भवतीति ज्ञाने प्रयत्न साधकैर्न मुष्टु कर्तुं शक्यत इति  
 साधनपूर्णतायै सगुपन्यास ॥४२०॥

ब्रह्मविद्याया फलमाह । निवृत्तिरिति ।

निवृत्ति परमा तृप्ति आनन्दोनुपम स्वत ।

दृष्टदु खेष्वनुद्वेग विद्याया प्रस्तुत फलम् ॥४२१॥

निवृत्ति सर्वेभ्य कार्येभ्यो निवृत्ति निर्व्यापारत्वं कर्तव्यतन्त्रेणोपेता ।  
 परमा तृप्ति निरवृत्ता तृप्ति कर्तव्य कृत प्राप्तव्य प्राप्त इत पर करणीय  
 प्राप्तव्य वा विमपि नास्तीति स्वस्य धन्यधन्यतया सुखविशेष स्वत  
 अनुपम असदृश आनन्द विषयनिरपेक्ष नित्यनिरतिशय-मुक्त । प्रारब्ध-  
 कर्मणा दृष्टदु खेषु अनुद्वेग, अज्ञानी तु दु खेषु प्रसक्तोऽह पापी धिक् मा  
 दुरात्मान इत्यनुतापवान् भवति । यद्यप्यय विवेक दृढ भाति । तथापि  
 पूर्वस्मिन् जन्मनि चेत् पापप्रवृत्ति-प्रतिबन्धकत्वात् सप्रयोजनो भवति  
 स्म, इदानीतु निष्प्रयोजन इति भ्रान्ति तमोविचार । दु ख तु रागादि-  
 निमित्तवशात् रजोगुण-विकाररूपा सतापात्मिका चित्तवृत्ति फलानि  
 दु खोद्वेगयोर्भेद । ज्ञानिन अयमुद्वेगो न भवतीति चत्वारि फलानि  
 निवृत्ति, निरवृत्ता तृप्ति, असदृशानन्द निर्विषय, दृष्टदु खेष्वनुद्वेग  
 दवेति । विद्याया आत्मतत्त्वज्ञानस्य प्रस्तुत मुख्य दृष्ट फलम् ॥४२१॥

तत्र निवृत्तिमुपपादयति । यदिति ।

यत्कृत भ्रान्तिवेलाया नानाकर्म जुगुप्सितम् ।

पश्चात्तरो विवेकेन तत्कथ कर्तुं-मर्हति ॥४२२॥

विद्याफल स्यादसतो निवृत्ति

प्रवृत्तिरज्ञानफल यदीक्षितम् ।

तज्ज्ञा-जपोयन्मृगतृष्णिकादौ

नोचेद् विदो दृष्टफल किमस्मात् ॥४२३॥

अविवेक-विवेकयो एतावति बलक्षणे विवेकफलभूताया विद्याया परमात्मविषयिण्या किं वस्तव्यमिति भावेनाह । यत्कृतमिति । भ्रान्ति वेलाया जुगुप्सित नाना कर्म यत्कृत तत् कर्म विवेकेन पश्चात् कथ कर्तुंमर्हतीत्यनेन विवेकिन यथा जुगुप्सित-कर्मस्यो निवृत्ति एव विद्यावत प्राप्याभावात् ब्रह्मनिष्ठतया च सर्वकर्मनिवृत्तिरिति भावः । इदं फल लोक-दृष्टमित्याह विद्यति । विद्याफल स्यादसतो निवृत्ति प्रवृत्तिरज्ञानफल तद् ईक्षितं दृष्टं तज्ज्ञागयो । अत् यस्मात्कारणात् मृगतृष्णिकादौ आदिपदेन शक्तिरजतादिकं ग्राह्यम् । मृगतृष्णिकेति ज्ञानवान् न जलायं मरुभूमौ प्रवर्तते । मरुभूमौ सूर्यविरणपाते जलवद् भासते इति ज्ञानशून्यस्तु मरुभूम्य-ज्ञानेन तत्र जलघ्नान्त्या प्रवर्तते नेष्टं लभते, विफलप्रवृत्तिमान्भवति । तत् तस्मात्कारणात् विद्याफल असतो निवृत्ति अज्ञानफल प्रवृत्ति इतीक्षितं नोचेदेव विदं ज्ञानिन अस्माद् असन्निवृत्तिरूपात् दृष्टं फलं किं । प्रवृत्ते ब्रह्मविद्याविषये तु असच्छब्देन अनात्मा गृह्यते गृह्यभिष सर्वं । पूर्व-मज्ञानावस्थायाम् तत्र प्रवृत्तिरासीत् अलम्ब्यस्वरूपानन्दत्वात् । इदानीं तु स्वात्मानं विदितवत् तत्र सर्वत्र मिथ्यात्वज्ञानेन नैव प्रवृत्ति इति असन्नि-वृत्ति विद्याफल ॥४२३॥

प्रवृत्तिवारणाभावाच्च निवृत्तिरित्याह । अज्ञानेति । अनिच्छोरित्य-नेन परमा तुष्टिरप्युक्ता भवति ।

अज्ञान-हृदयग्रन्थे-चिनाशो यद्यनेपत ।

अनिच्छोर्विदुषं विनु प्रवृत्ते कारणं स्यत ॥४२४॥

अज्ञानप्रयोज्य य हृदयमग्न्य बुद्धौ साक्षिण तादात्म्याध्यास.  
तस्य अखण्डाकारवृत्त्या मूलभूतज्ञाननाशेन अशेषत निर्वासनतया यदि  
विनाश सकारण नास्ति । तदा इत्यध्याहार्यं यदीति सत्वात् । स्वतः  
अनिच्छो इच्छारहितस्य विदुषः प्रवृत्ते कारण किन्तु ? सर्वत्र  
प्रवृत्तौ इच्छैव कारण, तदभावे प्रवृत्त्यभावात् वदन्ति हि "प्रयोजन-  
मनुद्दिश्य न मनोऽपि प्रवर्तते" इति अत एव साधनचतुष्टये मुमुक्षुत्वमपि  
घटयोकृत । इच्छा च अन्तःकरणधर्म "काम सवाल्य" इत्यादिना  
"इत्येतत्सर्वं मन एव" इति श्रुते । मनसोऽपि बहिरिच्छा आनन्दरूपात्मा  
दर्शनात् स्थिता । तत्र दोषदर्शनेन नित्यनिरतिशयानन्द-रूपात्म-श्रवणमनन-  
निदिध्यासनेषु शास्त्रीयेषु मुमुक्षया प्रावर्तिष्य । आत्मदर्शनेन तत्रापीच्छा  
प्राप्तफलत्वाप्राप्तिः । विचारकाल एव बहिरिच्छा सूतरा नास्ति  
वैराग्यस्य परमसाधनत्वात् । तथाच तस्य इच्छासत्त्वे तत्तादात्म्याध्यासेन  
साक्षिणोपीच्छा इति वक्तव्यम् । आत्मेच्छापि आत्माज्ञानकालिक्येव ।  
अज्ञाननाशे तत्प्रयोज्य-चिज्जडतादात्म्याध्यास-नाशेन आत्मन्तिवी निवृत्ति-  
रिच्छाया इति सर्वेषां बहिरन्तर्वा प्रवृत्तिकारण विषय कोऽपि नास्तीति  
निष्पिपास्यमावस्थान निवृत्तिसाध्यायं ब्रह्मविद्याया दृष्टं फल ॥४२४॥

वैराग्यबोधोपरतय पूर्णतया नदा ज्ञया इति प्रश्ने तदवधि शिष्या-  
नूपहाय उपदिशति । वासनेति ।

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधि ।

अहभावोदयाभावो बोधस्य परमावधि ।

लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ॥४२५॥

भोग्ये यातनाया अनुदय अनुद्वेष, अनुभूते विषये पुरस्स्थितेऽपि  
तत्संस्कारानुद्वेषे यदा तदा वैराग्यस्य अवधि । तदीय मन विषयेषु  
नष्टमेव पुनो रागप्रसक्तिं वैराग्यस्य परस्यैषा परा काष्ठा प्रदर्शिता ।  
अहभावस्य उदयाभावो अनुत्पत्तिं बोधस्य परमावधि । अहं ब्रह्म इत्यपि  
वाचाया सामानाधिकरण्यम् । अतः सर्वात्मने अहन्त्वमपि कल्पितमेव ।  
अत एवोक्तं "यदत्येव भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया" इति । यदहन्त्वे  
न जातं तद् ब्रह्म इत्येवार्थं अहं ब्रह्मेत्यस्य, य चोर स स्वाणुरिति यत् ।

यद्वा कोशेष्वहभावस्य उदयाभाव इत्यर्थः । लीनवृत्तेरनूत्पत्तिर्यद्यपि परस्तेस्तु सा, आनन्दात्मना लीना या मनोवृत्तिरिति तस्या अनूत्पत्तिरिति यथा आज्ञा पुनः क्षीरं न भवति तथा स्वतः अनुपम आनन्द इति परमा तृप्तिरिति तत् सर्वतो निवृत्तिरिति हेतुहेतुमद्भावात् ॥४२५॥

इदानीं निरूपयमानानन्दं ज्ञानिनो दर्शयति । ब्रह्माकारतयेत्यादिना ।

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्त-बाह्यार्थधी  
अन्यावेदित-भोग्यभोगकलनो निद्रालुबद्ध बालवत् ।  
स्वप्नालोकि-लोकवज्जगदिदं पश्यन्वचिल्लक्ष्यधी  
आस्ते कश्चिदनन्त-पुण्यफलभुग्धन्यः स मान्यो भुवि ॥४२६॥

धियः निर्मुक्तबाह्यार्थत्वे हेतुः ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया ।  
सदा प्रत्ययान्तररक्षणत्वेन अविच्छिन्नतया ब्रह्माकारतया परमपुरुषार्थ-  
भूतालम्ब-संक्षिप्तानन्द-परमात्माकारतया स्थिततया निर्मुक्ता नितरा  
सवासनमित्यर्थः भुक्ता नष्टा बाह्यार्था यस्य सा नतु यथेति स्वयमेव  
निवृत्तत्वात् विषयाणां प्रयत्नस्य अनपेक्षितत्वात् “रसोऽप्यस्य पर  
दृष्ट्वा निवर्तते” इति ब्रह्मदर्शने विषयनिवर्तनार्थं प्रयत्नानपेक्षितत्वस्य  
प्रतीयमानत्वात् । तथाच निर्मुक्ता बाह्यार्थधी यस्य स निर्मुक्त-  
बाह्यार्थधी । कश्चिदित्यस्य विशेषणं अन्यावेदित-भोग्यभोगकलनं अन्यं  
आवेदितं यद्भोग्यं शरीरस्थितिनिमित्तं अज्ञानादिव तेन भोगस्य  
कलना संपत्तिरिति यदना यस्य स । आत्मप्राप्त्यानुभूतिर्यथेति । यथा निद्रालु-  
रस्यं भोजितं भुङ्क्ते बालश्च मात्रा भोज्यते तथा बहिर्मुखत्वाभावेन  
निर्लभमानतया च निद्रालुबद्ध बालवत् अन्यावेदित-भोग्यभोगकलनं,  
प्रारब्धपर्यायत-भोगोऽपि परमुपेन शरीरस्थितिहेतुर्भवति इति भावः ।  
क्वचित्परमात्मनि लक्ष्यधी लब्धा प्रतिष्ठिताऽधी यस्य स लक्ष्यधी,  
यद्वा क्वचित् वदचित् लक्ष्यधी व्युत्थितमना इदं जगत् स्वप्नालोकि-  
लोकवत् मिथ्यात्वेन पश्यन् कश्चित् ब्रह्मविद्भिरनन्तपुण्यफलभुग् ज्ञान-  
कोटि-ब्रह्मसु वृत्तमुत्तम-रुभूत-मोक्षानन्दानुभवी आस्ते न धन्यः भुवि  
मान्यः सवलपूज्यः । एतेन विषयान्विना स्वतः आनन्दः अनुपमः उक्तः  
आत्मविद्याफलः । “सोऽनृते सर्वान्नामान् मरु”, “यावानर्थं उदपाने

सर्वतः सप्तुतोदके । तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः " इति-  
 श्रुतिस्मृतिन्या " एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति " इति  
 श्रुतेरपि । लोके यावन्तः पुरुषा यावद्भिः पुण्यैः यावन्ति सुखान्यनुभवन्ति  
 अयं परावरैकत्वज्ञानी युगपत् सर्वाणि सुखानि समुद्रस्थानीय-ब्रह्मा-  
 नन्दानुभवाद्नुभवतीति वा अर्थः अनन्तगुण्यफलभुगित्यस्य " सोऽनुते  
 सकलान्कामान् अश्रमेण मुरपंभा । विदितब्रह्मरूपेण जीवन्मुक्तो न  
 सशयः " इति तैत्तिरीयपार्थविवरणेन ब्रह्मगीतायुः श्रवणं सुखानां विषया-  
 भिव्यक्त्या ब्रह्मानन्द-सिन्धुविदुः-वर्णिकायमानत्वात् । " स्नातः तेन समस्त-  
 तीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि यज्ञानां च सहस्रमिष्टमलिला देवाश्च  
 सतपिताः । ससारान्ध्रः समुद्धृतास्त्वपितरस्त्रैलोक्य-पूज्योप्यसौ, यस्य  
 ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् " इत्युक्त्या ब्रह्मनिष्ठा  
 यस्य सर्वदाम्यं मान्यतायाः किमुवक्ष्यते । उक्तं हि " कुलपवित्रं जननी  
 कृतार्था विप्रभरा पुण्यवती च तेन । अपार-सर्वित्सुखरागरेऽस्मिन् लीन  
 पदे ब्रह्मणि यस्य चेतः " इति 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिपाम् "   
 इति श्रुतेरपि ॥४२६॥

जीवन्मुक्त-लक्षणे ज्ञाते साधकं मुमुक्षुभिः तथा स्यात् प्रयतितुं  
 शक्यत इति मुमुक्षुजनानां ब्रह्मार्थं तल्लक्षणं वक्तुं प्रयत्नः । स्थितप्रज्ञ इति ।

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यस्सदानन्दमश्नुते ।

ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिप्त्रियः ॥४२७॥

ब्रह्मण्येव विलीनात्मा विलीन आत्मा अन्तःकरण यस्य अतः एव  
 निर्विकारं हर्षविषादाद्यान्तरविकाररहण्यं । विनिप्त्रियं बाह्यदेहादि-  
 चेष्टारहण्यं, " प्रिया रवाथयमविकुर्वती नैवात्मानं लभते " इति समन्वय-  
 शून्यभाष्यात् निर्विकारत्वे हेतुः विनिप्त्रिय इति वा । यः सदानन्द-  
 मश्नुते अयं यतिः स्थितप्रज्ञ इति । सूत्रस्थानीयोऽल्लोचः ॥४२७॥

तत्र स्थितप्रज्ञत्वं व्याख्युरते । ब्रह्मेति ।

ब्रह्मात्मनो गोघितयोरेव भावावगाहिनी ।

निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रजेति च्यते ।

सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इत्यते ॥४२८॥

### योविवेकबूढामणि सव्याख्य

स्थिता सतत वर्तमाना प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञ इति विग्रहः ।  
तत्र प्रज्ञाशब्दार्थमाह बोधितयो महावाक्यार्थक्यनावसरे दक्षितविद्या  
तत्त्वपदलक्ष्ययो उपाधिविनिर्मुक्तयो, ब्रह्मात्मनो परमात्मप्रत्यगात्मनो,  
एकभावावगाहिनी ऐक्यविपयिणी निर्विकल्पा ससर्गादिमिथ्यापदार्था-  
विपयिणी चिन्मात्रा अक्षण्डचिदाकारा वृत्ति श्रवण-मनन-निदिध्यासन-  
संस्कृतमन परिणाम प्रज्ञा इति कथ्यते । स्थिताशब्दार्थमाह “सा सर्वदा  
भवेद्यस्यति,” सजीवन्मुक्त इष्यते अतस्मिस्तद्वबुद्धरेव वक्ष्यत्वात् सर्वदा  
अक्षण्डाकारवृत्ती सत्या वक्ष्यप्रसक्तेरभावात् ॥४२८॥

यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।

प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

सूत्रश्लोकस्थस्य यस्सदानन्दमश्नुते ब्रह्मण्यव विलीनात्मा इत्यस्य  
विवृतिः । अत्र सर्वं तस्य स्वरूपं अतः विवक्षयानां ध्यायतैकत्वशक्त्या  
नकार्यं । यद्वा यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा स जीवन्मुक्त एव यस्यानन्दो  
निरन्तरः स जीवन्मुक्त यस्य प्रपञ्च विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इति  
योजना । उपदेशयन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन इतिस्मृत्या शिष्य-  
बोधनार्थं शिष्यादृष्ट्यन व्युत्थानदशाया तदुपयोगि प्रमाणवाक्यादिरूप प्रपञ्च  
स्मर्यन्ते नाम्नात् किञ्चिदिति विस्मृतप्राय इति प्रायः पदम् ॥४२९॥

सुषुप्ते भवमाह । लीनधीरिति ।

लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रदभवंजितः ।

बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

सुषुप्तौ मनस्य अज्ञाने लय, इदानीं ब्रह्मणि चिन्मात्रे, ततः तम-  
प्रसक्तेरवगाभावात् लीनधीरपि जागर्ति नष्टविद्यानिद्र इत्यर्थः ।  
अनावृतात्म-संयद-संवल्लपदायत्वात् स्वाय्यनिर्मेण सर्वमूलभूत इति वा ।  
“इन्द्रियैर्योप-स्थिर्जागर्तिमिति” लक्षणं सुयोगं । जागरेपि न पूर्ववत्  
स्पृष्टदेहाद्यभिमान इत्याह यो जाग्रदभवंजितः, “रागद्वेषमिदमनन्तु  
विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्येविषेयात्मा न शान्तिमधिगच्छति”  
इतिस्मृतिरीत्या अध्यासबाल एव शान्त्यर्थमेव प्रयत्नस्य शृतरान् ।



यस्य बोध पदार्थानां बोधोपि निर्वासनं सक्तिरहितं इत्यर्थः ।  
 "यदृच्छोपन्तोष्वक्षि दिग्द्रव्येषु यथा पुन । नीरागमेव पतति तद्वद् भोग्येषु  
 धीरयो इति यासिष्ठोक्ते ह्योपादेयबुद्धिरहित इति भावः । यद्वा  
 लीनधोरपि जायति चक्षुरादीन्द्रियाणां त्वस्वगोलनेष्ववस्थानेन उपरत्य  
 भावज्जगति । इन्द्रियसत्त्वेऽपि मनसं ब्रह्मणि लीनत्वात् नेन्द्रियैरर्थानुपलभते  
 यतः ततः जाग्रद्वर्गाजितः । कदाचिदुपलब्धावपि दृढतमदिवेकप्रकर्षात्  
 रागद्वेषादिभूयस्त्वन्निर्वासनबोधत्वः । तेन निर्विकारत्वं सूत्रश्लोकस्य  
 विवृतं ॥४३०॥

द्वादशभिः श्लोकैः निर्विकारत्वं मुख्यतया उपपादयति, तस्मिन्सति  
 प्रज्ञाप्रतिष्ठायां तस्या च सदानन्दस्य अपूर्वासिद्धत्वात् ।

शान्तससारफलं कलावानपि निष्कलः ।  
 यस्सचित्तोपि निश्चितः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३१॥

शान्ता ससारफलना यस्य स शान्तससार-फलं, इदं विशेषणं  
 निश्चितत्वे हेतुः । कलावानपि सबलविद्याविदपि निष्कलः प्रह्लादमूर्ति-  
 व्यतिरिक्तवृत्तिभूयस्त्वात् । यद्वा आमोक्ष प्राणश्रद्धादि पौष्टिक-  
 विशिष्टोपि तत्राभिमानरूप-मगाभावात् परकीयप्राणादिभिरेव कलासंग-  
 भूय इत्यर्थः । यस्तचित्तोपि स्वात्मना परिणतचित्तविशिष्टोपि निश्चित  
 बहिर्वृत्तिभूयस्त्वात् मुखादिवत् रागादिभूयस्त्वाद्वा । स जीवन्मुक्त  
 इष्यते ॥४३१॥

वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिन्शलायावदनुवर्तति ।  
 अहताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३२॥

शलायावदनुवर्तति अस्मिन्स्थूलदहं वर्तमानेऽपि अहताममतपोरभावः  
 परकीयशरीर इव जीवन्मुक्तस्य लक्षणः । एतेन सर्वेषां विवाराणां राग-  
 द्वेषादीनां जरामरणादीनां वा स्थूलदेहाभिमानमूलकत्वात् मूलाभावे  
 निर्विकारत्वं स्पष्टमुपपादितम् ॥४३२॥

अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम् ।  
 औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३३॥

अतीतस्य अननुसंधान अस्मरण, भविष्यत आगामिन अविचारण  
अचिन्तन, प्राप्तोपि वर्तमान इत्यर्थं औदासीन्य सगभून्यत्व जीवन्मुक्तस्य  
लक्षणम् ॥४३३॥

गुणदोषविशिष्टेस्मिन् स्वभावेन विलक्षणे ।  
सर्वत्र समदर्शित्व जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३४॥

गुणदोषविशिष्टे अत एव स्वभावेन विलक्षणे अस्मिन् अगति सर्वत्र  
समदर्शित्व “न निपद्यति दोषधिया गुणबुद्ध्या वा न किञ्चिदादत्ते ।  
आविद्यक-मखिलमिति शास्त्रोदास्ते मति कोपि” इत्यात्मविद्या-  
विलासोक्तरीत्या हानोपादानरहितत्वं । यद्वा सम ब्रह्म, “निर्दोष हि सम  
ब्रह्म” इतिस्मृते सर्वत्र ब्रह्मदर्शित्व जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३४॥

इष्टानिष्टार्थ-संप्राप्तौ समदर्शितयाऽऽत्मनि ।  
उभयप्राविकारित्व जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३५॥

इष्टस्य वा अनिष्टस्य वा अर्थस्य संप्राप्तौ समदर्शितया इदमिष्ट  
इदमनिष्ट इतिबुध्यभावात् आत्मनि उभयप्राविकारित्व हर्षोद्वेगभून्यत्व  
जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् लोकदृष्ट्या इष्टानिष्टेति-कथन ॥४३५॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादा-सकतचित्ततया यते ।  
अन्तर्वह्नि-रविज्ञान जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३६॥

ब्रह्मेति । स्पष्टम् ॥४३६॥

देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहभाववर्जित ।  
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३७॥

देहेन्द्रियादौ आदिपदेन प्राणमनोबुध्यहन्तर-परिग्रह । कर्तव्ये कर्मणि  
ष ममेद कर्तव्य ममेद कृतमिति वा ममभाववर्जित । देहेन्द्रियादौ  
अहं मनूष्य अहं पश्यामि, मम देह, मम चण्डूरित्यादिव्याप्तवर्जित ।  
य औदासीन्येन आप्यामिवतादाम्यभून्यतया अमग्नतया तिष्ठेत् स ईदं नृप  
इष्यते ॥४३७॥

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभाव श्रुतेर्बलात् ।  
 भवबन्ध-विनिर्मुक्त स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३८॥  
 श्रुतेर्बलात् तत्त्वमसीत्यादि-वेदवाक्यमहिम्ना आत्मन स्वस्य ब्रह्मा-  
 भाव ग्रहात्व यस्य विज्ञात साक्षादकारि । भवबन्धविनिर्मुक्त सकल-  
 विधभ्रान्तिशून्य मूलाज्ञाननाशात् न जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३८॥  
 भवबन्ध-विनिर्मुक्तत्व स्पुटमाह । देहेति ।

देहेन्द्रियेष्वहभाव इदभावस्तदन्यके ।  
 यस्य नो भवत क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३९॥  
 देहे इन्द्रियेषु च अहभाव, तदन्यके तदन्यस्मिन् घटादौ इदभाव  
 यस्य क्वापि कस्मिन्नापि काल न भवत स जीवन्मुक्त इष्यते । अनारम्भत्वस्य  
 समत्वात् देहेन्द्रियाणां घटादेश्च, स्वस्मिन्कल्पितत्वस्य च समत्वात् ।  
 केवलपूर्ववासना-मूलक अहमिदभाव निर्वासनबोधवत जीवन्मुक्तस्य न  
 सम्भवतीति भाव ॥४३९॥

जीवेशोभय-ससाररूप-दुर्वासनोज्जिता ।  
 सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥  
 नप्रत्यग्रब्रह्मणोर्भेद कदापि ब्रह्मसमयो ।

प्रज्ञाया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४०॥  
 “विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिक गते । आत्मनि ब्रह्मणो भेद  
 असन्त फ करिष्यति” इतिप्रमाणात् प्रत्यग्रब्रह्मणो, जीवब्रह्मणो, सृज्यत  
 इतिसमं जगत् “ब्रह्मैवेद विश्व” इत्यादिश्रुत्या रज्जुसर्पवद् ब्रह्माणि  
 कल्पितस्य अविष्टानभेदाभावात् । “यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवान् तत्केन  
 क पश्येत्” इत्यादिश्रुत्या “यत्र नाप्यत्यक्ष्यति” इत्यादिश्रुत्या च “यदा  
 ह्येवैष एतस्मिन्नुदर-मन्तर कुस्ते, अयं तस्य भय भवति” इति श्रुत्या च  
 अभयब्रह्मप्रतिष्ठस्य तस्य किञ्चिदपि भेदज्ञान नास्तीति भाव । तथा च  
 भेदस्याभावादेव तस्य ज्ञानाभाव, शयविषाणवत् त्रैकालिकनिषेध प्रति-  
 योगित्वात् । वस्तुसत अज्ञाने किञ्चिज्ज्ञत्व नत्वसत । न हि सर्वज्ञाना  
 योगिना शयविषाणाद्यज्ञानाद-सर्वज्ञत्व कश्चिदुपैति । तस्मान्निर्विकल्पया

सकलधास्त्र-सस्कार-ससंस्कृतमन परिणामरूपया चिन्मात्रया प्रज्ञया भेद न विजानाति सास्त्रस्य प्रयोजनव-दनधिगताबाधितार्थ-बोधकत्वेनैव प्रामाण्यात् । लोकाज्ञानसिद्ध निष्प्रयोजन उपादानेन अज्ञानेन सह निवृत्त भेद कथं अलण्डाकारवृत्तौ विषयभावं प्राप्तुमर्हं स्यात् ।  
 “प्रतीतिर्जीव-जगतौ स्वप्नवद्भाति यावता । तावन्निरतरं विदन् स्वाध्यासापनयं कुरु” इत्युपदेशप्रकारेण अपनीतसकलभ्रमस्य न कदापि भवज्ञानं भवतीति एवमक्षण-सपन्नं यं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४०॥

साधुभिः पूज्यमानेस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।

समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४१॥

अस्मिन् शरीरे साधुभिः पूज्यमाने दुर्जनैः पीड्यमानेऽपि यस्य समभावः समस्य हर्षमर्षादिशून्यत्वं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४१॥

विं बहुना

यत्र प्रविष्टा विषया परेरिता

नदीप्रवाहा इव वारिराशौ ।

लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रिया

उत्पादयन्त्येव यतिविमुक्त ॥४४२॥

परेरिता परे अन्ये ईरिता अनेन स्वतः विषयोन्मुक्तत्वेनैवास्ती-  
 क्षितग्रहणं पुन इत्युक्तम् । परेरिता परवृत्त-स्तुतिनिन्दादयोऽपि परवृत्त्या  
 साध्वसाधु-शब्दाद्यात्मना विषया यत्र प्रविष्टा यमुद्दिश्य कृता वारिराशौ  
 प्रविष्टा नदीप्रवाहा इव लिनन्ति लीयन्ते न विचिन्त्यामुत्पादयन्ति हर्षं  
 वा अमर्षं वा देन्य वा । तत्र हेतुः सन्मात्रयेति अरण्यप्रवृत्तौवाहमिति  
 निर्दिश्य स्थितवत् शरीराबाधित-स्तुतिनिन्दादिना विं भवति । निर्गुणे  
 निर्दोषे च यत्प्राणि स्थितवत् अलविष-विचारशून्यत्वं । तत्र पशूनां  
 मर्षं आनामहननार्थं-नाह्माद्यामुप-श्रयुषिणवद् व्यर्पणमिति भावः । एष यतिः,  
 यत्र प्रविष्टा विक्रिया नोत्पादयन्ति एष यतिः विमुक्ता शोणयामनत्वात्  
 नष्टमनस्त्वाच्च ॥४४२॥

“तस्य तावदेव चिर यावच्चविमोक्ष्ये अथ सपत्स्ये” इतिश्रुत्या  
 “भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सपद्यते” इतिसूत्रेण च ज्ञानिनामपि प्रारब्ध-  
 कर्मायुक्त भोग स्वीकर्तव्यो भवति । तथाच सुखदुःखानुभवरूपत्वात्  
 भोगस्य, कथं निर्विकारत्वं इति शकाया प्राह । विज्ञातेति ।

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न ससृति ।  
 अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुख ॥४४३॥

विज्ञातमनुभूत ब्रह्मतत्त्वं येन स विज्ञातब्रह्मतत्त्वं, तस्य मिथ्याज्ञान-  
 नाशेन तत्कृताभिमानाभावात् यथापूर्वं अनुभवात्प्रागिव न ससृति सुख-  
 दुःखानुभव स्पृहोद्वेगदूष्यत्वात् तदुक्तं योतासु “दुःखेप्सुनुद्विग्नमना  
 सुखेषु विगतस्पृह । वीतरागभयश्लेष स्थितधीर्मुनिरुच्यते” इति ।  
 इतरेषा नैवविधत्त, दुःखेषु उद्विग्नान्ते सुखेभ्यः स्पृहयन्ति च रक्ता भीता  
 कोपितश्च । तदाह, अस्ति चेत् उद्वेगस्पृहादिकं न स विज्ञातब्रह्मभाव  
 बहिर्मुख कोशेष्वन्तर्माभिमानवान् ॥४४३॥

प्राचीनवासनावेगादसौ ससरतीति चेत् ।  
 न रादेवत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥४४४॥

ब्रह्मानुभवात्प्राक्कालिनी अगादिभयसन्निता या वासना तस्या-  
 वेगात् असौ ब्रह्मवित् ससरति बन्ध भजत इति चेत् न, सदेवत्वविज्ञानात्  
 अद्वितीयाखण्ड-स्वप्रकाशानन्द-ब्रह्मानन्द-साक्षात्कारात् वासना अल्पजड-  
 दुःखात्मकत्वेन निश्चितानात्म-स्वात्मत्वभ्रमजनितवासना मन्दीभवति  
 तनूभवति क्षिपिला भवतीत्यर्थं अरणोदयकालिकं तम इव ॥४४४॥

तत्र दृष्टान्तमाह । अत्यन्तेति ।

अत्यन्तकामुकस्यापि शक्तिं कुण्ठति मातरि ।

तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिण ॥४४५॥

पूर्णानन्दे असंख्यानन्दरूपे ब्रह्मणि, साक्षात्कृते मनीषिण विधेनिन-  
 इत्यर्थः । जगति पृतिं कुण्ठति । वक्ष्यति हि “चन्द्रे महाह्लादिनि  
 दीप्यमाने चित्रेन्दुगालोकयतु क इच्छेत्” इति ॥४४५॥

पूर्वोक्तश्रुति-सूत्रयो मन्दशवा-समाधानार्थत्वं विवक्षुः आदौ तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष-विनाशौ इतिसूत्रानुरोधेन (तदधिगमे ब्रह्माधिगमे उत्तराधस्य अश्लेष पूर्वाधस्य विनाश इति सूत्रार्थः) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इतिश्रुत्या च प्रारब्धव्यतिरिक्त-कर्माणि गृह्यन्ते इति भावेन ब्रह्मासाक्षात्कारस्य सचितकर्मनाशकत्वमाह । अहमिति ।

अहं ब्रह्मेतिविज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम् ।

सचित विलय याति प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत् ॥४४८॥

सचित अनारब्धफलक पूर्व कर्म कल्पकोटिशतार्जित अकर्तृ-ब्रह्माभेद-साक्षात्कारात् प्रबोधात् जागरात् स्वप्नकर्मवत् विलय विनाश याति प्राप्नोति ॥४४८॥

दृष्टान्तमुपपादयति । यत्कृतमिति ।

यत्कृत स्वप्नवेलाया पुण्य वा पापमुल्लवणम् ।

सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात् स्वर्गाय नरकाय वा ॥४४९॥

स्पष्टोप्यं । एव अविद्यानिद्राकालकर्मभि आत्मैकत्व-दर्शन-प्रबोधवत् नष्टाविद्यत्वेन च औपाधिकेनापि कर्तृत्वेन दून्यस्य न फल-नारभ्यत इति भावः ॥४४९॥

सचितकर्मणा अनात्माध्यासनाशेन नाशमुक्त्वा आगामिना कर्मणा अश्लेषमाह । स्वमिति । पूर्व कर्माध्यासनात्माध्यासात् कर्तृत्वज्ञान स्वस्मिन्नासीत् । कर्तृत्वज्ञानकाले वृत्तान्यपि कर्माणि कर्तृत्वज्ञाननाशा-स्पष्टानि इदानीं तु अकर्तृ-ब्रह्मात्मत्वबोधे आगामिकर्म-सर्वस्य एव नास्तीति तदश्लेष इत्युच्यते

स्वमसगमुदासीन परिज्ञाय नभो यथा ।

न दिलप्यते यतिः किञ्चित्कदाचिद् भाविकर्मभिः ॥४५०॥

स्व स्वात्मान असम एक उदासीन अकर्तार परिज्ञाय सम्यगनुभूय । यथा नभ गगन जलानलानिलादिभि न श्लिष्यते तथा आत्मविद्यति

कदाचिदपि विचिदपि भाविकर्मणि आत्मानुभवोत्तरकालिकं कर्मणि  
शरीरादौ भवद्भिरपि न श्लिष्यते । तत्र अभिमानरूपसमाभावात् कर्म-  
धर्मितादौ तस्याध्यासे कर्माध्यासरूप-श्लेषे तस्य मूलज्ञाननाशेन तद्वत्त्वात्  
मानात्मधर्म-श्लेषे ॥४५०॥

उक्तमर्थं न भवति दृष्टान्ते उपपादयन् दाष्टान्तिके योजयति ।  
न नभ इति ।

न नमो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।

तथात्मोपाधियोगेन तद्वर्मे-नैव लिप्यते ॥४५१॥

जगद्व्याप्य वर्तमानं नभं घटावच्छिन्नतया परिच्छिन्नमिव  
लक्ष्यमाणमपि निमलत्वात् अमृतत्वात् अवच्छेदकघटगत-सुराया गन्धेन  
न लिप्यते । एव आविरेहर्षवन्त्य अनुवर्तमानैरपि उपाधिभिः स्थूल-  
सूक्ष्मशरीररूपे योगेन मिथ्यासवन्धेन तद्वर्मे स्थूलसूक्ष्मशरीरधर्मे देवता-  
यन्त्र-सारजपादिधर्मे नैव लिप्यते ॥४५१॥

इदानीं “भोगेन स्थितरे क्षपयित्वा भवत्ये” इति सूत्रार्थमाह ।  
ज्ञानोदयार्दितः ।

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।

अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टवाणवत् ॥४५२॥

अहङ्गात्मोक्ति-साक्षात्कारोत्पत्तेः प्राक् आरब्धं कर्मादनाय प्रवृत्तं  
कर्म स्वफलं मुक्तं शान्ततररूपं अदत्त्वा, लक्ष्यमुद्दिश्य उत्सृष्टवाणवत्, इदं  
उत्तररलोके स्पष्टीक्रियते, ज्ञानात् अवर्तमान-साक्षात्कारात् न नश्यति  
संचितवत् ॥४५२॥

लक्ष्यमुद्दिश्येत्यादिदृष्टान्तं स्पष्टयति । व्याधयेति ।

व्याधयितुं व्याधिं विनिर्मुक्तो बाणः पश्यन्तु गोमती ।  
न तिष्ठति च्छिन्नतरयेव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥४५३॥

“दृष्टोऽयं व्याधो हन्तव्यः” इति व्याध्या विनिर्मुक्त आचार्यान्निवारणाय  
एष बाणः पश्यन्तु बाणस्यागान्तरं तु गोमतीं पुरास्मरन्ति गोमतिं

मतौ जातायामपि न तिष्ठति निवृत्तगतिर्न भवति । वेगेन निर्धरं नियतं  
सम्यक् लक्ष्यं पुरोवस्तु छिनत्येव हिनस्त्येव । एव फण्डानाय  
प्रवृत्तत्वात् ब्रह्मसाक्षात्कारोदयेऽपि स्वफलं दत्तैव क्षीयते इति । इतरे  
आरब्धफले पुण्यपापे भोगेन तत्फलानुभवेन क्षययित्वा संपद्यते विदेहमुक्तो  
भवतीति सूनायं । एव तस्य ज्ञानिनः तावदेव चिरं तापानेव विलम्ब  
यावन्नविमोक्ष्ये प्रारब्धकर्माधीनतया शरीरासविमोक्ष्यते, अथ शरीर-  
पातनान्तरं सपत्स्ये सपत्स्यते विदेहमुक्तो भवति इति श्रुतेरर्थः ॥४५३॥

उक्तश्रुतिसूत्रार्थं सर्वं पूर्वाधेनं सगृह्य परमार्थमाह उत्तराधेनं ।  
प्रारब्धमिति ।

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदा भोगेन तस्य क्षयं  
सम्यज्ज्ञान-हृताशनेन विलयं प्राक्सचितागामिना ।

ग्रह्यात्मैक्य-मवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा सस्थिता  
तेषां तत्त्रितयं नहि क्वचिदपि ग्रह्यं ते निर्गुणम् ॥४५४॥

ज्ञानस्यैकरूपत्वेऽपि सगाधिप्रकर्षेण ग्रह्यावित्, ग्रह्याविद्वर, ब्रह्म-  
विद्वरीयान्, ग्रह्याविद्वरिष्ठ इति सत्त्वापत्यसंज्ञितं पदार्थानावना-नुर्यगेति  
भूमिकानुसारेण समुपजातग्रह्यासाक्षात्कारा व्यवहियन्ते । तत्र तुर्यगाख्य-  
भूमिकागतस्य ब्रह्माविद्वरिष्ठस्य केवलनिर्गुणब्रह्मरूपत्वात् परवृत्तप्रबोधोऽपि  
नास्तीति त्रिविधमपि कर्म नास्ति । ब्रह्मविद्वरीयम् परवृत्तप्रबोधे प्रपन्नमानं  
तदा प्रारब्धं व्याप्रियेत यथा ब्रह्मादस्य महाविष्णु-माचक्षन्त्यस्वश्रवणेन  
समाधेर्व्युत्थानं । ब्रह्माविद्वरस्य स्थितप्रज्ञस्यापि कर्मवशात् स्वयं व्युत्थितस्य  
सुखदुःखादिभानं गीतायुः स्पष्टं प्रतीयते "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा"  
इत्यर्जुन-प्रश्नस्त्योत्तरेण । ज्ञानपरिपाकार्थं स्वीकृतसंन्यासा स्वोपदेशेन  
जन्मादीना-मुत्पादित-ब्रह्मसाक्षात्कारा याज्ञवल्क्यादयः ब्रह्माविद्वः ।  
तादृशानां विदा ज्ञानिनां ज्ञानप्रारब्धयोगोऽप्येव प्रारब्धं बलवत्तरं, खलु  
प्रसिद्धं । तस्य प्रारब्धवर्मेण भोगेन क्षयं नाशः । सम्यज्ज्ञानमेव हृताशनं  
अग्निं तेन प्राक्सन्नितानां वर्मेणा ज्ञानानन्तरकालिकता आगामिना  
वित्तमं त्रणेन विनाशास्त्रेण । ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य साक्षात्कृत्य तन्मयतया  
स्वार्थं मयद् ब्रह्मरूपतयेत्यर्थं ये सर्वदा सस्थिता तुर्यगा भूमिमाहता



श्रीधिवेकभूदागणिः सञ्चाल्यः

तेषां तत् त्रितयं त्रिविधमपि कर्म नहि क्वचिदपि कदाचिदपीत्यर्थः । ते निर्गुणं ब्रह्मैव । ततः सत्त्वादिगुणकार्याणां नैव प्रसन्निरिति भावः ॥४५४॥

तत्स्फुटयति । उपाधीति ।

उपाधितादात्म्य-विहीन-केवल-  
ब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः ।

प्रारब्ध-सञ्ज्ञा-कथा न युक्ता,  
स्वप्नार्थ-सबन्धकथेव जाग्रतः ॥४५५॥

अज्ञानदशाया आध्यात्मिक-मुपाधितादात्म्य जीवस्य आसीत् । इदानीं तु श्रुत्याचार्यप्रसादेन सम्पजात-परापरैकत्वविशेष-प्रकर्षेण उपाधिभिः अहंकाराकिभिः यत्तादात्म्यतद्विहीनं यत् केवलं ब्रह्म त्रिविध-परिच्छेदशून्यं निर्विकल्पं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मतत्तादात्म्येनैव आत्मानि तिष्ठतः "स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नि" इति श्रुते । पूर्वं मुपाधिपु-स्थितिरासीत् तदिदानीं नास्तीत्यावेदयितुं आत्मानि तिष्ठत इति कथितम् । स्वस्थस्य मुने प्रारब्धसञ्ज्ञा-कथा न युक्ता तत्र वृष्टान्त जाग्रतः प्रबुद्धस्य स्वप्नार्थसबन्धकथेवेति ॥४५५॥

तत्स्फुटयति । नेति ।

न हि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे ।  
करोत्यहन्तां ममतामिदंतां किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ॥४५६॥

न तस्य मिथ्यार्थ-समर्थनेच्छा न संग्रहस्तज्जगतोपि दृष्टः ।  
तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मूपार्यं न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ॥४५७॥

प्रबुद्धः स्वप्नादुत्थितः पुरयः प्रतिभासदेहे स्वप्नान्ते भासदेहे, देहोपयोगिनि प्रपञ्चेपि श्रेणे अहन्ता ममता इदन्ता न न करोति । हि निद्रयः किन्तु स्वयं जागरेण तिष्ठति । नहि स्वप्ने पदवादिभ्यस्तन्मयं दृष्ट्वा जाग्रत् गः तृणादिकं भक्षणं स्वप्नार्थ-नियमं वा रत्ननि । तस्य मिथ्यार्थमर्थनेच्छा स्वप्नमात-देहादिपदार्थ-मर्थनेच्छा नास्ति ।

तत्काले भातजगत् तज्जगत् स्वाप्निक जगदित्यर्थः । तस्य सग्रहः स्वीकारः  
न दृष्टः । यदि तत्र मृषार्थे देहजगदादिरूपे अनुवृत्तिः मनसः जाग्रत्कालिक-  
वस्तुनीव, न निद्रया भुवत इति ध्रुवमिष्यते ॥४५७॥

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्तमानः सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते ।  
स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकिताथेतयाविधः प्राशनमोचनादौ ॥४५८॥

तद्वत् सुप्तप्रबुद्धवत् परे ब्रह्मणि वर्तमानः सत्स्थापितमना गुमान्  
सदात्मना अवाध्यासगच्छिद्रूपेण तिष्ठति । अन्यत् नैक्षते अन्यस्यासत्त्वात्  
“यत्र नान्यत्पश्यति” इत्यादिश्रुते यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन क-  
पदयेत्” इति श्रुतेश्च । ब्रह्मविदोऽपि अप्रादानविसर्गादिकं कुर्वन्तीति मन्द-  
शफायामुत्तरमाह स्मृतिरिति । प्रबुद्धस्य स्वप्नविलोकिताथं यथा स्मृति-  
न तत्र रात्यल्पबुद्धिः तथा विदुः ज्ञानिनः प्राशनमोचनादौ, “नाप्रतीति-  
स्तपोर्वाधिः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः” इति पचदश्या । स्वप्ने स्वात्मान-  
व्याघ्रमन्वानां प्रबुद्धः न तत्सत्त्वत्वं मन्यते किन्तु स्मृतिः स्यात् तथा पूर्वं  
प्राशनमोचनादिकर्तुं शरीरं अहतया अमन्यत इदानीं स्ववास्तविकत्वरूप-  
दृष्टवत् अहता विना प्राशनादिकर्तुं शरीरं प्रतीयेत पृथगतया, भ्रुत्स्थानेपीति  
भावः ॥४५८॥

आत्मनः प्रारब्धं कर्म नास्तीत्यत्र युक्त्या समर्थयति । कर्मणेति ।  
कर्मणा निर्गितो देहः प्रारब्धः तस्य कल्प्यता ।

नानादेहात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ॥४५९॥

अजो नित्य इति ब्रूते श्रुतिरेषा त्वमोघवाक् ।  
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥४६०॥

आत्मनो नादित्ये प्रमाणमाह । अजो नित्य इति । “अजो नित्यः  
चादवतोऽथ पुत्राणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे” इत्यादिनिरुद्धश्रुतिः ।  
अमोघवाक् अमोघा अवाधितार्थेणा वाक् यस्याः, घटकालं पठ्यर्थः ।  
तदात्मना स्ववास्तविकस्वरूपेण तिष्ठतोऽस्य ज्ञानिनः प्रारब्धकल्पना कुतः ?  
देहात्मना स्थितो प्रारब्धाद्यग-देहादात्मव्याघ्रासेन तदमं-प्रारब्धाध्यामोनि-  
स्यात् न ज्ञानिनि सा कथा ॥४६०॥

श्रीविवेकजूडामणि सव्याख्य

तत्स्पष्टयति । प्रारब्धमिति ।

प्रारब्ध सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थिति ।

देहात्मभावो नैवेष्ट प्रारब्ध त्यज्यतामत ।

शरीरस्यापि प्रारब्ध-कल्पना भ्रान्तिरेव हि ॥४६१॥

यदा देहात्मना स्थिति तदा देहधर्म-प्रारब्ध कल्पनया वा आत्मन सिध्यति । देहात्मभाव नैवेष्ट अभ्यासमूलाज्ञानस्य नष्टत्वात् । अतः प्रारब्ध त्यज्यता आत्मनि प्रारब्धप्रसंग न कार्य इतिभाव । विचार्यमाणे शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि निश्चय ॥४६१॥

तदुपपादयति । अध्यस्तस्येति ।

अध्यस्तस्य कुतस्त्व असत्त्वस्य कुतो जनि ।

अज्ञातस्य कुतो नाश प्रारब्धमसत् कुत ॥४६२॥

असत्त्वस्य न विद्यते सत्त्व यस्य तत् असत्त्व तस्य असत् इत्यर्थ । जनि उत्पत्ति कुत ? नास्तीत्यर्थ । अज्ञातस्य नाश कुत ? सोपि न । उत्पत्त्यर्थं प्रारब्धस्वीकार, नो चेत् लोकसिद्ध देवतियंश्चमनुष्यादिवैषम्य दुष्पपादमिति, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यमिध्यात्व यदा अवसित तदा श्रुतिरजतादिवत् केवलाज्ञानतः प्रतिभासमानस्य न वर्मेनिमित्तत्व । “स्यानुमन्येनु-सयन्ति यथावमं यथाभुत” इत्यादियुतिरपि व्यवहार-दृष्ट्या वदतीति भाव ॥४६२॥

इदानीं “तस्य तावदेव चिरयावन्नविमोक्षे अथ सप्तस्ये” इति श्रुतितात्पर्यमाह । ज्ञानेति ।

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।

तिष्ठत्यय नथ देह इतिप्रकावतो जडान् ।

समाधातुं ग्राह्य-दृष्ट्या प्रारब्ध वदति श्रुति ॥४६३॥

अज्ञानकार्यस्य विषयादिप्रपञ्चस्य अहंकारादिदेहान्तस्य च मात्स्यात्मिकस्य समूलस्य मूलमज्ञान तेन सहितस्य, ज्ञानेन ब्रह्मासात्तात्वेन यदि लयं बाध, अथ दोषानभौतिक नथ तिष्ठति इतिप्रकावतो लयामन्तीति

शकावत तान् जकावत जडान् प्राकृतान् मन्दान् समाधातु बाह्यदृष्ट्या  
व्यवहाररीत्या प्रारब्ध श्रुतिर्वदति "यावन्नविमोक्षये" इत्यादिना ॥४६२॥

धर्मजन्य क्षरीरादि न श्रुतिरजतादिवत् प्रातीतिक वितु सत्यमिति  
वक्तुमिति कदापि न भ्रमितव्यमित्याह । नत्विति ।

नतु देहादिसत्यत्व-बोधनाय विपश्चिताम् ।  
यत श्रुतेरभिप्राय परमार्थैकगोचर ॥४६४॥

विपश्चिता ज्ञानिनो यद्देहादि तस्य सत्यत्वबोधनाय प्रारब्ध नतु  
वक्ति । विपश्चितामित्यस्य बोधनायेत्यनेन वा सवन्ध । ज्ञानेन तेजसा  
तिमिरस्येव जगदुपादानमज्ञानस्य नाशेपि देह प्रारब्धनाशे नश्यति  
सावान्विलब्ध इत्युक्त्या तस्य आज्ञानिकत्व नास्ति किंतु कर्मजन्यतया  
सत्यत्वमिति प्रतीयेत, नत्वेव, ताकिवादिमते तन्तूपादानवस्य पटस्य  
तन्तुनाशक्षणे निग्न्यादानकतया स्थितिवन् "उपादाने विनष्टेपि क्षण  
कार्यं प्रतीयते । इत्याहुस्ताकिंकास्तद्वदस्माकं किं न सभवेत् । ततूना  
दिनसख्याना तैस्तादृक् क्षण ईरित । भ्रमस्या-सरयकल्पस्य योग्य क्षण  
इहेष्यताम्" । इति चित्रदीपोवतरीत्या अनादिकालप्रवृत्ताज्ञानोपादान-  
कस्यापि देहादे अज्ञाननाशानन्तर कनित्काल स्थितेर्वक्तु शक्यत्वात् ।  
विजिगीषुष्यायामेतादृश-समाधान "न निरोधो नचोत्पत्ति न वद्धो  
न च साधक । न मुमुक्षुर्न ये मुक्त इत्येषा परमार्थता" इति श्रुत्यनुसारेण  
ब्रह्ममात्रस्य परमार्थत्वात् । "ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।  
तिष्ठत्यय कथं देह" इति जडानां शवासमाधानार्थं श्रुति प्रारब्ध वक्तीति  
वस्तुस्थिति । यत श्रुतेरभिप्राय परमार्थैक-गोचर प्रमाणान्तरालधिगत-  
प्रयोजनवदवाधितार्थ-विषयक इत्यर्थः । नहि ज्ञानिना अज्ञाननाशानन्तर-  
मपि धर्मसमाप्तिपर्यन्त क्षरीर तिष्ठतीति प्रतिपादनेन किञ्चित्सलमस्तीति  
तस्य तावदेवेति श्रुति मन्दसवासमाधानार्थमेवेति भावः ॥४६४॥

इदानीं श्रुतितात्पर्यविषय परमार्थ सप्तभि इत्येकं संगृह्णाति ।  
परिपूर्णमित्यादिभि ।

परिपूर्णमनाद्यन्त अप्रमेय-मविनश्य ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६५॥

द्योविवेकचूडामणिः सव्याख्यः

परिपूर्णं देशपरिच्छेदशून्य अनाद्यन्त उत्पत्तिनाशविधुर, अप्रमेयं फलव्याप्तिशून्य अविश्रित्य अपरिणामि एक स्वगतभेदरहित, एव सजातीय-भेदरहित अद्वयं विजातीयभेदरहित, इह ब्रह्मणि, किञ्चन किञ्चिदपि, नाना नानात्व भेद इत्यर्थं नास्तीति श्रुति सकलविषयभेदशून्य ब्रह्म श्रुते । “मन-संवानुद्वष्टव्य नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” इति बृहदारण्यकश्रुति । एकमेवाद्वितीयमिति छान्दोग्यश्रुति, अर्थत उक्ता एकमेवाद्वयमिति ॥४६५॥

श्रीतशब्दे श्रुत्यर्थानुसारि-स्वशब्दैश्च परमायततत्त्व श्रुते

सद्वन चिद्वन नित्यमानन्दघन-मक्रियम् ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६६॥

घन मूर्ति, सच्छरीर, चिच्छरीर, नित्य आनन्दशरीर, सच्चि-दानन्दस्वरूपमित्यर्थः । अक्रिय सृष्ट्यादिक्रियाशून्यम् ॥४६६॥

प्रत्यगेकरस पूर्ण अनन्त सर्वतोमुखम् ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६७॥

सर्वात्मभूत व्यापि, नास्तरहित, सर्वात्मभूतत्वादेव सर्वतोमुख “त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख” इति श्रुते ॥४६७॥

अहेतुमनुपादेय अनाधेयमनाश्रयम् ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६८॥

स्वात्मत्वादहेय अनुपादेय च, निष्प्रपञ्चत्वादन्याये न विद्यते मायेय मत्स्य । अनाश्रय न आश्रयो यस्य निराधार, अहेय निर्दोष अनुपादेय निर्गुणमिति वा अर्थः ॥४६८॥

निर्गुण निष्कल मूढम निर्विघ्नस्य निरञ्जनम् ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६९॥

अनिष्प्रपञ्चमप्यन्मतोपायमयोग्यम् ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७०॥

यत् मनोवाचा अगोचर, तत् तस्मात् अनिरूप्यस्वरूप वेवलानुभवेक-  
वेद्यमित्यर्थः । 'वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तु' मिति वक्ष्यते  
शिष्योक्तिमुखेन ॥४७०॥

सत् समृद्ध स्वतस्सिद्ध शुद्ध बुद्धमनीदृग्भम् ।  
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७१॥

सत् अवाध्य समृद्ध अखण्डानन्दरूप, स्वतस्सिद्ध सर्वप्रमाणप्रवृत्ति-  
हेतुत्वात् । शुद्ध बोधास्पष्ट बुद्ध ज्ञानरूप अनीदृग् इदमिव दृश्यत इति  
इदं न इदं निरपम बुद्धो धारया मूर्ध्मतमार्यं ग्राहयित एव श्रोतार्यस्य  
कथनीयत्वात् इदं स्थलम् पौनरक्त्याशका नैव कार्याः ॥४७१॥

निरस्तरागा निरपास्तभोगा  
शान्तास्मुदान्ता यतयो महान्तः ।  
विज्ञाय तत्त्व परमेतदन्ते  
प्राप्ता परा निर्वृतिमात्मयोगात् ॥४७२॥

निरस्त राग यस्तं निरस्तरागा दूरीकृतविषयेच्छा निरपास्त-  
भोगा अत एव निरपास्त भोगं यैस्ते नितरा त्यक्तभोगा । यद्दृच्छा-  
लाभस्तुष्टा रागसत्त्वे हि भोग उक्त हि पूर्वं 'अन्यावेदितभोग्यभोग-  
कलनो निद्रालुवद् बालवत्' इति । यद्वा श्रोतोऽप्यादिद्वन्द्व-सहिष्णव इति  
तत्पदस्यार्थः । शान्ता ब्रह्मणि स्थापितमनसः, मुदान्ता निगूहीत-  
बहिरिन्द्रिया, यतय प्रयत्नशोला । महान्त बहिरिन्द्रियद्वारा निर्गतस्य  
मनस परिच्छिन्नविषयाकारेण परिणामे तदुपहित जीबोप्यल्पो भवति  
न शान्ताना दान्ताना च तथात्वमिति । निरन्तरमन्तमूलमनसा महत्त्वं  
सहजमेव । तादृशा पुरषोरेया एतत् 'परिपूर्णमनाद्यन्त' इत्यादिना  
सन्तीति पर तत्त्व सर्वोत्कृष्टं ब्रह्म विज्ञाय, आत्मनि योग आत्मयोग  
निर्विकल्पकसमाधि तस्माद्धेतो परा निर्वृति नित्यनिरतिशयानन्दरूपा  
मुक्ति अन्ते ज्ञानप्राप्त्यनन्तर, प्राप्ता अवापुः । अन्ते प्रारब्धकर्मणो वा  
अन्ते देहपात इति यावत् परा निर्वृति विदेहवैकल्य प्राप्ता, तदा आत्म-  
योगाद्विज्ञाय इति सवन्ध ॥४७२॥

धीविवेकपूडामणि सव्याख्या

“माभैष्ट विद्वस्तव तास्त्यपाय ससार्तसधोस्तरणेस्त्युपाय ।  
येनैव याता यतयोस्त्य पार तमेव मायं तव निर्दिशामि” इति यदुक्त  
तत्समापद्यति । भवानपीत्यादिना ।

भवानपीद परतत्त्वमात्मन  
स्वरूपमानन्दघन निचाद्य ।

विधूय मोह स्वप्न प्रकल्पित  
मुक्ता कृतार्थो भवतु प्रबुद्ध ॥४७३॥

भवानपि आत्मन भवत स्वरूप आनन्दघन इद परतत्त्व यद्वा  
निचाद्य साक्षात्कृत्य स्वप्न प्रकल्पित मोह अनात्मत्वात्मभ्रम विधूय  
समूल विनाश्य प्रबुद्ध अविद्यानिद्रारहित मुक्त अध्यासरूप-वत्वात्मुक्त  
कृतार्थो भवतु इत्याशीरूपोपदेश ॥४७३॥

समाधिना साधु सुनिश्चलात्मना  
पश्यात्मतत्त्व स्फुटबोधचक्षुषा ।

निस्सशय सम्यगवेक्षितश्चेत्  
श्रुत पदार्थो न पुनर्विकल्पते ॥४७४॥

स्फुट निश्चल आत्मा अन्त वरणयस्मिन्तेन समाधिना निर्विकल्पयेन  
स्फुट पद बोधरूप चक्षु “निर्विकल्पक-समाधिना स्फुट ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते  
ध्रुवम् । नान्यथा चलतया मनोमेते प्रत्ययान्तरविमिश्रित भवेत्”  
इत्युक्त । तेन बोधचक्षुषा रूप यथा बाह्यचक्षुषा तथा साधु असादिभ्या-  
विपर्यसि, आत्मतत्त्व पश्य साक्षात्तुम् । श्रुत आप्तमुनेन श्रुत पदार्थ  
निस्सशय त्रिषाविधोपेण सनायाविषय तन् सम्यगविपर्यस्त अवेक्षितश्चेत्  
अनुभव-गोचरतामापादितश्चेत् पुनर्न विवक्ष्यते नान्यथा भातीत्यर्थे  
॥४७४॥

स्वस्याविद्या-बन्ध-मबन्धमोक्षात्  
सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलभ्यो ।

शास्त्र युक्तिर्द्विगोचरित प्रमाण  
चान्त मित्रा स्यानुभूति प्रमाणम् ॥४७५॥

स्वस्य आत्मन अविवेक-वन्ध-सवन्ध-मोक्षात् अविवेका ये वन्धा  
अहंकारादिवेदान्ता तै य सवन्ध आध्यासिक-तादात्म्य तस्मान्मोक्ष-  
स्वस्वरूपावबोधेन वियोग, तस्मात् सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ सत्य-  
ज्ञानानन्दरूप य आत्मा स्वस्वरूप तस्य लब्धौ प्राप्तौ विषये भास्य  
“अस्य महिमानमिति वीतशोक” “ब्रह्मविदाप्नोति परं” इत्यादि युक्ति  
कण्ठधानीकरस्याय, देशिकोक्ति “तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ-ब्रह्मात्मैकत्व-  
बोधत । ब्रह्माण्डात्मत्व-दाड्याय स्वाध्यासापनय कुरु” इत्यादि प्रमाण  
अन्त सिद्धा शास्त्र-युक्ति-गुरु-स्त्यनुरूपा स्वानुभूतिश्च प्रमाणम् ॥४७५॥

उक्तार्थे दृष्टान्तार्थ अनुभवप्रमाणकानन्यानप्याह । वन्ध इति ।

वन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्तारोग्य-क्षुधादय ।  
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञान परेपामानुमानिकम् ॥४७६॥

अविद्या तदन्तमय अलवृद्धि चिन्ता आरोग्य श्रुत् पिपासा, रोग  
कुक्षिगूलादि आदिपदार्थ । स्वेनैव वेद्या साक्षादनुभवगम्या यत् यस्मात्  
परेपा ज्ञान आनुमानिक परोक्ष हेतोर्दृष्टत्वे भ्रमात्मक च स्यादिति  
भाव ॥४७६॥

तटस्थिता बोधयन्ति गुरुवश्श्रुतयो यथा ।  
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीद्वरानुगृहीतया ॥४७७॥

यथा नद्या नावि गच्छन्त एवमेव क्षेपणी क्षिपेति तटस्थिता बोधयति  
स्वय क्षेपणाकुशल तथा गुरुवोपि तथा श्रुतय उपनिषद तटस्थिता,  
परोक्षज्ञानजनका तथा मार्ग दर्शयन्ति । विद्वान् ईश्वरानुगृहीतया प्रज्ञयैव  
“ब्रह्मात्मनोऽस्तोषितयो” रिति लक्षितया चिन्मात्रवृत्त्येव तरेत् सत्तार-  
वारिषमिति क्षेप ॥४७७॥

स्वानुभूत्या स्वय ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।  
ससिद्ध मुमुक्षु तिष्ठेन्नविकल्पात्मनात्मनि ॥४७८॥

स्वमात्मान अखण्डित स्वय स्वानुभूत्या ज्ञात्वा, ससिद्ध आत्मनि  
निर्विकल्पात्मना मुमुक्षु तिष्ठेत् इत्यन्वय । स्पष्टोर्थ ॥४७८॥



श्रीविवेकचूडामणि तव्याख्य.

वेदान्तसिद्धान्त-निवृत्तिरेषा ब्रह्मैव जीव सकल जगच्च ।  
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्ष ब्रह्माद्वितीय श्रुतय प्रमाणम् ॥४७९॥

वेदान्ते सिद्धं य अन्त निर्णय तस्य निवृत्ति तज्जनक-सकुचित-  
शब्द, एषा, जीव ब्रह्मैव सकल जगच्च ब्रह्मैव, मोक्ष अखण्डरूपस्थितिरेव  
ब्रह्मस्वरूपेणावस्थान इत्यर्थ । ब्रह्माद्वितीय, तत्र प्रमाण श्रुतय । श्रुतीना  
बहुत्वेऽपि सर्वाभिरपि जनिष्यमाणप्रमाया एकत्वात् प्रमाणमित्येकवचन ।  
वेदान्तानां य सिद्धान्त निर्णीतार्थ, सिद्धान्तशब्दस्य तत्तच्छब्द-सिद्धार्थ-  
रूपतया परंब्याकृतत्वात् तस्य निवृत्ति निर्णयजनकसकुचितशब्द  
निर्वचनमिति वार्य । तत्त्वमसि, सर्वं तत्त्वमेव ब्रह्म, ब्रह्मैवेद विद्व,  
एकमेवाद्वितीय, इत्यादिश्रुतय ॥४७९॥

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्  
परमवगम्य सत्त्व-मात्मयुक्त्या ।

प्रशमितकरण समाहितात्मा  
यवचिदचलाकृति-रात्मनिष्ठितोभूत् ॥४८०॥

इति पूर्वं विस्तर-संग्रह्येण कथितात् गुरुवचनात् श्रुतिप्रमाणात्  
श्रुतय प्रमाणानि यस्य गुरुवचनस्य तत् श्रुतिप्रमाण तस्मात् । "शास्त्र  
मुक्तिं देशिचोक्तिं प्रमाणं चान्तं सिद्धां स्वानुभूतिं प्रमाणं" इत्यत्र  
शास्त्रस्य पुण्यकीर्तनात् श्रुतिरूपप्रमाणादिति वा अर्थ । आत्मयुक्त्या श्रुत्या-  
भावोपदिष्टार्थ-मननेत्यर्थ । परं तत्तत्त्वं परं ब्रह्म परमार्थतत्त्वं अयमस्य  
प्रशमितकरण प्रवर्णेण शमितानि करणानि यदुरादीनि बाह्यानि येन ।  
यद्वा आत्मयुक्त्या, मुक्तिं योमं मुक्तिनिरोध आत्मन मनस्य मुक्ति-  
निरोधेन करणानि बाह्यानि प्रवर्णेण शमितानि इति गुणम् । नम्यगाहि  
यदुराद्युपनमेऽपि नात्मनिष्ठं अत्र उक्तं गमात्त्वित्येन । यदपिदेवान्-  
प्रदेने अचलाकृति परंतपदप्रसव्य, आत्मनिष्ठं इति वा ॥४८०॥  
आत्मनि स्थित आत्मनिष्ठः, जगतात्मनिष्ठ इति वा ॥४८०॥

यच्चिन्नाल ममापाय पने यत्तानि मानमम् ।  
व्युत्पाय परमानन्दादिरं यन्ननम्रयो ॥४८१॥

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति

ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।

इदं न जानेप्यनिदं न जाने

किं वा कियद्वा सुखमस्य पारम् ॥४८२॥

ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या साक्षात्कारेण बुद्धिर्विनष्टा, प्रवृत्ति-  
गलिता, इदं प्रत्यक्षगतं न जाने अनिदमपि परोक्षमपि न जाने । पूर्वं  
तथा विभाग आसीत् पुरोवर्ति प्रत्यक्ष अपर परोक्षमिति, इदानीं तथा  
नास्तीति कथन । किं वा कियद्वा सुख, अस्य पार किं कियद्वा सुख ।  
एतावन्तं कालं अनुभूतं अखण्डं सुखं इति तत्र कालतः देशतः  
वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नस्य कथयति । इदं न जानेप्यनिदं न जाने इत्यनेन  
वस्तुतः परिच्छेदो नास्तीत्युक्तः । किं वा कियद्वा सुखमस्य पारमिति कालतो  
देशतश्च स नास्तीत्युक्तम् ॥४८२॥

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते

स्वानन्दामृत-पूरपूरितपर-ब्रह्माबुधे-र्वैभवम् ।

अम्भोराशिविशीर्ण-वार्पिक-शिलाभाव भजन्मे मनः

यस्याशायालवे विलीनमधुनाऽऽनन्दात्मना निर्वृतम् ॥४८३॥

वार्पिकशिला वर्षोपलस्तु करक इत्यमरः ।

क्वगतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।

अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महद्दभुतम् ॥४८४॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत् किं विलक्षणम् ।

अखण्डानन्दपीयूष-पूर्णो ब्रह्ममहार्णवे ॥४८५॥

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहं ।

स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षण ॥४८६॥

पञ्च-कोशविलक्षण इत्यर्थः ॥४८६॥

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

प्लुष्टाज्ञान कृतकृत्य गुरु प्रणमति । नम इति । “भावाद्वैत  
सदा कार्य क्रियाद्वैत न कुत्रचित् । अद्वैत त्रिषु लोकेषु नाद्वैत गुरुणा सह”  
इत्यनुशासनम् ।

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने विमुक्त-सगाय सदुत्तमाय ।  
नित्याद्वयानन्द-रसस्वरूपिणे भूम्ने सदापार-दयाम्बुधाम्ने ॥४८७॥

सदुत्तमाय ब्रह्मविद्वरिष्ठाय भूम्ने ब्रह्मव्यतिरिक्तविषयक-दर्शन-  
श्रवण विज्ञानशून्याय सदा अपारा च सा दया च संशाम्बु तस्य धाम्ने  
निक्षेपस्थानाय करुणाजलनिधय ॥४८७॥

यत्कटाक्ष-शशि-सान्द्रचन्द्रिका-पातधूत-भवतापज-श्रम ।  
प्राप्तवानह-मखण्डवैभवानन्द-मात्मपद-मक्षयम् क्षणात् ॥४८८॥

निष्कल-निष्प्रिय शान्त निरवद्य निरजन परब्रह्म-निर्मग्न-मनस्स-  
वलिततया शिशिर-शिशिरा जगदाह्लादका ये कटाक्षा अमृतस्रग्भगा  
अपागा त एव शशी तदीया सान्द्रचन्द्रिका । यद्वा त एव शशि-सान्द्र-  
चन्द्रिका तस्या पातेन निर्मल प्रसरणेन धूत तिरस्कृत ससारतापजश्रम  
मस्य मम स अह अखण्डवैभवानन्द निरतिशय-स्वप्रकाशमुख अस्य  
शाश्वत आत्मपद विष्णुपरमपद क्षणात् प्राप्तवान तस्मै गुरवे महात्मने  
नम इति पूर्वोक्तान्वय ॥४८८॥

गुरुप्रसादलब्ध स्वानुभवमाविष्करोति ।

धन्योह कृतकृत्योह विमुक्तोह भवग्रहात् ।  
नित्यानन्दस्वरूपोह पूर्णोह त्वदनुग्रहात् ॥४८९॥

असगोह-मनगोह-मर्लिगोह-मभगुर ।  
प्रशान्तोह-मनन्तोह-मतान्तोह चिरतन ॥४९०॥

अतान्त अध्यान इत्यर्थ ॥४९०॥

अवर्ताह-मभोस्ताह-मविनारोह-मन्त्रिय ।  
गुदबोध-स्वरूपोह वेयलोह सदागिव ॥४९१॥

धीविवेकबूढामणि सव्याख्य

मय्यखण्ड-सुखाम्भोघौ बहुधा विश्ववीचय ।

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुत-विभ्रमात् ॥४९७॥

स्वात्मनिरूपण "मयि सुखवोचपयोषी महति ब्रह्माण्ड-बुदबुद-  
सहस्र । मायामयेन मरुता भूत्वा भूत्वा मुहुस्तिरोघते इति स्पष्टम्  
॥४९७॥

स्थूलादिभावा मयि कल्पिता

भ्रमादा-रोपितानुस्फुरणेन लोकै ।

काले यथा कल्पक-यत्सरायन-

त्वादयो निष्कल निर्विकल्पे ॥४९८॥

'अष्टादशनिमेषास्तु बाष्ठा त्रिंशत् ता कला इत्यादिना आयुः  
एककाल निष्कले निरवयवे निर्विकल्प कलाबाष्ठादिपरिणाम रहिते यथा  
लोकै क्षणादिन मासवर्षयन-सर्वस्वर-कल्पादिभेदा वरिपता तथा  
आरोपितानुस्फुरणन कल्पितस्फूर्तिमात्रेण स्थूलादिभावा स्थ-सूक्ष्म-  
कारण-शरीर रूपपदार्था भ्रमात् मयि कल्पिता लोकै इत्यन्यथ ।  
नहि नादाद्यिदु-बलातीत बाल वा तद्भूदान वा पश्यति तद्वत् दशमायामनु-  
परिच्छेदशून्य भूमान पश्यतो मम समूहबाध-वर्षिताज्ञानस्य आरोपितानु-  
स्फुरण भ्रान्त्यभावादिति भाव ॥४९८॥

आरोपित नाश्रयद्रूपम् भवेत् कदापि मूर्धमंतिदापदूषितं ।

नाद्रीकरोत्यूपर-भूमिभाग मरीचिका-शारिमहाप्रवाह ॥४९९॥

मतिदोषदूषितं मूर्धरारोपित आश्रयद्रूपव निरपिच्छाभ्रमाबोगल  
आश्रयस्य स्वापिच्छानस्य दोषाबह्व कदापि न भवेत् । उक्त हि अप्रमाण-  
भाष्य "तत्रैवसति यत्र यदध्यासः तद्वत्तेन गुणेन दोषेण वा अनुमात्रेणपि  
स न गम्यध्याते इति । तद् दृष्टान्तोऽस्फुटयति नति । मरीचिकाशारि-  
महाप्रवाह ऊपरभूमिभाग नाद्रीकरोतीति । ऊपरभूमिभाग मरीचिका-  
शारिमहाप्रवाह-वत्प्रमाणाय ॥४९९॥

आवागवत् तत्पवित्रगोह

आदित्यवद्भास्य-चित्राणाहम् ।

अहार्यवन्नित्य-विनिश्चलोह  
अम्भोधिबत् पारविर्वाजितोहम् ॥५००॥

‘आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य ” इत्यादियुतेरर्थं अनुभूत इति अनुभवप्रकाशनमिदं । कल्पविदूरग नालापरिच्छिन्न । “स्वयज्योति ” श्रुत्यर्थमाह आदित्यवत् भाम्य-विलक्षणोह अहार्यवत् पर्वतवत् नित्याविनिश्च-  
लोहम् । अम्भोधिबत् पारविर्वाजितोहम् ॥५००॥

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायस ।  
अत कुतो मे तद्वर्मा जाग्रत्स्वप्न-मुपुप्तय ॥५०१॥

विहायस आकाशस्य मेघेन यथा सम्बन्धो नास्ति, ‘धूमज्योति-  
स्सलिलमरता सन्निपात मव मेघ इतिकालिदासोक्ते पृथ्वी जलतेजो  
वायुसघातरूपेण मेघेन यथावाश न ससृज्यते नवा नीरवर्षणेन आद्रीन्प्रियते  
निलिप्तस्वभावत्वात् अमर्तत्वात् एव मे मम आत्मन पाचभौतिकेनापि  
वेहेन सम्बन्ध नास्ति उक्तहृत्तरेष । अत धमिसम्बन्धाभावात् तद्वर्मा  
जाग्रत्स्वप्न-मुपुप्तय मे पुत इत्यन्वय ॥५०१॥

उपाधिरायाति स एव गच्छति  
स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते ।  
स एव जीवन् म्रियते सदाह  
कुलाद्रिवन्निश्चल एव सस्थित ॥५०२॥

न मे प्रवृत्ति-नञ्च मे निवृत्ति  
सदैकरूपस्य निरकुञ्जस्य ।  
एकात्मको यो निबिडो निरन्तरो  
व्योमेव पूर्णं स कथं नु वेष्टते ॥५०३॥

“उत्त्रान्ति गत्यागतीना ” “तद्गुणसारत्वात्त-द्व्यपदेश प्राप्तयत् ”  
“कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् ” “यथा च तस्योभयथा ” “चराचरव्यपाश्रयरतु  
स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावमावित्वात् ” इति त्रमेण तत्र तत्र सूत्राणि ।  
सदाह कुलाद्रिवन्निश्चल एव सस्थित प्रवृत्तिनिवृत्यो योगपद्ये वा क्रमिकत्वे

श्रीविवेकचूडामणिः सत्याख्या

वा एकरूपत्व न सम्भवति, निरञ्जकस्य निरवयवस्य विप्रियासम्भवश्च ।  
तदुपपादयति एकात्मको यो निबिडः सान्द्रः, निरन्तरः निरवकाशः  
व्योमेव गगनमिव पूर्णं स कथं नु चेष्टते ॥५०३॥

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य  
निश्चेतसो निर्विकृते-निराकृते ।  
कुतो ममाखण्ड-सुखानुभूते ब्रूते  
हानन्वागतमित्यपि श्रुति ॥५०४॥

विहितकर्म-जन्य पुण्य, निषिद्धकर्म-जन्य पाप, कर्म च विप्रियं  
शरीर मानस वाचिक चेति, उक्तं च गीतासु 'शरीरवाङ्मनोभि-यंतु  
कर्मं प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा' इति । महामन्त्रजप-भगवन्नाम-  
देवब्राह्मण-श्रद्धादिनादीनि शारीराणि पुण्यानि, ईश्वरध्यानस्वपरहित-  
सकीर्तन-तद्गुणकथनादीनि वाचिकानि पुण्यानि, ईश्वरध्यानमन-पर्यन्त्या-मृतवदन-  
चित्तनादीनि मानसानि पुण्यानि । अगम्यागमन-पर्यन्त्या-मृतवदन-  
निषिद्धध्यानादीनि प्रमेण शरीर-वाङ्मनोजन्यानि पापानि । उक्तं हि  
"शरीरजे कर्मदोषैर्व्यति स्थावरता नरः । वाचिर्बन्धं पक्षिमूढता मानस-  
रत्न्यजातिता" इति । वाक्पद चक्षुस्स्रोत्राद्युपलक्षणं चक्षुरादीन्द्रियाणि  
कर्मसाधनानीन्द्रियाणि, मनः पदेन ज्ञानसाधनानि तत्तत्पुण्यपापानि । एतत्कर्मा-  
गृह्यन्ते । सदसत्स्वरूप-दर्शन-श्रवणादीनि तत्तत्पुण्यपापानि । निरिन्द्रियस्य  
इन्द्रियाणां चेतसो वा साधारण्यं शरीरस्य वा स्थूलस्य । निरिन्द्रियस्य  
"न तस्य वायं वरणं च विद्यते" इति श्रुते । 'गन्धधुग्चक्षुर्विव गवर्णोऽर्ण-  
इय गमना जमना द्वय गग्राणोभ्राण इवेति च । वस्तुन अन्धधुर्गपि परदृष्ट्या  
संचक्षुर्विव जीवन्मुक्त आध्यात्मिक-गन्धधुर्गपि वस्तुन अभिमान-  
तयाच सेन्द्रियत्व समनस्य शरीरस्य च मिथ्याज्ञाननिवन्धन आभिमान-  
साधारण्य-सकल-तत्तद्विनिष्टत्वमेव । यत्तत्साधारण्य-वस्तु-ज्ञानस्य  
कुत अभिमान कुतश्च साधारण्यं साधारण्य-गुण्यपाप-मापनगति-  
निराकृते इति पदव्येण वाङ्मनस्य पुण्य पाप च वदन्ति । निर्विकृतोऽपि  
विकृत-निरिन्द्रिय-मर्त्यव्यो विनाशाय विनाशाय निरिन्द्रिय-  
पर्यायव्यो अनित्यग्रहणान् विहिनन्त्या आत्मा उक्ता । उक्ता हि

श्रुतिसारसमुद्धरणे तोटकाचार्यै "न हि नित्यमनित्यगुणेन गुणि" इति ।  
 विषयधिकरणभाष्ये च अनित्यशब्दाश्रयत्वेन गगनस्यानित्यत्वमिति ।  
 तथाच स्वतो निर्विकारतया मूलाज्ञाननागेन शरीरेन्द्रिय-चेतोः स्वीपाधि-  
 सवन्धाभावाच्च अखण्ड-सुखानुभूते अनावृतापरिच्छिन्न-स्वयंप्रकाश-  
 नन्दस्वरूपस्य मम वृत्त पुण्यानि पुतस्तथा पापानि । तत्र श्रुति प्रमाणयति  
 "श्रुते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुति" इति । "अनन्वागत पुण्येन अनन्वागत  
 पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति" इति मुपुष्टिकाले  
 मूलाज्ञानसत्त्वेपि तत्कार्याध्यासाभावात् पुण्यपापास्पृष्टत्व हृदयगत-सकल-  
 शोकास्पृष्टत्व च बोधित । तथा सर्वैरनुभूयते च । सप्रति वारणाज्ञानस्यापि  
 नागात् पुण्यपापदुःख-सवन्ध सुतरा नास्तीति को मोह क शोक इति-  
 श्रुताविद वृत्तशब्देन तेषा अभाव आक्षेपेण बोधित । यदि पुण्यपाप-  
 दुःखाना आत्मघर्मत्वं मुपुष्ट्यावपि तदन्वय स्यात् । तदा स्वरूपमुखानुभव,  
 ननु पुण्यफल परिच्छिन्न सुखमनुभूयते । तस्य सुखस्य विषयसदन्धा-  
 जगितत्वात् । तदा दुःख तु नैवास्ति "एषोऽस्य परम आनन्द" इति श्रुते  
 अनुभवाच्च । तत पापानन्वय । हृदयस्य शोकान् इत्यनेन शोकशब्दित-  
 दुःखस्य आत्मघर्मत्वं नास्तीति वक्षित भवति । जाग्रत्स्वप्नयोरध्यासात्  
 ते फलप्यन्ते स्म, इदानी तदभावात् वरपना नास्तीति श्रुत्यर्थं ॥५०४॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन विवक्षयति द्वाभ्यां,

छायाया स्पृष्टमुष्ण वा शीत वा मुष्टु दुष्टु वा ।  
 न स्पृशत्येव यत्किञ्चित् पुरप तद्विलक्षणम् ॥५०५॥

स्वशरीरच्छायाया. जलाग्न्यादिसवन्धे सदसद्रस्तु-सवन्धे वा  
 शरीरस्य यथा शीतोष्णादिसवन्धो नास्ति एव बुद्धो प्रतिफलत जीवस्य  
 उपाधेः प्रतिविम्ब-पक्षपातित्वात् तद्वर्ग-मुष्णसुखादिसवन्धेपि अज्ञान-  
 नाशेन जीवत्वविगमानन्तर तद्विलक्षण विवभूत पूर्णत्वात् पुरप यत्किञ्चिदपि  
 न स्पृशति । छायापयधि पुरुषगण्डेन शरीर ग्राह्यम् । तद्विलक्षण छाया-  
 विलक्षण । न साक्षिण साक्ष्यधर्मा सस्पृशन्ति नदाचन ॥५०५॥

अविकारमुदासीन गृहधर्मा प्रदीपवत् ।

देहेन्द्रिय-मनोधर्माः नैवात्मान स्पृशन्त्यहो ॥५०६॥

## श्रीविवेकचूडामणि सभाष्य

गृहधर्मा गृहप्रकाशक प्रदीप यथा न सस्पृशन्ति, एवं साक्ष्यधर्मा  
दृश्यवृद्धोन्द्रिय-शरीरधर्मा विलक्षण कदाचन दृश्य स्वयंप्रकाश  
अविकार उदासीन साक्षिण न सस्पृशन्ति। देहेन्द्रिय-मनोधर्मा नैवात्मान  
अविकारमुदासीन स्पृशन्तीति प्रदीपदृष्टान्तेन पुण्यानि पापानीत्यादि-  
श्लोकार्थो विवृत ॥५०६॥

त्रिभिः दृष्टान्तैः आत्मनोऽसंगता प्रतिपादयति। रवेरिति।  
रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो बह्वेय्यथा वाऽयसि दाहकत्वम्।  
रज्जोर्यथाऽऽरोपितवस्तु-संग तथैव कूटस्थ-चिदात्मनो मे ॥५०७॥  
कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरिति प्रसिध्या सकलप्राणिकर्मसाक्षित्वं तावदा-  
कर्मसिग्नौ रवेर्यथा तथा कूटस्थ चिदात्मनो मे निर्विकारचिद्रूपस्य मम  
सकल-कर्मसिग्नं साक्षित्वं। एव वत्तर्दाहकत्वं अपोदहतीति यथा  
अयसि कल्पित एव बुध्यादिगतं वर्तुलं मयि। एव रज्जो कल्पितसर्प-  
दण्डोदयारादि-वस्तुसंग तादात्म्यरूपं यथा कल्पितं तथा निर्विकार-  
चिद्रूपस्य मम कल्पितदेहादि-सबन्धः। वस्तुतः असंगत्वं दृष्टान्तादपेक्षि  
॥५०७॥

स्वत्वानुभवाभिधर्मवत्त्वमाह। कर्तॄति।

कर्तापि वा वारयितापि नाह

भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम्।

द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाह

सोह स्वयं-ज्योतिरनीदृगात्मा ॥५०८॥

"विज्ञानं यन्न सन्तुते, एष खेयसाधु धर्मं वारयति" इति श्रुत्या  
मुच्यते। हितस्य मायोपहितस्य च त्रयेण वर्तुलं वारयितुं एव मोक्षाय  
भोजयितुं च। द्रष्टृत्वस्यापि दृश्यमापेक्षत्वात् अङ्गीकर्तुं तदपि कल्पितमेव  
वस्तुतो नास्ति। वस्तुतः अपेक्षितत्वमपि व्यवहारव्यापारमेव न यस्तु।  
अतः दर्शयितापि नाह मोक्षो अनीदृग् सन् धर्मवर्जितः "मासी वेता  
बेचदो निर्गुणता" इति श्रुतिः। स्वयं-ज्योतिः अनायापीनापरता आत्मा  
॥५०८॥



चलत्युपाधौ प्रतिविवलौल्य—

सौपाधिक मूढधियो नयन्ति ।

स्वविवभूत रविवद्विनिष्क्रिय

कतास्मि भोक्तास्मि हतोस्मि हति ॥५०९॥

ध्यायतीव ललायतीव इति श्रुति । बुद्धिद्वारोपाधौ धर्मान्  
भ्रात्या मूढधिय विनिष्क्रिय रवौ विवभूते यथा चलति जलं तत्र उपाधौ  
तथा उपाधौ बुद्ध्यादौ चलति औपाधिकं तन्निमित्तं तत्र प्रतिविद्यभूतं  
जीवलौल्यं विनिष्क्रियं स्वविवभूतं आत्मनः कर्तास्मि भोक्तास्मीति बुद्धि  
तादात्म्याध्यासात् हतोस्मीति स्पृष्टदहतादात्म्याध्यासात् नयन्ति । प्रति  
विवपि उपाधिधर्मा भ्रान्तिमिद्धा विद्यं सुतरां न सन्ति । तथापि मूढधिय  
नयति । अतः श्रुत्या यस्या अनुभवेन च सिद्धनिर्गुणस्य न कोपि विरोध  
॥५०९॥

घटाकागदुष्टान्तेन स्थूलदहधर्मा नात्मन इयाह । जलं इति ।

जलं वापि स्थलं वापि लुठत्वेपि जडात्मकं ।

नाहं विलिप्य तद्धर्मे घटधर्मेऽंगभो यथा ॥५१०॥

जडात्मक एव दहं तत्र वापि स्थलं वापि लुठतु । नम आवाह  
यथा घटधर्मे अनियंवादिभिः पथु-बुध्नोदराद्याकारं नीलादिपदेष्व  
न लिप्यते तथा तद्धर्मे स्थूलदहधर्मे जलम्यालदि सत्त्वधः प्रयुक्तं । त्याभि  
घातादिभिः नाहं विलिप्य जराभरणदिभिश्च ॥५१०॥

वस्तुत्व भोक्तृत्व खलत्व

गन्तव्यता—जडत्व बद्धत्वविमुक्ततादयः ।

बुद्धविकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः

स्वस्मिन्परे ब्रह्मणि कवलज्जद्वय ॥५११॥

कवज्जद्वय परे ब्रह्मणि स्वस्मिन् वस्तुवादि विमुक्ततान्ता यच्चध्यास  
निवधना विविधकल्पना वस्तुतो न सन्ति ॥५११॥

श्रीविवेकचूडामणि सव्याख्य

सन्तु विकारा प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्रधा वापि ।  
तै कि मेऽसगचिते न ह्यबुद्धवरोऽम्बर स्पृशति ॥५१२॥

सर्वस्य प्रपञ्चस्य मूलप्रकृते सकाशात् साक्षात्परया जातत्वात्  
मूलप्रकृते मायाया विकारा दशधा शतधा सहस्रधा वापि सन्तु । असग-  
चिते मे तै विकारै कि स्यात् । तत्र दृष्टान्त अम्बुदङ्गमर मेघमज्जनादिव  
अम्बर गगन न हि स्पृशति । सदा निर्विकारे गगने मघोदय-मज्जन विनाश-  
विना न कोपि विनाश इति ॥५१२॥

श्रीगुरुपदशानुसारेण जात अद्वैतानुभव विगद्यति । अव्यक्ता-  
दीत्यादिना ।

अव्यक्तादि स्थूलपर्यन्तमेतद् विश्व यन्नामासमात्र प्रतीतम् ।  
व्योमप्रस्थ सूक्ष्ममाद्यन्तहीन ब्रह्माद्वैत यत्तदेवाहमस्मि ॥५१३॥

स्पष्टम् ॥

सर्वाधार सर्ववस्तुप्रवादा सर्वावार सर्वग सर्वशून्यम् ।  
नित्य शुद्ध निष्कल निर्विकल्प ब्रह्माद्वैत यत्तदेवाहमस्मि ॥५१४॥  
यत्प्रत्यस्ता (यस्मिन्प्रस्ता) शेषमाया विशेष  
प्रत्यग्रूप प्रत्ययागम्यमान ।

सत्यज्ञानानन्त-मानन्दरूप

ब्रह्माद्वैत यत्तदेवाहमस्मि ॥५१५॥

तस्य भामा सर्वमिद विभक्तीतिभूत सर्वेषा यन्तूना प्रवाता यन्मात्  
अपरिच्छिन्न गगनस्य स्वव्यतिगिगम्या भाता (यस्मिन्प्रति) अभेद  
सन्तमो) अगण्डारण-भूतीत्यु-सर्वेषा यन्तूना प्रवाता यन्मात्

निर्गम्योन्मरविरोम्भि निर्गम्योन्मि निर्गम्योन्मि निर्गम्योन्मि ।

मयांभाता सर्वोत्त गगतीतामद्वय ।

परागण्ड-योपो-मान-शो निर्गम्योन्मि ॥५१६॥

स्वाराज्य-साम्राज्य-विभूतिरेषा भवत्कृपा-श्रीमहितप्रसादात् ।  
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने नमो नमस्तेस्तु पुनर्नमोस्तु ॥५१८॥

महास्वप्ने मायाकृतजनिजराभृत्युगहने  
भ्रमन्त क्लिश्यन्त बहुलतरतापैरनुकलम् ।  
अहकारव्याघ्रव्यथितमिममत्यन्तकृपया  
प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ॥५१९॥

नमस्तस्मै सदेकस्मै नमश्चिन्महसे मुहु ।  
यदेतद्विज्वरूपेण राजते गुरुराज ते ॥५२०॥

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्य  
समधिगतात्मसुख प्रबुद्धतत्त्वम् ।  
प्रमुदितहृदय स देशिकेन्द्र  
पुनरिदमाह वचः पर महात्मा ॥५२१॥

ब्रह्माप्रत्ययसतति जंगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वत  
पर्याख्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।  
रूपादन्यदवेक्षितु किमभितश्चक्षुष्मता विद्यते  
तद्ब्रह्मविदः सत किमपर बुद्धेर्विहारास्पदम् ॥५२२॥

कस्ता परानन्दरसानुभूति-  
मुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।  
चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने  
चित्रेन्दुमालोकयितु क इच्छेत् ॥५२३॥

असत्पदार्थानुभवे न किञ्चि-  
न्नह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः ।  
तदद्वयानन्दरसानुभूत्या  
तृप्तः सुख तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥५२४॥

श्रीविवेकचूडामणिः सव्याख्यः

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।  
स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ॥ ५२५ ॥

अखण्डब्रह्मात्मनि निर्विकल्पे  
विकल्पनं व्योम्नि पुरः प्रकल्पनम् ।  
तदद्वयानन्दमयात्मना सदा  
शान्तिं परामेत्य भजस्व मौनम् ॥ ५२६ ॥

तूष्णीमवस्था परमोपशान्ति-  
र्बुद्धेरसत्कल्पविकल्पहेतोः ।  
ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो  
यथाद्वयानन्दसुखं निरन्तरम् ॥ ५२७ ॥

नास्ति निर्वासनान्मोनात्पर सुखकृदुत्तमम् ।  
विज्ञातात्मस्यरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥ ५२८ ॥

गच्छंस्तिष्ठन्नपविशन् शयानो वान्ययापि वा ।  
ययैच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥ ५२९ ॥

न देशकालासनविव्यमादि-  
लक्ष्याद्यपेक्षा प्रतिबद्धवृत्तेः ।  
संसिद्धतात्त्वस्य महात्मनोऽस्ति  
स्ववेदने का नियमाद्यवस्था ॥ ५३० ॥

षटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः कोन्वपेक्ष्यते ।  
विना प्रमाणमुद्भूतं यस्मिन्सति पदार्थपीः ॥ ५३१ ॥

अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भागते ।  
न देशं नापि वा कालं न शुद्धिं याप्स्येक्षते ॥ ५३२ ॥

देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् ।  
तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ॥ ५३३ ॥

भानुनेव जगत्सर्वं भासते यस्य तेजसा ।  
अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ॥ ५३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि ।  
येनार्थवन्ति त किं नु विज्ञातार प्रकाशयेत् ॥ ५३५ ॥

एष स्वयं ज्योतिरनन्तशक्ति-  
रात्माप्रमेयः सकलानुभूतिः ।  
यमेव विज्ञाय विगुक्तबन्ध-  
जयत्यय ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ॥ ५३६ ॥

न लिङ्गते नो विषयैः प्रमोदते  
न सज्जते नापि विरज्यते च ।  
स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं  
निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥ ५३७ ॥

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।  
तथैव विद्वान्रमते निर्ममो निरहं मुखी ॥ ५३८ ॥

चिन्ताशून्यमदेन्यभैक्षमशनं पानं सरिद्धारिषु  
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीनिद्रा श्मशाने वने ।  
वस्त्रे कालनञोपणादिरहितं दिग्वास्तु शय्यामही  
संचारो निगमान्तवीथिषु विदा क्रीडा परेऽब्रह्मणि ॥ ५३९ ॥

विमानमालम्ब्य शरीरमेतत्  
भुनक्त्यशेषान्विषयानुपस्थितान् ।  
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता  
योऽव्यवतलिङ्गोऽननुपक्तबाह्यः ॥ ५४० ॥

श्रीविवेकचूडामणि. सव्याख्याः

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा  
 त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः ।  
 उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा  
 पिशाचवद्वापि चरत्यवन्ध्याम् ॥ ५४१ ॥  
 कामाक्षी कामरूपी सश्चरत्येकचरो मुनिः ।  
 स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ॥ ५४२ ॥  
 क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराजविभवः ।  
 क्वचिद्भ्रान्तः शौम्यः क्वचिदजगराचारः कलितः ।  
 क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-  
 श्चरत्येव प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥ ५४३ ॥  
 निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ।  
 नित्यतृप्तोऽप्यभुजानोऽप्यसमः समदर्शनः ॥ ५४४ ॥  
 अपि कुर्वन्कुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।  
 शरीर्यप्यशरीर्येषपरिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ॥ ५४५ ॥  
 अशरिरः सदा सन्तमिमः ब्रह्मविदः क्वचित् ।  
 प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ॥ ५४६ ॥  
 स्थूलादिसवन्धवतोऽभिमानिनः  
 मुक्तः च दुःखचः शुभाशुभे च ।  
 विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुने  
 वृत्तः शुभः वाप्यशुभः फलः वा ॥ ५४७ ॥  
 तममाः अस्तबद्धानादग्रन्तोऽपि रविर्जनैः ।  
 गस्तः इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा यन्मुलक्षणम् ॥ ५४८ ॥  
 तद्गद्गदादिबन्धोभ्यो विमुक्तः ब्रह्मवित्तमम् ।  
 पश्यन्ति देहिबन्धूनाः नरीगणानन्दनान् ॥ ५४९ ॥

अहिर्निर्वयनीवाज्य मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ।  
 इतस्ततश्चात्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ॥ ५५० ॥  
 स्नोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ।  
 देवेन नीयते देहो यथाकालोपभुक्तिषु ॥ ५५१ ॥

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभि  
 ससारिवच्चरति भुवि तपु मुक्तदेह ।  
 सिद्ध स्वयं वसति साक्षिवदन तूष्णी  
 चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्य ॥ ५५२ ॥

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुङ्क्त एष  
 नैवापयुङ्क्त उपदर्शनलक्षणस्य ।  
 नैव क्रियाफलमपीपदपेक्षते स  
 स्यान्नन्दसान्द्ररसपानसुमत्तचित्त ॥ ५५३ ॥

लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना ।  
 शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्माविदुत्तम ॥ ५५४ ॥

जीवन्नेव सदा मुक्तं कृतार्थो ब्रह्मवित्तम ।  
 उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सद्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ॥ ५५५ ॥  
 शैलूपो वेपसद्भावाभावयोश्च यथा गुमान् ।  
 तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ सदा ब्रह्मैव नापर ॥ ५५६ ॥

यत्र नवापि विशीर्णं पर्णमिव तरोर्वपु पतनात् ।  
 ब्रह्मीभूतस्य यतो प्रागेव हि तन्निवदग्निना दग्धम् ॥ ५५७ ॥  
 सदात्मनि ब्रह्माणि तिष्ठतो मुने  
 पूर्णाद्वियानन्दमयात्मना सदा ।  
 न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा  
 त्वडमासविट्पिण्डविसर्जनाय ॥ ५५८ ॥

श्रीविवेकचूडार्यणिः सव्याख्यः

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।  
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥ ५५९ ॥

कुल्यायामथ नद्यां वा शिवक्षेत्रेऽपि चत्वरे ।  
पर्णं पतति चेत्तेन तरो किं नु शुभाशुभम् ॥ ५६० ॥

पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशव-  
देहेन्द्रियप्राणधियां विनाशः ।  
नैवात्मनः स्वस्य सदात्मकस्या-  
नन्दाकृते दृग्भवदास्त एषः ॥ ५६१ ॥

प्रज्ञानघनइत्यात्मलक्षणं सत्यसूचकम् ।  
अनूद्योपाधिकस्यैव कथयन्ति विनाशनम् ॥ ५६२ ॥  
अविनाशी वा अरेयमात्मेति श्रुतिरात्मनः ।  
प्रब्रवीत्यविनाशित्वं विनश्यत्सु विकारिषु ॥ ५६३ ॥

पापाणवृक्षतृणधान्यकटाम्बराद्या  
दग्धा भवन्ति हि मृदेव यथा तथैव ।  
देहेन्द्रियासुमनआदिसमस्तदृश्यं  
ज्ञानाग्निदग्धमुपयाति परात्मभावम् ॥ ५६४ ॥

विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि ।  
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्माणि प्रविलीयते ॥ ५६५ ॥  
घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम् ।  
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ५६६ ॥

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।  
संयुक्तमेकतां याति तयात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥ ५६७ ॥



एव विदेहयौबल्य सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।  
 ब्रह्मभावं प्रपद्येप यतिर्नावर्तते पुनः ॥ ५६८ ॥  
 सदात्मैकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।  
 अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥ ५६९ ॥  
 मायावलृप्ता बन्धमोक्षौ न स्त स्वात्मनि वस्तुतः ।  
 यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥ ५७० ॥  
 आवृते सदसत्त्वाभ्या वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ।  
 नावृतिर्ब्रह्मण काचिदन्याभावादनावृतम् ।  
 यद्यस्त्यद्वैतहानि स्याद्द्वैत नो सहते श्रुतिः ॥ ५७१ ॥  
 बन्धश्च मोक्षश्च मृषैव मूढा  
 बुद्धेर्गुण वस्तुनि कल्पयन्ति ।  
 दृगावृति मेघकृता यथा रवौ  
 यतोऽद्वयासङ्गचिदेकमक्षरम् ॥ ५७२ ॥  
 अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।  
 बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुन ॥ ५७३ ॥  
 अतस्ती मायया क्लृप्ता बन्धमोक्षौ न चात्मनि ।  
 निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरजने ।  
 अद्वितीये परेतत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥ ५७४ ॥  
 न निरोधो न चोत्पत्ति न बद्धो न च राधकः ।  
 न मुमुक्षु नैव मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ५७५ ॥  
 सकलनिगमचूडास्वान्तसिद्धान्तगुह्य  
 परमिदमतिगुह्यं दर्शितं ते मयाद्य ।  
 अपगतकलिदोषः कामनिर्मुक्तबुद्धि-  
 स्तदतुलमसकृत्त्वं भावयेद मुमुक्षुः ॥ ५७६ ॥

धीविवेकचूडामणि सव्याख्य

इति श्रुत्वा गुरोर्वक्त्य प्रश्रयेण कृतानति ।  
 स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धन ॥ ५७७ ॥  
 गुरुरेव सदानन्दसिन्धौ निर्मज्जमानस ।  
 पावयन्वसुधा सर्वा विचचार निरन्तर ॥ ५७८ ॥  
 इत्याचार्यस्य शिष्यस्य सवादेनात्मलक्षणम् ।  
 निरूपित मुमुक्षूणा सुखबोधोपपत्तये ॥ ५७९ ॥  
 हितमिदमुपदेशमाद्रियन्ता  
 विहितनिरस्तसमस्तचित्तदोषा ।  
 भवसुखविमुखा प्रशान्तचित्ता  
 श्रुतिरसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥ ५८० ॥  
 ससाराध्वनि तापभानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्या-  
 खिन्नाना जलकाडक्षया मरुभुवि भ्रान्त्या परिभ्राम्यताम् ।  
 अत्यासन्नसुधाम्बुधि सुखकर ब्रह्मद्वय दर्शय-  
 न्त्येषा शकरभारती विजयते निर्वाणसदायिनी ॥ ५८१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य  
 श्रीमच्छंकरभगवत् कृतौ विवेकचूडामणि  
 शृंगगिरिजगद्गुरुश्रीचन्द्रदाखरभारतीस्वाम्यनुगृहीतव्याख्यासनाय  
 समाप्त ॥

## श्लोकानुक्रमणिका

|                        |     |                         |     |
|------------------------|-----|-------------------------|-----|
| अकर्ताहमभोवनाहम्       | २५१ | अत्यन्तवामुकस्यापि      | २२६ |
| अकृत्वाद्दृश्यविलयम्   | ४२  | अत्यन्तवैराग्यवत्       | २०३ |
| अकृत्वा क्षामुसहारम्   | ४३  | अत्रात्मत्व दृढीकुर्वन् | २०७ |
| अक्षण्डनित्याद्वय      | ९४  | अत्रानात्मन्यहमिति      | ९२  |
| अक्षण्डबोधार्हमनि      | २६१ | अत्रात्मबुद्धि रयज      | १०७ |
| अक्षण्डानन्दमात्मानम्  | १२४ | अत्राभिमानादह           | ६१  |
| अक्षरममरमस्ता-         | २२० | अत्रैव सत्त्वालानि      | ८९  |
| अज्ञो नित्य इति द्यूते | २४२ | अत्रैव सत्त्वद्यानि     | ८५  |
| अज्ञानमालस्यजडत्व      | ७७  | अथ ते सप्रवक्ष्यामि     | १४९ |
| अज्ञानमूलोऽयमनात्म     | ९९  | अथ ते सप्रवक्ष्यामि     | ११  |
| अज्ञान योपात्तरमात्मन  | १३  | अथात आदेश इति           | २४३ |
| अज्ञानसपदव्यत्य        | ४२  | अधिकारिणमागाले          | ११७ |
| अज्ञानहृदयप्रण्यनि-    | १९४ | अप्यस्तस्य कुत सत्त्वं  | २१९ |
| अज्ञानहृदयप्रण्यवि     | २२७ | अप्यासायोपात्तुरपस्य    | २०६ |
| अत पर ब्रह्म सद        | १४६ | अनन्यत्वमपिद्यानात्     | १६३ |
| अत पृथक् नास्ति        | १४५ | अनामयित्तन त्यक्त्वा    | १२१ |
| अत प्रमादात्त परो      | १८३ | अनाम वागना जाले         | १२३ |
| अत प्राहुमनोऽविद्यो    | ११७ | अनादिबालोऽनमर्ह         | १२७ |
| अत समाधत्स्व यते       | २०० | अनादिबालो विषय          | १२७ |
| आत्मा मायया कृत्वा     | २९६ | अनिष्क्यस्वरूपं यत्     | २४५ |
| अर्थात्मन्यद्विबुद्धि  | ९३  | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | ५५  |
| अर्थात्तानुगन्धानम्    | २१२ | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | १२० |
| अनीच मूढ परमा          | १९७ | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | १८  |
| अनीच माय परमा          | १११ | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | १६२ |
| अनीचिमाय रयज           | १७० | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | २०९ |
| अनीच विचार             | १३  | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | १८७ |
| अनीच विमुक्तो          | ९   | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | २०२ |
| अनीच जीवमर्थात्        | १२६ | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | १७  |
|                        |     | अनुक्षणं यन्परिहृत्य    | १६५ |

अपि कुर्वन्कुर्वाण  
 अभानना वा विप  
 जयतत्वरप नागराति  
 अथ स्वभाव  
 अयमात्मा नित्य  
 अपोऽग्नियोगादिव  
 अयस्य निश्चयो  
 अधिकारमुदामोम  
 अविज्ञाते गरे ताये  
 अविद्यायामफर्मादि  
 अयिनासी वा अरे  
 अमयननाम्नी परमेदा  
 अव्यक्तमेतन्निगुर्ज  
 अव्यक्तादि स्थूल  
 अरापीर सदा मन  
 असङ्गचिद्रूपममृम्  
 लसङ्गोऽहमगङ्गोहम्  
 असत्पत्तो विफलो  
 असत्पदापानुभवे  
 असनिवृत्तौ तु  
 अनौ स्वमाशिवो  
 अन्तर्भेदनापास्त  
 अस्ति वदितस्वयम्  
 अस्तीति प्रत्ययोमरन  
 अस्त्युपायो गहान्  
 अस्त्युपमित्वाद्यम्  
 अहंतेमस्मिन्नहमिति  
 अहंकार स विज्ञेय  
 अहंकारग्रहणमुक्त्वा  
 अहंनारादि देहान्तान्  
 अहंनारादि देहान्ता  
 अहं पदार्थस्त्वहं  
 अहं बुद्धयेव मोहिन्या  
 अहं ह्यसि विज्ञानान्

२६३ अहमावस्य देहे  
 ७७ अहं ममेति प्रथित  
 ५ अहं ममेति यो भावो  
 २७ अहमोज्ज्वलन्तनित्य  
 २६१ अहिनिर्व्वयनीवाय  
 १९२ अह्यमनुपादेय  
 १० अह्यमनुपादेय  
 २५६ आकाशबलत्वविद्व  
 ४१ आकाशवर्त्मनस  
 ३८ आत्मनाम्नविवेक  
 २६५ आत्मावत्त्वेन हि  
 ७१ आपो नित्यानित्य  
 ८३ आनन्दप्रतिबिम्ब  
 २५९ आनन्दमयकोमलस्य  
 २६३ आपातवैराग्यवर्णो  
 ११६ आनन्दोक्ति सनन  
 २५१ आह्वयवैराग्यो  
 २१६ आरोपित नाशयद्वाय  
 २६० आवरणस्य निवृत्ति  
 १३१ आयुते गदमत्त्वाभ्या  
 १३६ आमा छिन्दि विप  
 १५६ इत कोन्पनि  
 ८६ इति गुरुवचनाच्छ्रु  
 २६६ इति कामवलोक्ष्य  
 ३१ इति श्रुत्वा गुरोर्वाच  
 १५७ इत्य विनिश्चयद  
 १७३ इत्यावाधान निष्पन्न  
 ६९ इव गरीर शृणु गुरुम  
 १७१ छटागिष्टार्थगप्रानो  
 २० ईश्वरो नम्रुत्त्वज्ञा  
 ८७ लक्ष्मणमिममात्मानि  
 १६९ उच्छ्रान्तमिदं वाय  
 १९० उद्धोऽनात्मना  
 २३८ उपमीदेद्गुणं प्राज्ञ

१६६  
 ४८  
 १६०  
 १७३  
 २६४  
 १४६  
 २४५  
 २५३  
 २११  
 १०२  
 ७०  
 १५  
 १३२  
 १३३  
 ५३  
 ४३  
 १८९  
 २५३  
 १९२  
 २६६  
 २०५  
 ५  
 २४९  
 २६०  
 २६७  
 १९४  
 २६७  
 ६९  
 २३३  
 १४४  
 १५८  
 ५८  
 ७  
 २३

जलेवापि स्थले वापि  
जहि मलगयकोषे  
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु  
जातिनीतिकुल्योत्र  
जीवतो यस्य वैषम्य  
जीवत्व न ततोऽप्यतु  
जीवमेव सदा मुक्त्वा  
जीवेगोभयससार  
ज्ञाता मनोहृति  
ज्ञातुज्ञानभेदधून्य  
ज्ञाते वस्तुन्यपि बल  
ज्ञात्वा स्व प्रत्यगात्मानं  
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य  
ज्ञानन्द्रियाणि च  
ज्ञानोदयात्पुण्यारब्ध  
तच्छैबालापनये  
सदृष्टिता बोधयन्ति  
सत श्रुतिरत्नमनन  
सत स्वरूपविभ्रगो  
सत आत्मा सदानन्दो  
सतस्तु तौ लक्षणया  
सतो विकारा प्रकृते  
सतोऽहमादीर्घनि  
सत्त्व पदाम्बामनि  
सर्वमस्यादिवाक्योत्प  
तत्माक्षिप भवेत्तत्ता  
तथा वदन्ता शरणा  
सदात्मानाग्रमनो सम्प  
तदत्परं ब्रह्मणि  
तद्ब्रह्मादियन्प्रमो  
तत्रिदृत्त्या मुने सम्यक्  
सम्पन्न धोवन कार्यम्  
तमसा वस्त्रवद्भूनाद्  
तमस्तम कार्यं

२५८ तमाराध्य गुरु  
२१३ तमो ह्याभ्या रज  
१३६ तयो विरोधोऽप्रमुपाधि  
१५४ तरङ्गध्वन्यग्नवद्वुद  
१८३ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन  
१२९ तस्मादहंकारमिम  
२६४ तस्मान्मन नारणमस्य  
२३४ तान्या प्रवर्धमाना सा  
८९ तिरोभूते स्यात्तन्मयप्रल  
१४६ तूष्णीमवस्था पर  
१६० तेजमीव तमो यत्र  
१६१ त्वजभिमान कुल  
२४३ त्वद्भासमेदोऽस्य  
११० त्वद्भासस्यभिरत्तापु  
२३९ स्वमहमिदमितीय  
१०१ विगम्यरो वापि च  
२४८ दुर्लभं त्रयमेवै  
४६ दुर्बोत्तममार  
१८२ दुःख प्रतीत प्रवि  
७० दुःखस्याग्रहण  
१५० दृष्टुं श्रेष्ठबुद्धौ  
१९३ देवदत्तोऽहमित्वे  
१७५ देहं पिय चित्प्रपिबिम्ब  
१४७ देहनद्धर्मतत्पमं  
१६६ देहाग्रेन्द्रियमनो  
१३६ देहस्य मोक्षो नो  
२९ देहात्मपीरेव  
१३० देहात्मना संस्थित  
२४२ देहादिनिष्ठाप्यम  
२६३ देहादिब्रह्मापर्पन्ते  
२०२ देहादिसम्पन्नितमो  
११८ देहादिसर्वावयवो  
२६३ देहन्द्रियप्राणमनो  
१८० देहन्द्रियप्राण

२४  
१६४  
१४८  
२०९  
४४  
१७४  
११४  
१७८  
९५  
२६१  
२१७  
१७१  
१०६  
५७  
१९४  
२६३  
५  
२६  
१८०  
१८८  
२२६  
२६२  
१३८  
१०५  
२०१  
२६५  
१०८  
१७६  
१२२  
१६  
१८७  
११४  
८४  
२०७



पाणिपादादिमान्  
 पापाणवृक्षगुण  
 पुण्यानि पापानि  
 पूर्वं जनैरपि मृते  
 प्रवृत्तिविकृतिभिन्न  
 प्रकृतिविकृतिमूल्य  
 प्रज्ञानयन इत्यात्म  
 प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि  
 प्रतीतिर्बोव जगत्तो  
 प्रत्यमेकसर पूर्ण  
 प्रबोध स्वप्नवत्संभम्  
 प्रमादो ब्रह्मनिष्ठाया  
 प्राचीनवासगावेगात्  
 प्राणापानव्यामोहान्  
 प्रारब्ध पुष्यति वपु  
 प्रारब्ध बलवत्तर  
 प्रारब्ध मिष्यति तदा  
 प्रारब्धकर्मपरित्यक्त  
 प्रारब्धसूत्रप्रवृत्ति  
 वन्द्यश्च मोक्षश्च  
 द्वयो मोक्षश्च तृप्तिश्च  
 बहिस्तु विषयं मज्ज  
 बाह्याभिनिधि परि  
 बाह्य निरद्वे मगल  
 बाह्यान्निद्रा स्थूल  
 बीज संसृतिभूमिगत्स  
 बुद्धिपूर्वोन्मिष्य  
 बुद्धिबिन्दु विलिता  
 बुद्धिनिद्राणि श्रवण  
 भूदो गुहाया सदस  
 ब्रह्मभूतपरा पान्तो  
 ब्रह्मप्रत्ययमर्तवि  
 ब्रह्मभूतस्तुममूल्य  
 ब्रह्माकारतया

१०५ ब्रह्मात्मनो बोधितयो २३०  
 २६५ ब्रह्मादिस्तवपर्यन्ता २०८  
 २५५ ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलताञ्जलवार १७२  
 १०४ ब्रह्मानन्दरसानु २८  
 ९१ ब्रह्मानन्दरसास्वाद २३३  
 २२० ब्रह्माभित्तत्वविज्ञान १३९  
 २६५ ब्रह्मवेद पितृवभित्तयेव १४३  
 ७६ भवानपीव परतात्वया २४७  
 १६६ भानुभूभासजनिनाञ्च ९६  
 २४५ भुक्तने पिचिवास्वपि १२१  
 १२७ भ्रमेणापन्यया वास्तु १२४  
 १८१ भ्रान्तस्य वद्यदभ्रमत १४६  
 २३६ भ्रान्ति बिना त्वमङ्गस्य १२५  
 ६२ भ्रान्तिवर्लित जगत् १५५  
 १६४ मञ्जरास्थिमेष पल ४८  
 २४० मन प्रगूते विपमानज्ञानान् ११६  
 २४३ मनो नाम महात्माघ्नो ११५  
 २६४ मनोमयो नापि भवेत् ११९  
 २२३ मन्दमध्यमरूपापि २१  
 २६६ मय्यखण्ड-मुखाभ्योषो २५३  
 २४८ मस्तकग्यस्तभारावे ३७  
 २०२ महाभोहयाह ९५  
 १८५ महास्वप्ने मायावृत २६०  
 १८६ मातापित्रोर्मलोद्भूत १६७  
 ५८ मा गैष्ट विद्वन् ३१  
 ९८ मायानलुप्तो बन्धमोक्षो २६६  
 ११९ मायामात्रमिद द्वैत २१९  
 २५० माया मायानाथ ८५  
 ६१ मिथ्यात्वेन निपिण्डेषु १३५  
 १५९ मिथस्य सत्त्वग्न्य ७९  
 २३ मुञ्जदिपीनामिव १०२  
 २६० मूलार्थं मवल वटादि १५३  
 १४० मूलार्थमूत्रोर्ध्व मूदो १४१  
 २२९ मेधावी पुत्स्यो १२

## श्लोकानुक्रमिका

मोक्षकारणसामग्रया  
 मोक्षस्य काक्षा यदि  
 मोक्षस्य हेतु प्रथमो  
 मोक्षकसंख्या विषयपु  
 मोह जहि महान्मुक्तु  
 मोह एव महान्मुक्तु  
 म पश्यति स्वय  
 म एषु मूढा विषयेषु  
 मञ्जुकास्त्यगपर  
 यतिरसदगुतधि  
 यत्कटाक्षसति  
 यत्कृत भ्रान्तिवेलाया  
 यत्कृत स्वप्नवेलाया  
 यत्पर सकलबाणोच्चर  
 यत्र वशाधि विनीर्ण  
 यत्र प्रविष्टा विषया  
 यत्र भ्रान्त्या कल्पिता  
 यत्रैष जगदाश्रयो  
 यत्सत्यभूत निजरूप  
 यथा प्रकृष्ट धौबाल  
 यथा यथा प्रायगम  
 यथा सुवर्ण गुटपाव  
 यदा नदा यापि विपरिवर्तन  
 यदिद सगल विद्व  
 यदि सत्य भवेद्विद्व  
 यदोद्दिष्ट सवेदानी  
 यदुत्तरोत्तरमात्र  
 यद्विनाति सदनइषा  
 यत्कृतमात्र इत  
 यत्किमस्तानेष  
 यत्स ननिषिदापण  
 यत्स रित्यामनेषु  
 यावत्कालावस्थ  
 यावद्भ्रातृतावदेव

|     |                        |     |
|-----|------------------------|-----|
| २२  | यावद्वा किंचिद्विष     | १७३ |
| ५५  | येन विद्वद्विष व्याप्त | ८७  |
| ४६  | योवरय प्रथम द्वार      | २०० |
| ११८ | योज्य विशावमय          | १२२ |
| ५७  | योऽप्यमात्मास्वय       | १३४ |
| ५६  | यो वा पुरेपोऽहमिति     | १७२ |
| ८६  | यो विजानाति सकल        | ८६  |
| ५०  | यत्केयपा वर्मणि        | २५७ |
| १५८ | यत्कयच्युत येनदि       | १८२ |
| १८५ | यत्कयालक्षयमतिम्       | २६४ |
| २५१ | यत्कये ब्रह्मणि मानस   | २०५ |
| २२७ | यत्कया कथ क्षिप्ररक्षण | ५   |
| २२८ | लीनधीरपि जायति         | २३१ |
| १५५ | लोकवाराणया जन्तो       | १६१ |
| २६४ | लोकानुवर्तन त्यक्त्वा  | १६१ |
| २३५ | वचनस्य किम् विद्यते    | २१२ |
| २०८ | वर्तमानेऽपि देहैस्मिन् | ३७  |
| १६८ | वस्तुस्वरूप स्फुट      | ६२  |
| १६८ | वागादिपञ्च धवणादि      | ४०  |
| १८२ | वाय्वैतरी शब्दगरी      | २०१ |
| २६३ | वायु नित्यव्याप्तमिति  | २५० |
| १९८ | वाता वस्तुधरावरमेव     | ११३ |
| १८४ | वायुनामीयते मेघ        | २२८ |
| १४१ | वायुनामुरयो भोष्ये     | १७७ |
| १४५ | वायुनामुरित्तिन वायु   | १७० |
| ४८  | विपरिणतो गर्भ          | १९० |
| २२९ | विद्याप्राप्तिविजयो    | ७४  |
| १५७ | विद्याप्राप्तयो रत्न   | २३४ |
| ४५  | विद्याप्राप्तयो        | २३६ |
| २५९ | विद्याप्राप्तयो        | २२७ |
| ८७  | विद्याप्राप्तयो        | २९  |
| २३१ | विद्याप्राप्तयो        | १२९ |
| १०१ | विद्याप्राप्तयो        | २६२ |
| १२६ | विद्याप्राप्तयो        |     |



|                                  |     |                              |     |
|----------------------------------|-----|------------------------------|-----|
| विलक्षण यथा ध्वान्त              | २६५ | श्रद्धागविष्ण्वान            | ३२  |
| विवेकवैराग्यगुणातिरेकान्दुद्धत्व | २६५ | श्रुतिप्रमाणैकमते            | १०० |
| विवेकिनो विरक्तस्य               | १३  | श्रुतिस्मृतिन्याय            | १८४ |
| विशुद्धमत करण                    | २०७ | श्रुते सतगुण विद्या          | १९९ |
| विशुद्धगत्वस्य गुणा              | ८२  | श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूया | १६५ |
| विशोक ज्ञान दण्डो                | १३९ | पञ्चभिरुक्तिभिरयौगि          | १५५ |
| विषमविषयमाय                      | ५४  | मयस्य सवकपर्याय              | ८   |
| विषयाख्यग्रहो यत्र               | ५३  | मल्लस्य विमानतया             | १५३ |
| विषयाणामानुक्त्य                 | ६९  | मगारवारानुहमोन               | १६२ |
| विषयाभिमुख दृष्टवा               | १८१ | ससारत्रयविविक्तस्यै          | १७८ |
| विषयाणामहापापाद्यो               | ५२  | सगाराख्यनिताप                | २६७ |
| विषयज्वाविच्येत                  | १८२ | समिद्धस्य फल                 | २२४ |
| वीणाया रूपसौन्दर्य               | ४०  | सकलनिष्कमचुडा                | २६६ |
| वैदगास्त्रपुराणानि               | २६२ | सततविमर्शबोधानन्द            | २२२ |
| वेदा तमिद्धान्त                  | २४८ | मति मवां नरो                 | १९६ |
| वेदान्तावविचारेण                 | ३१  | सत्त्व विशुद्ध जल            | ७८  |
| वराम्यञ्च मूमुलुक्चम             | २१  | मय गानगनन्त                  | १४० |
| वैराग्यबौद्धी पुरपस्य            | २०३ | मय यदि स्यान्त्रय            | १४३ |
| वरायस्य फल बोध                   | २२५ | सयमुच्य त्वया विद्मन्        | ११५ |
| वरागमात्र पर मुखस्य              | २२५ | मयाभिमतधनरतो                 | १८४ |
| व्याघ्रपुच्छा विनिमुक्त्वा       | २०४ | मन्मथ स्वतः सिद्ध            | २४६ |
| गदवाल महारम्य                    | २३९ | मन्मथ स्वतः सिद्ध            | २६४ |
| गच्छादिभि पञ्चभिरिरेव            | ४१  | सदा मनि ब्रह्मणि             | २६६ |
| गमादिपञ्च                        | ५१  | गदा मैकवचिना                 | १४० |
| गतीरपोषणार्थं                    | १५  | मदिय परमादित                 | १५२ |
| गल्परागिमानलज्जो                 | ५६  | स देवदत्तोऽप्यमिताह          | २१० |
| गवाक्षार यावद्भजति               | १०६ | सदेव सव जगदवगत               | १७४ |
| गान्तरमारवञ्च                    | २१४ | सदेवरूपस्य विदामना           | २४५ |
| गान्ता महाभो                     | २३२ | मदन चिद्धन निय               | १४२ |
| गान्ता दान्तर परमुपरत            | २७  | सन्त्रहनाय सन्त्र            | १८० |
| गान्तरस्य गुरवाकस्य              | १९५ | सद्गमनार्थनिविदुग्ध          | २५९ |
| गुह्याद्व्यग्रह                  | १८  | गन्तु विचारा प्रहने          | १७१ |
| श्रमवावहिनो                      | ७३  | सन्त्रय प्रतियया             | ७२  |
| सत्त्वो वेपथुवाय                 | ४५  | सन्त्रायमधायु                | १९९ |
|                                  | २६४ | समाधिनान्त                   |     |

## शब्दानुवर्णिका

|                         |     |                     |     |
|-------------------------|-----|---------------------|-----|
| ममाधिना माधु            | २४७ | मुमाद्यनुमयो यावत्  | २३७ |
| ममाहितान्त वरण          | २२१ | मुपुष्पिकाले मनसि   | ११३ |
| मनाहिताया गति           | २२५ | मोघ निर्यानित्य     | १५  |
| मनाहिता ये प्रविलाप्य   | १९५ | रिगतप्रज्ञो यतिरय   | २३० |
| समूलह तोजपि             | १७५ | स्वल्पस्य समवजरा    | ६०  |
| समूलमेतत्परिदह्य        | २२३ | स्थूलादिमावा मयि    | २५३ |
| सन्धवृष्ट तवया          | १२४ | स्थूलादिमव्यवता     | २६३ |
| सन्धगास्वापन            | १९  | स्रोतमा नीयते दाग   | २६४ |
| सन्धग्विचारत            | १०  | स्व बोधमान परिशुद्ध | १५८ |
| सन्धग्विवेक स्फुट       | १९२ | स्वप्नप्रमूढो गृजति | ११२ |
| गवन सर्वत मव            | १७९ | स्वप्नो भवत्यस्य    | ६४  |
| सर्वप्रचारप्रमिति       | ८३  | स्वप्नो भवत्यस्य    | १६७ |
| सर्ववेदान्त             | १   | स्वप्ननाशमधिपदान    | २३८ |
| सर्वव्यापृतिकरण         | ६७  | स्वप्ननाशमधिपदान    | २६१ |
| सर्वात्मकौज्ञ सर्वौज्ञ  | २५९ | स्वप्ननाशमधिपदान    | १२३ |
| सर्वात्ममा दुष्यमिद     | १६९ | स्वप्ननाशमधिपदान    | २०९ |
| सर्वात्मना बन्ध         | १८८ | स्वप्ननाशमधिपदान    | १७  |
| सर्वापर सर्ववस्तु       | २५९ | स्वप्ननाशमधिपदान    | १२५ |
| सर्वे येनानुभूयन्ते     | १३५ | स्वप्ननाशमधिपदान    | २४७ |
| सर्वेषु भूतेष्वहमेव     | २५२ | स्वप्ननाशमधिपदान    | २२  |
| सर्वोपाधिविनिर्गुपन     | २२२ | स्वप्ननाशमधिपदान    | २१५ |
| सर्वोऽपि ब्राह्म सत्ता  | ५९  | स्वप्ननाशमधिपदान    | १६४ |
| मह्य सर्वदु खानाम्      | १८  | स्वप्ननाशमधिपदान    | २४८ |
| माधनात्यज चन्वारि       | १३  | स्वप्ननाशमधिपदान    | २५  |
| माधुनि पूज्यामनैःस्मिन् | २३५ | स्वप्ननाशमधिपदान    | २६० |
| मात्सर्य गिद्वे         | १८९ | स्वप्ननाशमधिपदान    | २६७ |

॥ इति श्रीविश्वेश्वरानुवर्णिका समाप्ता ॥